प्रगतिशील लेखक संघ की
स्वर्णजयन्ती के अवसर पर

हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना

सैद्धान्तिक

संपादन
श्याम कश्यप
डॉ० कमला प्रसाद
डॉ० खगेन्द्र ठाकुर

पहला संस्करण
1986

मूल्य
80 रुपये

आवरण
चंचल

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन,
2/38 अंसारी रोड, दरियागंज,
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
शान प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-32

प्राक्कथन

मानव-समाज को उत्पीड़ित करने वाले अन्तर्विरोध आज पहले से अधिक उग्र हुए हैं, भले ही आणविक युद्ध के खतरे के रूप में हों, जगह-जगह फ़ौजी तानाशाही शासन के रूप में हों, साम्राज्यवादी देशों द्वारा पिछड़े हुए देशों के शोषण के रूप में हों अथवा रंग-भेद, जातिवाद आदि के रूप में। ये सामान्य जीवन में कटुता, घृणा, भय, आतंक व्याप्त कर देते हैं और प्रगतिशील लेखन की आवाज़ इसी उत्पीड़न, घुटन और असहाय वेदना में से निकली हुई आवाज़ है, भले ही वह फ़िलिस्तीन से उठे, दक्षिण अफ्रीका से, भारत से अथवा दुनिया के किसी अन्य भाग से। यह लहर और भी शिद्दत के साथ जनमानस को आलोड़ित कर रही है।

यह मानव-नियति का सवाल है इसलिए साहित्य से सीधा जुड़ा हुआ है। अनादि काल से कलमकार इस नियति का सामना करता आ रहा है और साहित्य व्यक्तिगत संबंधों के क्षेत्र से निकलकर विशाल जनसमुदाय के क्षेत्र में आ गया है। यह निश्चय ही हमारी मानवतावादी साहित्यिक परम्परा का अगला चरण है और साहित्य में एक नया आयाम जोड़ता है। भक्तिकाल में जहाँ नैतिकता और धर्म, साहित्य के लिए अपने से बाहर निकलकर वृहद जनमानस और मानवीय नियति से जुड़ने की प्रेरक शक्ति बने हुए थे, आज उन्हीं का स्थान समाज की आर्थिक-सामाजिक विषमताओं से ग्रस्त, एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विराट आदर्श ने ले लिया है, जो विश्वव्यापी नयी चेतना और ध्येय से उत्प्रेरित है। हमारे यहाँ जिस प्रकार भक्ति-आन्दोलन ने नये मानव-मूल्य प्रस्तुत करते हुए नये मानवीय सम्बन्धों पर बल देते हुए उत्कृष्ट साहित्य की रचना की, उसी प्रकार इस महान ध्येय से प्रेरणा पाकर हमारे लेखकों ने उत्कृष्ट प्रगतिशील साहित्य की रचना की है।

जब कभी हम किसी आंदोलन का पुनर्मूल्यांकन करते हैं तो निश्चय ही उसकी उपलब्धियाँ हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं। यह बात स्पष्ट है कि इस आंदोलन से जुड़ जाने के पश्चात प्रत्येक लेखक उत्कृष्ट साहित्यकार नहीं हो जाता, चूँकि व्यक्ति का संवेदन, कल्पना-शक्ति और अनुभव का दायरा आदि घटक कलात्मक धरातल पर उसकी अभिव्यक्ति को सँवारते हैं। यही घटक न्यूनाधिक रचना की उत्कृष्टता को रेखांकित करते हैं। महान लेखकों ने जहाँ अपने देश-काल के साहित्य को अपनी रचनाओं के माध्यम से समृद्ध बनाया है और आज भी बना रहे हैं, वहीं अन्य लेखकों ने नये भावबोध और चेतना के

प्रसार में अपना योगदान दिया है। हम उस देन का लेखा-जोखा उपलब्धियों के स्तर पर नहीं करते, योगदान के स्तर पर करते हैं। इस महान ध्येय से जुड़ने और अपनी क्षमताओं का इसके लिए उपयोग करने के स्तर पर मूल्यांकन करते हैं।

क्या लेखक मात्र जीवन-संघर्षों का द्रष्टा है अथवा उसमें उसकी कोई सक्रिय भूमिका भी है (?) आदि प्रश्न वर्षों से विवाद का विषय बने हुए हैं। यह बात सर्वविदित है कि जो लेखक संवेदन के स्तर पर, भावना और विचार के स्तर पर संघर्षरत जनता से जुड़ता है वह अपनी उत्कट भावनाओं और विश्वासों के अनुरूप उसमें भाग लेता है। कुछ कलावादियों ने इसे प्रचार की संज्ञा दी है जो अनर्गल प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अनेक उदाहरण विश्व साहित्य के स्तर पर भी दिये जा सकते हैं, कि लेखक आन्दोलनों से जुड़कर अपने लेखन को महानता की पराकाष्ठा तक ले गये। अंगोला के भूतपूर्व राष्ट्रपति आगस्टिनो नेटो, चिली के विश्वविख्यात कवि पाब्लो नेरूदा, फ्रांस के लुई अरागाँ, तुर्की के नाज़िम हिकमत, जर्मनी के बर्तोल्त ब्रेख्त आदि विभूतियों के महान सामाजिक ध्येय ही उन्हें उत्प्रेरित करते रहे और वे उत्कृष्ट रचनाएं भी रचते रहे। समाजोन्मुख साहित्य की यह दृष्टि हमारे देश और काल तथा विश्व-भर में रचे जाने वाले साहित्य की प्रमुख धारा बन चुकी है। हमारे देश में तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में ही साहित्य में इसका आभास होने लगा था। समय के साथ इसमें गहनता एवं विस्तार आ गया और आज हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हमारा अधिकांश लेखन इसी प्रवृत्ति से उत्प्रेरित है।

विधिवत रूप से संगठन की स्थापना के पूर्व भी यह प्रवृत्ति हमारे आधुनिक काल के लेखकों, कवियों, आलोचकों में विद्यमान थी और आज जब प्रगतिशील लेखक संघ की स्वर्ण जयंती मनाने जा रहे हैं तो यह समीचीन होगा कि हम इन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हस्ताक्षरों को अपने पाठकों तक पहुँचाएँ, विशेष कर नयी पीढ़ी के सम्मुख जो अपनी इस समृद्ध विरासत के साथ जुड़कर इस विकट समय में सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में और अधिक आस्था, आत्मविश्वास के साथ रचना-कर्म में प्रवृत्त हों और वर्षों से सँजोई यह मानवीय सभ्यता फलती-फूलती रहे। इन्हीं कामनाओं के साथ यह संकलन आपके हाथों में है।

1 अप्रैल 1986 —भीष्म साहनी
नयी दिल्ली

भूमिका

रचना एक सृष्टि है, इसलिए सामाजिक की यह ज़िम्मेदारी है कि वह उसके भले-बुरे स्वरूप और रूपरंग की जाँच-पड़ताल करे। वह देखे कि अमुक रचना से समाज को लाभ हुआ या हानि ? समाज को ऊँचे ले जाना या पतन की ओर धकेलना, उसका निहितार्थ क्या था ? रचनाकार ने अपने सृष्टि-निष्पादन में जिस सामग्री का उपयोग किया, उसका मूल्य आँकना, रचना-प्रक्रिया से अवगत हो उसका परीक्षण करना और आगे के रचनात्मक प्रयत्नों के लिए मार्ग-दर्शन, यह सब दायित्व सुधी सामाजिक का है। इसके विपरीत रचनाकार की ज़िम्मेदारी है कि जनता के सहज-बोध के प्रतिनिधि, आस्वादकों की रुचि के नायक तथा तात्त्विक रूप से ज्ञानवान सामाजिक से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखे। अपने लिए दो अलग-अलग काम चुननेवाले इन कर्मियों में पूरक सम्बन्धों की आवश्यकता है। पूरक सम्बन्धों का अर्थ परस्पर न तो प्रशंसा है और न निन्दा। वस्तुतः यह द्वन्द्वात्मक एकता है। इसे रचनात्मक एकता की संज्ञा दी जा सकती है। इस एकता का लक्ष्य दोनों को सहज, स्वाभाविक, अनुशासित, गतिशील और ज़िम्मेदार बनाये रखना है।

सिद्धान्त-निरूपण और व्यावहारिक मूल्यांकन—दोनों का सम्बन्ध रचना को सार्थक बनाने में है। इनमें व्यवहार को समझने का काम पहले होता है। जीवन-व्यवहार यानी कर्मयोग से बड़ी कोई चीज़ नहीं होती। अपने युग की रचनाएँ कृतिकारों का व्यवहार है तथा उन रचनाओं को समझकर निर्णय देना—आलोचक-सामाजिक का व्यवहार। आलोचक प्रतिनिधि कृतियों पर अलग-अलग मूल्य-निर्णय लेकर उनके भीतर से ही युग का 'सामान्य स्वभाव' जानता है। यह मूल्य का सामान्यीकरण है। विभिन्न व्यवहारों से सामान्य स्वभाव का बनना और 'सामान्य स्वभाव' से विभिन्न व्यवहारों की संपृक्ति का सिलसिला चलता है। यही रचना और मूल्यांकन दोनों की स्वस्थ प्रकृति है। रचनाकार और आलोचक दोनों जब अपनी मूल प्रकृति से कट जाते हैं, तब युग की क्षति होती है। उनके सम्बन्ध वैरपूर्ण हो जाते हैं। यह ज़िम्मेदारी से उनका स्खलन है।

इस संकलन में 'हिन्दी आलोचना की एक शताब्दी' में लिखे गये कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक लेखों को लिया गया है। लेखो में ऐतिहासिक क्रम नहीं है। इरादा यह है कि युगीन रचनात्मक स्वभाव को समझते हुए जो सिद्धान्त-निरूपण पिछले सौ वर्षों में हुआ है, उसकी बानगी प्रस्तुत की जाये। इसमें कुछ नाम छूट गये हैं, जो अगले संकलनों में आयेंगे, कुछ छोड़ दिये गये हैं—पुनरावृत्ति से बचने के लिए। ये सभी लेख आलोचकों के महज़ आत्मालाप नहीं है। आप देखेंगे कि इनमें कई लेख कविता-विषयक सैद्धान्तिक विवेचन के हैं, जिनमें बालकृष्ण भट्ट, महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल मुख्य रूप से आलोचक हैं तथा निराला और मुक्तिबोध कवि। कवि और आलोचक दोनों के सैद्धान्तिक विश्लेपण से संश्लिष्ट ढंग से विकासमान काव्य-विवेक का पता चलता है। पुस्तक के क्रम में पहला लेख भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है—'नाटक अथवा दृश्यकाव्य'। बक़ौल लेखक, यह हिन्दी में नाटक लिखने वालों के मार्गदर्शन के लिए लिखा गया है। व्यापक रूप से साहित्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालने वाले दो निबंध हैं—प्रेमचन्द और हजारीप्रसाद द्विवेदी के। ये लेख लोकमत और लोकहित को साहित्य का लक्ष्य सिद्ध करते हैं। इसी क्रम में अमृत राय, श्याम कश्यप और राजेश्वर सक्सेना के सैद्धान्तिक विवेचन हैं। यहाँ आधुनिक बोध की समझ, तीसरी दुनिया के विशिष्ट यथार्थ का आकलन, नये युग में विज्ञान और साहित्य के क़रीब आने से उभर रहे आदर्शों, नैतिक प्रश्नों का निरूपण किया गया है। धनंजय वर्मा ने क्रांति के साथ साहित्य के रिश्ते तथा शिवकुमार मिश्र ने संस्कृति के समकालीन तत्त्वों को साहित्य के भीतर से निर्धारित करने का यत्न किया है।

पुस्तक का स्वरूप पूरा न होता यदि 'भारतीय काव्यशास्त्र' का पुनर्मूल्यांकन इसमें संकलित न होता। यह इसलिए कि यही वह थाती है जिसने हमारे कवियों और आस्वादकों को अब तक ऐतिहासिक-कलात्मक अनिवार्यताओं से जोड़ा है। सामाजिक व्यवस्था के अभिशापों के दुष्परिणाम भी इस परम्परा में शामिल होते रहे हैं, जिन्हें ढोने की जरूरत आज नहीं है। हम अनुभव करते हैं कि प्रगतिशील आलोचकों ने इधर अपने काव्यशास्त्रीय अतीत का मूल्यांकन गहरी तल्लीनता और वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। नमूने के रूप में रमेश कुन्तल मेघ, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय और खगेन्द्र ठाकुर के आलेख हैं। समकालीन आलोचना से जुड़ा पाठक जानता है कि साहित्य के इतिहास का पहला व्यवस्थित ढाँचा रामचन्द्र शुक्ल ने तैयार किया था। जब उन्होंने यह काम किया, तब उनकी ज़रूरतें कुछ और थीं। सामग्री भी सब नहीं मिल पायी थी, जिससे विश्लेपण की समग्रता बन पाती। मार्क्सवादी आलोचकों का ध्यान इधर भी गया है। पिछले दस वर्षों में 'साहित्येतिहास'-लेखन के प्रश्न पर उनके बीच व्यावहारिक और तात्विक

बहस खूब हुई हैं। इस बहस की व्यवस्थित शुरुआत हिन्दी के प्रखर और तेजस्वी आलोचक नामवर सिंह ने की थी। संकलन में उनका तद्विषयक लेख है—'हिंदी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार'।

बीसवीं शताब्दी में साहित्य के मूल्यांकन के क्षेत्र में एक शब्द 'सौंदर्य-शास्त्र' बहुत प्रभावी हुआ है। इसी आलोक में रचना-संसार का परीक्षण नये ढंग से हुआ है। आलोचना के मानकों में अधिक विश्वसनीय विश्वदृष्टि विकसित हुई है। अध्यात्म और रहस्य की इस क्षेत्र में अनधिकृत भूमिका को न केवल पहचाना गया है, वरन इनसे मुक्ति भी मिली है। रामविलास शर्मा, प्रमोद वर्मा, मलय, नंदकिशोर नवल और कमला प्रसाद के लेखों में 'नये सौन्दर्यशास्त्र' की सारवस्तु और तकनीक का काफ़ी खुलासा है। पुस्तक की पूरी परिधि में चन्द्रबली सिंह और शिवदान सिंह चौहान के लेखों का ऐतिहासिक महत्त्व है। इनमें 'आलोचना की समस्याएँ' और 'आलोचक के दायित्वों' का निर्धारण है। कुल मिलाकर इन लेखों को आलोचना की एक व्यवस्था की तरह पढ़ा जाना उचित होगा। यह सही है कि इसमें हमने दूसरी आवाज़ को जगह नहीं दी। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका सब-कुछ निरर्थक था। हमने देखा है कि शामिल लेखों में विपरीत दृष्टिकोणों के सार्थक पहलुओं को अपनाया गया है और उनके जनविरोधी विचारों के साथ बहस की गयी है। आमतौर पर सभी के सिद्धान्त-निरूपण की प्रक्रिया में जनविरोधी और जनसमर्थक विचारों की टकराहटों की अनुगूँजें सुनी जा सकती हैं।

विगत सौ वर्षों में हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना ने लगातार मंज़िलें पायी हैं। युग के रचनात्मक व्यवहार से सजग आलोचकों ने व्यवहार-सत्य की पहचान की है। उन्होंने जो सिद्धान्त बनाये—उन्हें रचनाओं के भीतर से पाया और जाँचा है। उदाहरण के लिए, आरंभिक दौर के अपने आलोचनात्मक लेख में नाटककारों को दिशानिर्देश देते हुए भारतेन्दु ने कहा था, "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति, इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकीय दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है।" (भारतेन्दु ग्रंथावली, खंड 1, पृ० 755) यहाँ आलोचक लेखकों से क्या कहता है? यही न कि वे 'सहृदयों के अन्तःकरण की वृत्ति' और 'सामयिक रीति-पद्धति' को न केवल जानें वरन उनकी समीचीन समालोचना करें। जनता की रूढ़ मानसिकता को बनाये रखने के लिए जो शक्तियाँ सक्रिय रहती हैं—यह निर्देश उनके खिलाफ़ है। इस आलोचक की खूबी यह है कि उसने अपने आलोचकीय निर्देशों को स्वयं नाटक लिखकर पूरा किया। उन्होंने नाट्य-चिन्तन और सृजन को अपने युग की भूमि में उतार दिया। वर्षों तक आगे के लेखकों ने

मिलजुलकर विभिन्न विधाओं के द्वारा यह संघर्ष जारी रखा। 'कविता क्या है', 'सच्ची कविता कौन-सी है', 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है'— ये उन दिनों बहसोचित विषय थे। रीतिवादी रूढ़ आचार्यों और युगानुरूप दायित्वों को पहचानने वालों के बीच वार्ताओं, लेखों और समीक्षाओं में खूब जद्दोजहद होती थी। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि लेखक अपनी सामूहिक जिम्मेदारी अनुभव करते थे। उनके सहयोगी मंडल थे, जिनमें सबके काम बँटे थे। वे आपस में हर लेखक को सहयोग देते और गंभीर मंथन से निष्कर्ष निकालते। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', 'कवि वचन सुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'सरस्वती' और 'मर्यादा' जैसी पत्रिकाओं की मिली-जुली भूमिका—साहित्य के इतिहास में अमूल्य है। ये पत्रिकाएँ उन दिनों विचार-मंथन और नवीन की स्थापना का मंच थीं। 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक और समालोचक बालकृष्ण भट्ट को रामविलास शर्मा ने हिन्दी का पहला क्रांतिकारी आलोचक कहा है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रचनाकारों को ऐतिहासिक संस्कृति से जोड़कर 'देश-प्रेम' का पाठ सिखाया। हिन्दी भाषा उनके नेतृत्व में ढली। ब्रज और अवधी भाषाओं को पकड़कर सामन्ती सामाजिक ढाँचे के पोषक रीतिवादी, साहित्य को जनता से दूर रखते थे, जिसे इस युग के सजग रचनाकारों और आलोचकों ने पीछे छोड़ दिया। उनका मज़ाक उड़ाया। जनता के सामने उनकी औक़ात पेश की। जनता ने नये का स्वागत किया। इस प्रयत्न में हिन्दी आलोचना के यशस्वी आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का कृतित्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने युग के सहजबोध को समेटा। आदि-युग से चले आते साहित्यप्रवाह को आत्मसात किया तथा आलोचक का सैद्धान्तिक-व्यावहारिक ढाँचा बनाया। जो ढाँचा लछिराम, कवि राजा मुरारीदान, भगवानदीन 'दीन', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' और मिश्रबन्धुओं की रक्षा कर रहा था, उसे उन्होंने ध्वस्त कर दिया। उसके जीवित तत्त्व ग्रहण कर लिए। उन्होंने 'रसवाद' की गतिशील व्याख्या की। भारतेन्दु-युग में 'सहृदय की चित्तवृत्ति' तथा 'सामयिक रीति-पद्धति' के जो साहित्य मानक उभरे थे, शुक्ल जी ने उन्हें सैद्धान्तिक और ठोस आधार प्रदान किया।

शुक्ल जी की समझ में—"कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्वहृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।" (रसमीमांसा, पृ० 18) शुक्ल जी के अनुसार हृदय की प्रकृत दशा, अपनी जाति, समाज और देश के भीतर बनती है। ज्ञानप्रसार के लिए पूरा

विश्व है; पर प्रकृतदशा अपनी हैं। विश्व-भर से पाये ज्ञान से हृदय का प्रकृत-कोष विस्तृत होता है। भावनाओं की नकल ठीक नहीं होती। साहित्य की सृष्टि अपनी भावनाओं से होती है। इस प्रसंग में शुक्ल जी अभिनव के आत्मवादी दृष्टिकोण के समर्थक नहीं थे। उन्होंने हृदयस्थ स्थायीभाव के बजाय रचना और आस्वादन, दोनों के लिए 'जगत के सम्बन्धभाव' अर्थात आलम्बनधर्म को वरीयता दी। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उन्होंने हज़ारों लेखकों की अलग-अलग विशेषताएँ निर्धारित कीं तथा युग की 'सामान्य चित्तवृत्ति' का निर्धारण भी। उन्होंने देश और काल के बीच रचनाकार के द्वन्द्व की निजी रचना-प्रक्रिया को अपनी आलोचना में अर्जित किया।

छायावाद या स्वच्छन्दतावाद का उदय हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह अन्तर्विरोधों से भरा चुनौतियों का काल था। प्रसाद पन्त, निराला का कालजयी कृतित्व इसी युग में जन्मा। यहाँ रचना की वस्तु और रूपात्मक ढाँचा काफ़ी बदल जाता है। मुख्य बात यह हुई कि प्रबंधात्मक ढाँचे की जगह प्रगीतों, मुक्तकों, संस्मरणों, कहानियों और छोटी-छोटी आलोचनात्मक टिप्पणियों ने ले ली। आदर्श चरित्र-सृष्टि का पथ कमज़ोर हुआ। भावना का आवेग अविराम बह पड़ा। 'राम की शक्ति पूजा' और 'कामायनी' का काव्य-विवेक विकसित होने में समय लगा। प्रेमचन्द जैसे कुछ लेखक थे—जिन्होंने बड़े उपन्यास भी लिखे। स्वतंत्रता-संग्राम के दबाव में अनेक रचनाकारों ने राजनीतिक कविताएँ लिखीं—जिनमें बक़ौल शुक्ल जी 'प्रलय की पदावली' की प्रचुरता थी। इन राजनीतिक कविताओं में राजनीतिक विषयवस्तु से कोई गहरा तदाकार नहीं था, यद्यपि उस युग में उनकी उपयोगिता बहुत थी। युग की दूसरी काव्य-धारा ज़्यादा गंभीर और सहज थी। मुक्तिकामी मनुष्य की चेतना ने महास्वप्न देखने शुरू किये थे—जो इन कविताओं में हैं। धीरे-धीरे इन महास्वप्नों में से यथार्थ ग़ायब होने लगा, केवल स्वप्न-ही-स्वप्न शेष बचता दिखा। यूरोप के यथार्थ-विरोधी नये अध्यात्म और बँगला के रहस्यवाद के असर से भी यह फ़र्क पड़ा। कवियों ने भारतीय काव्यधारा के बजाय रहस्यधारा से नाता जोड़ना शुरू किया। हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी कविता अध्यात्म और रहस्य के घालमेल से छायावादी-रहस्यवादी कहलाने लगी। रामचन्द्र शुक्ल और मुकुटधर पाण्डेय ने रचनाकारों को आगाह किया, पर लोगों ने नहीं सुना। बाद में कवियों को अपनी कमज़ोरी समझ में आयी और वे मुक्त हुए। इस युग की दिक्क़त यह हुई कि पूरे युग के स्वभाव को समझते हुए दिशानिर्देश करनेवाला रामचन्द्र शुक्ल जैसा आलोचक नहीं मिला। नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास और हजारीप्रसाद द्विवेदी मुख्य रूप से—इन दिनों आलोचक के रूप में सामने आये। नन्ददुलारे वाजपेयी को तो मूलत: छायावाद का ही आलोचक कहा गया। उन्होंने रामचन्द्र

शुक्ल और प्रेमचन्द के प्रबंधात्मक आदर्शवाद से टकराते हुए अपनी यात्रा शुरू की। अपनी आलोचना के सात सूत्र घोषित किये। निराला और प्रसाद पर उन्होंने पर्याप्त लिखा। इनका अन्तर्विरोध यह है कि सात सूत्रों की घोषणा के बावजूद इनका सैद्धान्तिक सुसंगत ढाँचा स्पष्ट नहीं है। उनके चिन्तन में यूरोपीय आलोचकों का ज़ोर अधिक है। वे भारतीय कविता के प्रकृत-पथ से नहीं जुड़ते। वे कविताओं के विश्लेषण में जितने सहज हैं, सिद्धान्त-निरूपण में उतने ही उलझे। इसी कारण शुक्ल जी की भाँति उनका सैद्धान्तिक ढाँचा नहीं बना। हाँ, छायावादी काव्य के आस्वादन को आसान बनाने में उनकी भूमिका असंदिग्ध है। अन्य आलोचक श्यामसुन्दर दास और शांतिप्रिय द्विवेदी की भूमिका भी नये के स्वागत की ही विशेष है। ये आलोचक कम, व्यवस्थापक और भावुक प्रशंसक अधिक हैं। नगेन्द्र ने अपेक्षाकृत काफ़ी लिखा है—पर उसका सम्पादकीय दायित्व अधिक वरेण्य है—सिद्धान्तकार की तुलना में। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व निश्चय ही समृद्ध है। उनकी इच्छा रही है, शुक्ल जी के प्रस्थान को आगे बढ़ाने की। इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किये, पर कालान्तर में स्वतः-स्फूर्त दायित्वों को पूरा करने में लग गये। मौजूद दृश्य के प्रति अपनापा रखते हुए संस्कृत, तंत्रविद्या, ज्योतिषशास्त्र, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और मध्ययुगीन साहित्य को कर्मक्षेत्र बनाया। उन्होंने शास्त्रों के बीहड़ जंगलों से जीवन्त सामग्री की खोज की। उनके प्रति राग पैदा किया। सामाजिक व्यवस्था का जो ढाँचा उनके मानस में उभरता रहा, वह शुक्ल जी से आगे का था, पर उसे वे संकल्प के साथ कह नहीं सके। इसीलिए 'आलोचना-मानों' की उनकी कल्पना व्यवस्थित नहीं है। वे अपने ही अन्तर्विरोधों में काफ़ी उलझते भी रहे हैं। लेखकीय दृष्टि के बारे में उनकी भावना का यह पहलू ध्यान रखने लायक़ है—"हम लोग नृतत्त्व के ग्रंथ न पढ़ते हों, सो बात नहीं, किन्तु जब हम देखते हैं कि ग्रंथ पढ़ने के कारण हमारे घरों के निकट जो चमार, धीवर, कोरी, कुम्हार आदि लोग रहते हैं, उनका पूरा परिचय पाने के लिए हमारे हृदयों में ज़रा भी उत्सुकता नहीं उत्पन्न होती, तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि पुस्तकों के सम्बन्ध में हमें कितना अंधविश्वास हो गया है, पुस्तकों को हम कितना बड़ा समझते हैं और पुस्तकें जिनकी छाया हैं, उनको कितना तुच्छ मानते हैं।" (अशोक के फूल, पृ० 181) द्विवेदी जी का सामान्यजन के प्रति लगाव उन्हें शुक्ल जी की ही भाँति "प्रकृतिपथ" का खोजी और कृती बनाता है।

प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, नयी कहानी, आंचलिक और समकालीन लेखन के रचनात्मक मोड़ के दौरों में आलोचना का सैद्धांतिक स्वरूप बहुआयामी, विवादास्पद और संघर्षों से युक्त था। यह अवधि कुल चालीस-पैंतालीस वर्षों की है। हिन्दुस्तान में सन् छत्तीस में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। मार्क्सवादी वैज्ञानिक विचारधारा का असर श्रमिकों, बुद्धिजीवियों, रचनाकारों और आलोचकों पर बहुत तेजी से बढ़ा। छायावादी कवि भी इस असर के कारण स्वप्नलोक से यथार्थ में उतरे। 'भारतीय जन नाट्य संघ' का गठन हुआ। लोगों की निगाह में एक शत्रु स्पष्ट था—अंग्रेजी साम्राज्यवाद। दूसरा शत्रु देशी सामंतवाद था—जिसे कुछ ने समझा और कुछ ने नहीं। सामाजिक-राजनैतिक लड़ाई के साथ सांस्कृतिक मोर्चे का संघर्ष भी समानांतर चला। परिणामस्वरूप माहौल

में व्यापक परिवर्तन आ गया। इसी परिवर्तन को श्रेय है कि आज भी देश में रचना और आलोचना की मुख्यधारा प्रगतिशील है। विसंगति यह है कि लोगों की राजनीति कुछ और है, सांस्कृतिक अभिलाषाएँ कुछ और। लिखने, करने और देखने का त्रिभुज टूट गया है। यह इसलिए हो रहा है, क्योंकि सामाजिक ढाँचे पर नियंत्रण पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों का है।

आलोचना की पाँच दशकों की विरासत दिलचस्प है। इस काल में वैचारिक संघर्ष तेज हुआ है। कभी रामविलास शर्मा ने लिखा था, "शुक्ल जी की विरासत के लिए संघर्ष करने वाले अनेक लेखक और साधारण हिन्दीप्रेमी पाठक हैं। ये लोग हिन्दी की जीवन्त शक्ति हैं। पूँजीवाद के अर्ध-मृत संसार का जो कोलाहल सुनायी देता है, वह श्मशान का कोलाहल है। हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जहाँ ऊर्जा की नयी तरंग उठ रही है, वहाँ से कोलाहल अभी काफ़ी फ़ासले पर है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 25) हमें लगता है कि यह कोलाहल पास में आ गया है। छायावाद के बाद जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय का ज्ञानमंडल निरपेक्ष ढंग से निजी व्यक्तित्व की खोज के लिए निकला था। मार्क्सवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए हिन्दी में 'परिमल समूह' के लेखकों ने विचारधारा-विहीन मूल्यदृष्टि, जनतंत्र-विहीन स्वतंत्रता, परम्पराविहीन अभिव्यक्ति की आज़ादी, आम जनता के विरोध में लघुमानव, वर्गसंघर्ष की एवज़ में वर्ण-संघर्ष, जैसे सूत्र गढ़े। प्रयोगवाद और नयी कविता के सिद्धान्तकारों ने इन सूत्रों की व्याख्या में पुस्तकें लिखीं। मुक्तिबोध, जो स्वयं उस दौर के कवि थे, ने लिखा कि उन लेखकों ने "एक ही साथ या एक के बाद एक, काव्य के विशेष पैटर्न, कला-व्याख्या, कलाकार का धर्म, सौंदर्यानुभूति का सिद्धान्त, आधुनिक भावबोध तथा उससे जुड़ी हुई सभ्यता-समीक्षा, लघुमानव-सिद्धान्त, तथा अन्य जो सम्भवतः मुझे इस समय याद न हो—इन सबको उपस्थित किया। साम्यवादी-प्रगतिवादी प्रभाव का मूलोच्छेद—इस प्रधान लक्ष्य से ये सारे सिद्धान्त अनुप्राणित रहे। और यह साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा कि लेखकों के मस्तिष्कों पर, उनके मन-प्राणों पर, अधिकार जमाने के लिए लड़ाई लड़ी जा रही है, अर्थात भिन्न प्रकार की जीवन-व्याख्या उनके हृदय में मूलबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है।" (मुक्तिबोध रचनावली, खंड पाँच, पृ० 159) मुक्तिबोध प्रतिगामी लेखकों के इस प्रयत्न के प्रति बहुत सजग थे। उन्होंने रचयिता के रूप में ही नहीं, आलोचक के रूप में भी प्रगतिशील कला-मूल्यों की आत्मीय सैद्धान्तिक-व्यावहारिक व्याख्याएँ कीं। उनकी पीड़ा यह रही कि यह प्रतिरोध संगठित रूप से नहीं किया जा रहा है। उन्होंने खीझ के साथ कहा कि अकेले "अपने ढंग से डॉक्टर रामविलास शर्मा चिढ़ते-खीझते, तड़पते, छटपटाते हुए, अपनी शक्ति के अनुसार अपनी सारी क्षमताओं और अपनी सारी सीमाओं और कमज़ोरियों के साथ, इस ओर इस क्षेत्र में काम करते रहे हैं।" (वही, पृ० 141) आज मुक्तिबोध जिन्दा होते तो देखते कि उनके इस कथन के के बाद रामविलास शर्मा ने चिढ़ते-खीझते काम करने के बजाय आलोचना की अनिवार्य सिद्धान्त-पुस्तकों का अम्बार लगा दिया है। उन्होंने परम्परा के भीतर से मूल्य-सापेक्ष ज्ञान-पद्धति का विकास किया है। वे व्यवस्थित वस्तुवादी सिद्धान्तकार की तरह उभरे हैं। अपनी चिन्तन-पद्धति में उन्होंने भारतीय इति-

ह्रास और संस्कृति की गतिशील प्रकृति को हासिल किया, विश्वबोध के साथ उसकी सगति खोजी और समकालीन चुनौतियों को रेखांकित किया। पूरे विश्व-फलक के बीच उन्होंने अपने जातीय प्रकृत-पथ को विकसित किया है। इसी का परिणाम है कि आज वे भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच मार्क्सवादी विचारक, भाषाविद, समाजशास्त्री, सौन्दर्यतत्ववेत्ता और आधुनिकता-बोध से युक्त सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति हैं। उन्होंने हिन्दीभाषी क्षेत्र की जनता को उसकी खोयी रचनात्मक अस्मिता वापस दिलायी है। इसके अलावा प्रगतिशील हिन्दी आलोचकों ने इधर संगठित प्रयत्न तो नहीं किया, पर उनकी संलग्नता बराबर अपने दायित्वों के चयन की ओर रही है। उनका प्रदेय यह है कि अब आलोचना काफ़ी सूक्ष्मदर्शी और पारदर्शी हुई है। वह स्थानिक हुई है। उसमें अन्तर-अनुशासनात्मक प्रकृति विकसित हुई है। पश्चिमी-पूर्वी देशों की कृतियों के अनुवाद हुए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का पुनर्मूल्यांकन हुआ है। इतिहास, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, तथा अन्य सामाजिक विषयों में प्रगतिशील विचारकों की सक्रिय उपलब्धियों ने ज्ञान की दिशा को मोड़ने की पहल की है। सृजन और आलोचना की निजी और युगीन शैलियाँ विकसित हुई हैं। रचनाकारों ने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में लिखना शुरू किया है। इससे इस क्षेत्र में घुसे रहस्यवाद का प्रभाव घटा है।

यह सब होते हुए भी हमारे युग की सीमाएँ काफ़ी स्पष्ट हैं। सत्ता के संरक्षण में चल रही रूपवादी-कलावादी प्रवृत्तियों के खिलाफ़ हमारे संगठित रचनात्मक प्रयत्न कमज़ोर हैं। साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति ने औसत मध्यवर्गीय मानस को 'निरपेक्ष स्वायत्त व्यक्ति' बनाने में अधिक सफलता प्राप्त की है। गाँव के लोगों तथा कारखाने के मजदूरों का चरित्र भी अपने वर्गीयबोध से कटा है। उनमें भोलेपन के बजाय काइयाँपन आया है। उनमें विकृत मानसिकता घर कर रही है। जनता का सहजबोध कुछ और है, उसकी आदतें कुछ और। कलावादियों का वैज्ञानिक ज्ञानविरोधी अभियान नये आध्यात्मिक लिबास में घूम रहा है। प्रगतिशीलों ने समग्रता से पूरे युग के स्वभाव पर बात करनी बंद कर दी है। यदा-कदा करते हैं तो उसमें बड़बोलापन होता है। अनुभव और बोध की विराटता नहीं होती। टावर में बैठकर ग़लत आत्मविश्वास के ज़ोर पर बोलते हैं। मनोवाद और आत्मोदगार के शिकार होते जा रहे हैं। इस तरह आलोचना का प्रबंध-चरित्र नहीं बन पा रहा है। हम मानते हैं कि सृजन अथवा आलोचन कर्म कोई उद्योग नहीं हैं। ये कार्य अकेले-अकेले होते हैं, पर इनमें सांगठनिक भूमिका यह होती है कि पूरे युग के स्वभाव को समझने, सांस्कृतिक आवश्यकता के अनुरूप निर्णय लेने और योजना बनाकर कुशल लोगों को कार्य सौंपने, प्रकाशन और प्रचार-प्रसार के प्रयत्न तेज हों। जो जिस काम में सक्षम है—वह उसे सुनियोजित और व्यवस्थित रूप से कर पाये। दरअसल हमें भारतेन्दु और द्विवेदी मंडली की तरह काम करना होगा, ताकि हमारा सिद्धान्त-निरूपण और रचनात्मक व्यवहार सुसंगत भौतिकवादी हो सके।

—कमला प्रसाद

अनुक्रम

नाटक अथवा दृश्य काव्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देनेवाले को, वा स्वयं दृष्टि-रोचन के अर्थ फिरने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेषविन्यास के पश्चात रंगभूमि में स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं। काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य-काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा—कालिदास ने 'शाकुंतल' में भ्रमर के आने पर शकुन्तला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का शकुन्तला-वेषसज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृंगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अंग-भंगी और हाव-भाव का; तथा कवि-कथित वाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्यकाव्यत्व है। यदि श्रव्यकाव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रन्थ में पढ़िए तो जो काव्य-जनित आनंद होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है। दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है। इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं। इसी विद्या का नाम कुशीलवशास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती, और तुंबुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरतमुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं।

अर्थ-भेद

नाटक शब्द की अर्थग्राहिता यदि रंगस्थ खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे—काव्यमिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक यथा—कठपुतली वा खेलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूंगे-बहिरे का नाटक, बाजीगरी

वा घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत-प्रेतादि की नक़ल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियों को कहेंगे। भ्रष्ट अर्थात जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है, यथा—भांड़, इंद्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं, तथापि काव्यहीन होने के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं। काव्यमिश्र नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त करना उचित है—प्राचीन और नवीन।

अथ प्राचीन

प्राचीन समय में अभिनय नाट्य, नृत्य, नृत्त, तांडव और लास्य—इन पाँच भेदों में बँटा हुआ था। इनमें नृत्य भावसहित नाचने को, नृत्त केवल नाचने को और तांडव और लस्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं। इससे केवल नाट्य में नाटक आदि का समावेश होगा; शेष चारों नाचनेवालों पर छोड़ दिए जाएँगे। नाट्य रूपक और उपरूपक दो भेदों में बँटा है।

रूपक—रूपक के दश भेद हैं—

(1) नाटक

काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यन्त) वा ईश्वरांश (जैसा श्रीराम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण—'शाकुन्तल', 'वेणीसंहार' आदि।

(2) प्रकरण

यह और बातों में नाटक के तुल्य होना चाहिए, किन्तु इसका उपाख्यान लौकिक हो। नायक कोई मंत्री, धनी वा ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मंत्रिकन्या, किसी के घर में आश्रित भाव से रहनेवाली, वा वेश्या हो। प्रथमावस्था में शुद्ध और द्वितीयवस्था में प्रकरण की संकर संज्ञा होती है। उदाहरण—'मल्लिकामारुत', 'मालतीमाधव' और 'मृच्छकटिक'।

(3) भाण

भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसी से बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भापा उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है। उदाहरण—'विपस्य विपमौधम्'।

(4) व्यायोग

युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार[1] वा वीर होना चाहिए। ग्रंथ नाटक की अपेक्षा छोटा।

उदाहरण—'धनंजय विजय'।

(5) समवकार

यह तीन अंक में हो। इसमें 12 तक नायक हो सकते हैं। कथा दैवी हो। छन्द वैदिक हों। युद्ध आश्चर्य मात्रा इत्यादि इसमें दिखलाई जाती है। उदाहरण भाषा में नहीं है।

(6) डिम

यह भी वैसा ही किन्तु इसमें उपद्रव दर्शन विशेष होता है। अंक चार। नायक देवता वा दैत्य वा अवतार। (उदाहरण नहीं)।

(7) ईहामृग

चार अंक, नायक ईश्वर वा अवतार। नायिका देवी। प्रेम इत्यादि वर्णित होता है। नायिका द्वारा युद्धादि कार्य सम्पादन होता है। (उदाहरण नहीं)।

(8) अंक

एक ही अंक में खेल दिखलाना। नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध हो। (उदाहरण नहीं)।

(9) वीथी

भाण की भाँति एक अंक में। इसमें दो पुरुष आकर बात कर सकते हैं। अपनी वार्ता में विविध भाव द्वारा किसी का प्रेम वर्णन करेंगे, किन्तु हँसाते जाएँगे। (उदाहरण नहीं)।

(10) प्रहसन

हास्यरस का मुख्य खेल। नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य दिये बिना नही लिखे जाते। उदाहरण—'हास्यार्णव', 'वैदिक हिंसा', 'अन्धेर नगरी'।

महानाटक

नाटक के लक्षणों से पूर्ण ग्रंथ यदि दश अंकों में पूर्ण हो तो उसको महानाटक कहते हैं।

उपरूपक

उपरूपक के अठारह भेद हैं। यथा—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित (श्रीरासिका), शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

नाटिका

नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री-पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात नाटिका के नायिक की पूर्व-प्रणयनी के वश में रहती है। उदाहरण—'रत्नावली', 'चन्द्रावली' इत्यादि।

त्रोटक

इसमें सात-आठ-नौ या पाँच अंक होते हैं। और प्राय: प्रति अंक में विदूषक होता है। नायक दिव्य मनुष्य होता है। उदाहरण—'विक्रमोर्वशी'।

गोष्ठी

नौ या दस साधारण मनुष्य और पाँच-छ: स्त्री जिसमें हों और कैशिकी वृत्ति तथा एक ही अंक हो। (उदाहरण नहीं)।

सट्टक

जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कम्भक जिसमें न हों और शेष सब नाटिका की भाँति हो, वह सट्ट है। उदाहरण—'कर्पूरमंजरी'।

नाट्यरासक

इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, पीठमर्द उपनायक, और अनेक प्रकार के गान-नृत्य होते हैं।

शेष उपरूपक

योंही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो सबों के भाषा में उदाहरण है, न इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है। इससे सविस्तार वर्णन नहीं किया गया।

भरत मुनि ने उपरूपकों के भेद नहीं लिखे हैं। दश प्रकार के रूपक लिखकर नाटक के दो भेद और माने हैं, यथा—नाटिका और त्रोटक। 'मल्लिकामारुत' प्रकरणकार दंडी कवि रूपकमात्र को मिश्रकाव्य नाम से व्यवहृत करते हैं।

अथ नवीन भेद

आजकल यूरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंगदेश में जिस चाल के बहुत-से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है, क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इस अंक और गर्भांकों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा—पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन का एक-एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटनाविशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक। यह

दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं, किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं, यथा—(1) संयोगांत—अर्थात प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। (2) वियोगांत, जिसकी कथा अंत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण 'रणधीर प्रेममोहिनी')। (3) मिश्र—अर्थात जिसके अंत में कुछ लोगों का तो प्राणवियोग हो और कुछ सुख पावैं।

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं, यथा—(1) शृंगार, (2) हास्य, (3) कौतुक, (4) समाज संस्कार, (5) देशवत्सलता। शृंगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, जगत में प्रसिद्ध हैं। कौतुकविशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्तविनोदार्थ किसी यंत्रविशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्‌भुत् घटना दिखायी जाय। समाज संस्कार के नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा—शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीतिनिवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथाभाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अन्तर्गत है। (इसके उदाहरण 'सावित्री चरित्र', 'दु:खिनीबाला', 'बाल्यविवाहविदूषक', 'जैसा काम वैसा ही परिणाम', 'जय नारसिंह की', 'चक्षुदान' इत्यादि।) देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों वा देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्राय: करुणा और वीररस के होते हैं। ('उदाहरण—'भारतजननी', 'नीलदेवी', 'भारतदुर्दशा' इत्यादि)। इन पाँच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बनते हैं।

अथ नाटक-रचना

प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तान्त अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति सम्भूत, किम्वा लोकाचार संघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलम्बन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिवद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचिअनुसार, उक्त नाटक नाटिका प्रभृति दृश्यकाव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनीत होते थे।

पुराचीनकाल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मंडली की जिस प्रकार रुचि थी वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोद कर गये हैं, किन्तु वर्त्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है। इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति—इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।

नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोपिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्यकला कौशल दिखलाने को देशकाल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी वर्तमान काल में नहीं होती।

अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशीः'[2] प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी,'[3] कहीं 'विलोभन',[4] कहीं 'सम्फेट',[5] 'पंचसंधि'[6] वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकी रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरत जी जो सब नियम लिख गए हैं उनमें जो हिन्दी नाटक रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।

अथ प्रतिकृति (Scenes)

किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामान्तर अन्तःपटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है।[7] यद्यपि महामुनि भरत प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन-उपवन किम्वा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अन्तःपटी परिवर्तन द्वारा वन-उपवन व पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौर जानपदवर्ग के अपवादभय से श्रीरामकृत 'सीतापरिहार' के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राजप्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता, इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन द्वारा पूर्वकाल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था। ऐसे

ही 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक के अभिनय करने के समय सूत्रधार एक ही स्थान में रहकर परदा बदले बिना कैसे कभी तपोवन और कभी दुष्यन्त का राजप्रासाद दिखला सकेगा[8], यही सब बात प्रमाण है कि उस काल में भी चित्रपट अवश्य होते थे। ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है।

जवनिका वा वाह्यपटी (Drop Scene)[9]

कार्य-अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है उसका नाम जवनिका वा वाह्यपटी है। जब रंगशाला में चित्रपट परिवर्त्तन का प्रयोजन होता है उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है। संस्कृत नाटकों में जवनिका-पतन का नियम देखने से और भी प्रतीत होता है कि अन्त:पटी परिवर्त्तन द्वारा गिरि, नदी आदि की प्रतिच्छाया उस काल में भी अवश्य दिखलाई जाती थी।

"तत: प्रविशन्त्यपटीक्षेपेणाप्सरस:"

—अर्थात जवनिका बिना गिराये ही (उर्व्वशी विरहातुर) अप्सरागण ने रंगस्थल में प्रवेश किया इत्यादि दृष्टांत ही इसके प्रमाण हैं।

अथ प्रस्तावना

नाटक की कथा आरंभ होने के पूर्व नटी विदूषक किम्वा पारिपार्श्विक सूत्र-धार से मिलकर प्रकृत प्रस्ताव विषयक जो कथोपकथन करें, नाटक के इतिवृत्त सूचक उस प्रस्ताव को प्रस्तावना कहते हैं। नाटक की नियमावली में मुनिवर भरताचार्य ने पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखी हैं। वह पाँचों प्रणाली अति आश्चर्यभरित और सुंदर हैं। उनमें से चार हिंदी नाटक में भी व्यवहार की जा सकती हैं। सूत्रधार के पार्श्वचर बन्धु को पारिपार्श्विक कहते हैं। पारिपार्श्विक की अपेक्षा नट कुछ न्यून होता है। अब पूर्व-लिखित पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखते हैं, यथा—(1) उद्घात्यक, (2) कथोद्घात, (3) प्रयोगातिशय, (4) प्रवर्त्तक, और (5) अवगलित।

अथ उद्घात्यक

सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादनपूर्वक जहाँ पात्र प्रवेश होता है उसे उद्घात्यक प्रस्तावना कहते हैं।

उदाहरण—'मुद्राराक्षस'।

सूत्र० —प्यारी, मैंने जोति:शास्त्र के चौसठों अंगों में वड़ा परिश्रम
किया है। जो हो रसोई तो होने दो। पर आज गहन है किसी
ने तुम्हें धोखा ही दिया है। क्योंकि—
चन्द्रबिम्बपूरन भए, क्रूर केतु हठ दाप।

वल सों करि है ग्रास कह—

(नेपथ्य में)

हैं ! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रास कर सकता है ?

सूत्र०—जेहि बुध रच्छत आप।

यहाँ सूत्रधार ने तो ग्रहण का विषय कहा था किन्तु चाणक्य ने चंद्र शब्द का अर्थ चंद्रगुप्त प्रगट करके प्रवेश करना चाहा, इसीसे उद्घात्यक प्रस्तावना हुई।

अथ कथोद्घात

जहाँ सूत्रधार की वात सुनकर उसके साथ वाक्य के अर्थ का मर्म्मग्रहण करके पात्र प्रविष्ट होते हैं उसे कथोद्घात कहते हैं।

यथा—'रत्नावली' में सूत्रधार के इस कहने पर कि ईश्वरेच्छा से द्वीपान्तर किम्वा समुद्र के मध्य की वस्तु भी सहज में मिल जाती है, यौगंधरायण का आना।

यहाँ सूत्रधार के वाक्य का मर्म यह था कि जिस नाटक में द्वीपान्तर की नायिका आती है, खेला जायगा—इसी को समझकर अन्य नट मंत्री बनकर आया।

अथ प्रयोगातिशय

एक प्रयोग करते-करते घुणाक्षरन्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करे तो उसको प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं।

जैसे—'कुंदमाला' नामक नाटक में सूत्रधार के नृत्य प्रयोग के निमित्त अपनी भार्या को आह्वान करने के प्रयोग विशेष द्वारा सीता और लक्ष्मण का प्रवेश सूचित किया।[10] इस प्रकार से नाटक की प्रस्तावना शेष होने पर पात्र प्रवेश और नाटकीय इतिवृत्त की सूचना होगी।

अथ चर्चरिका

जव-जव एक-एक विषय समाप्त होगा जवनिका-पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तव-तव पटीक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि विना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ वहुत स्वर मिल कर कोई वाजा वजै या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का वजना योग्य है। जैसे—'सत्यहरिश्चंद्र' में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका वजै वह भैरवी आदि सवेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो वजै वह रात के राग की होनी चाहिए।

कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारतीवृत्ति

अथ कैशिकीवृत्ति

जो वृत्ति अति मनोहर स्त्री जनोचित भूषण से भूषित, और रमणी बाहुल्य नृत्य[11] गीतादि परिपूर्ण और भोगादि विविध विलासयुक्त होती है उसका नाम कैशिकीवृत्ति है। यह वृत्ति शृंगाररस-प्रधान नाटकों की उपयोगिनी है।

अथ सात्वतीवृत्ति

जिस वृत्ति द्वारा शौर्य्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से विरोचिता विविध गुणान्विता, आनन्द विशेषोद्भाविनी, सामान्य विलास युक्ता, विशोका और उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी नायक कर्तृक प्रयुक्त होती है उसका नाम सात्वती-वृत्ति है। वीररस-प्रधान नाटक में इसकी आवश्यकता होती है।

अथ आरभटी

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और बन्धनादि विविध रौद्रोचितकार्यजड़ित वृत्ति का नाम आरभटी है। रौद्ररस-वर्णन के स्थल में इस वृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

अथ भारती

साधुभाषाबाहुल्य वृत्ति का नाम भारतीवृत्ति है। बीभत्सरस-वर्णन स्थल में यह व्यवहृत होती है। नाटककर्त्ता ग्रन्थगुम्फन करने के समय यदि आद्यरस-प्रधान नाटक लिखने की इच्छा करेंगे, तो उनको कैशिकी वृत्ति ही में समस्त वर्णन करना योग्य है। आद्यरस-वर्णन करने के समय ताल ठोकना, मग्दर घुमाना, वा असिक्षेप प्रभृति विरोचितविषयक कोई भी वर्णन नहीं करना चाहिए। सात्वती प्रभृति वृत्तियों के पक्ष में भी ठीक यही चाल है।

अथ उपक्षेप

अभिनयकार्य के प्रथम संक्षेप में समस्त नाटकीय विवरण कथन का नाम उपक्षेप है।

पूर्वकाल में मुद्रायंत्र[12] की सृष्टि नहीं हुई थी, इस हेतु रंगस्थल में नट, नटी, सूत्रधार अथवा पारिपार्श्विक कर्तृक उपक्षेप का उल्लेख होता था। आजकल मुद्रा-यंत्र के प्रभाव से इसकी कुछ आवश्यकता नहीं रही, प्रोग्राम बाँट देने ही से वह काम सिद्ध हो जायगा।

पूर्वकाल में नाटक मात्र में उपक्षेप उपन्यस्त होता था यह नियम नहीं था, क्योंकि सब नाटकों में उपक्षेप का उल्लेख दिखाई नहीं पड़ता। 'वेणीसंहार' में इस का उल्लेख है, किंतु यह भीमकृतउपन्यस्त हुआ है।

यथा—भीम :

"लाक्षागृहानलविषान्नसभा प्रवेशैः प्राणेषुवित्तनिचयेषु च नः

> प्रहृत्य आकृष्य पाण्डवधूपरिधानकेशान् सुस्था भवन्ति मयि जीवतिधार्त्तराष्ट्राः ?"

अथ प्ररोचना

जिसके अनुष्ठान द्वारा अभिनयदर्शन में सामाजिक लोगों की प्रवृत्ति जन्मती है उसका नाम प्ररोचना है। यह सूत्रधार, नट, पारिपार्श्विक या नटी के द्वारा विगीत होती है।

अथ नेपथ्य

रंगस्थल के पश्चात भाग में जो एक गुप्त स्थान रहता है उसका नाम नेपथ्य है।

अलंकारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेश-भूषणादि से साजते हैं। जब रंग-भूमि में आकाशवाणी-दैवीवाणी अथवा और कोई मानुषीवाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य ही में से गाई या कही जाती है।

अथ उद्देश्यबीज

गुम्फित आख्यायिका के समग्र मर्म्म का नाम उद्देश्यबीज है। कवि जो इस का साधन न कर सकेगा तो उसका ग्रंथ नाटक में परिगणित न होगा।

अथ वस्तु

नाटकीय इतिहास अथवा कोई विवरण विशेष का नाम वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की हैं, यथा—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु।

अथ अधिकारिक वस्तु

जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसको अधिकारी कहते हैं। अधिकारी का आश्रय करके जो वस्तु विरोचित होती है उसका नाम आधिकारिक वस्तु है। जैसा—'उत्तररामचरित'।

अथ प्रासंगिक वस्तु

इस आधिकारिक इतिवृत्तका रस पुष्ट करने के लिए प्रसंगक्रम में जो वृत्त लिखा होता है, उसका नाम प्रासंगिक वस्तु है। जैसा—'वालरामायण' में सुग्रीव, विभीषणादि का चरित्र।

अथ मुख्य उद्देश्य

प्रसंग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा-प्रशाखा विस्तृत हों, और गर्भांक के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विषय वर्णित हो किन्तु मूल प्रस्ताव निरन्तर रहे तो उसकी रसपुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।

अथ अभिनय प्रकार

कलाकृत अवस्था विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। यथा—रामाभिषेक, सीता निर्वासन; द्रौपदी का केशभाराकर्षण इत्यादि।

अथ पात्र

जो लोग राम, युधिष्ठिरादि का रूप धारण करके, कथित अवस्था का अनुकरण करते हैं, उन लोगों को पात्र कहते हैं। नाटक के जो सब अंश स्त्रीगण-कर्तृक प्रदर्शित होते हैं, उनमें भाव, हाव, हेला प्रभृति यौवन सम्भूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकार उन लोगों को अभ्यास नहीं करने पड़ते, किन्तु पुरुष को स्त्रीवेश-धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखलाना पड़ता है।

अथ अभिनय-प्रकार

अभिनय चार प्रकार का होता है। यथा—आंगिकाभिनय, वाचिकाभिनय, आहार्याभिनय और सात्विकाभिनय।

अथ आंगिकाभिनय

केवल अंगभंगी द्वारा जो अभिनयकार्य साधन करते हैं, उसका नाम आंगिकाभिनय है। जैसे—'सती' नाटक में नन्दी। सती ने शिव की निन्दा श्रवण करके देह त्याग किया। यह सुनकर महावीर नन्दी ने जब त्रिशूल हस्त में लेकर के रंगस्थल में प्रवेश किया तब केवल आंगिकभाव द्वारा क्रोध दिखलाना चाहिए।

अथ वाचिकाभिनय

केवल वाक्यविन्यस द्वारा जो अभिनय कार्य समाहित होता है, उस का नाम वाचिकाभिनय है। यथा—तोतले आदि का वेश।

अथ आहार्याभिनय

वेष-भूषणादि निष्पाद्य का नाम आहार्याभिनय है। जैसा—'सत्यहरिश्चन्द्र' में चोबदार वा मुसाहिब ये लोग जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं तो इनको कुछ बात नहीं करनी पड़ती। केवल आहार्याभिनय के द्वारा आत्मकार्य निष्पन्न करना होता है।

अथ सात्विकाभिनय

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विकाभिनय है। जैसा—सती को मृत देखकर नन्दी का व्यवहार और अश्रुपात इत्यादि।

अथ बीभत्साभिनय

एक पात्र द्वारा जब कथित अभिनय में से दो वा तीन अथवा सब प्रदर्शित होते हैं तो उस को बीभत्साभिनय कहते हैं।

अथ अंगांगी भेद

नाटक में जो प्रधान नायक होता है उसको समस्त इतिवृत्त का अंगी कहते हैं। जैसे—'सत्यहरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र।

अथ अंग

अंगी के कार्यसाधक पात्र गण अंग कहलाते हैं। जैसे—'वीरचरित' में सुग्रीव विभीषण, अंगद इत्यादि।

अथ वैषम्यपात दोष

नाटक में अंगी को अवनत करके अंग का प्राधान्य करने से वैषम्यपात नामक दोष होता है।

अथ अंक लक्षण

नाटक के एक-एक विभाग को एक-एक अंक कहते हैं। अंक में वर्णित नायक-नायिकादि पात्र का चरित्र और आचार-व्यवहारादि दिखलाया जाता है। अनावश्यक कार्य का उल्लेख नहीं रहता। अंक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है।

अथ अंकावयव

नाटक का अवयव वृहत् होने से एक रात्रि में अभिनय कार्य समाहित नहीं होगा। इस हेतु दश अंक से अधिक नाटक निर्माण-विधि और युक्ति के विरुद्ध है। प्रथम अंक का अवयव जितना होगा द्वितीयांक का अवयव तदपेक्षा न्यून होना चाहिए। ऐसे ही क्रम-क्रम से अंक का अवयव छोटा करके ग्रंथ समाप्त करना चाहिए।

अथ विरोधक

नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है, उनका नाम विरोधक है।

उदाहरण—

दूराह्वान, अति विस्तृत युद्ध, राज्य देशादि का विप्लव, प्रबल वात्या, दन्तच्छेद, नखच्छेद, अश्वादि वृहत्यकाय जन्तु का अति वेग से गमन, नौका परिचालन और नदी में सन्तारण प्रभृति अघटनीय विषय।

अथ नायक निर्वाचन

विनय, धीमत्ता, वदान्यता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रियभाषिता, लोकरंजकता, वाग्मिता—प्रभृति गुणसमूह सम्पन्न सद्वंशसम्भूत युवा को नायक होने का अधिकार है। नायक की भाँति नायिका में भी यथासम्भव वही गुण रहना आवश्यक है। प्रहसन आदि रूपकविशेष के नायकादि अन्य प्रकार के होते हैं।

अथ परिच्छद विवेक

नाटकान्तर्गत कौन पात्र कैसा परिच्छद पहिरें, यह ग्रन्थकार कर्तृक उल्लिखित नहीं होता, न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है। नाटक में

किसी स्थान में उत्तम परिच्छद का परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। नाटक 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में "दरिद्र वेष से हरिश्चन्द्र का प्रवेश"।

ऐसी अवस्था भिन्न स्पष्ट रूप से परिच्छद का वर्णन किसी स्थान में उल्लिखित नहीं रहता, इससे अभिनय में वेशरचयिता पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेशरचना कर दे। नेपथ्य कार्य सुन्दर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेषविधायक की आवश्यकता रहती है।

अथ देशकाल प्रवाह

अति दीर्घकाल सम्पाद्य घटना सकल नाटक में अल्पकाल के मध्य में वर्णन करना यद्यपि दूषणावह नहीं है तथापि नाटक में देशगत और कालगत वैलक्षण्य वर्णन करना अतिशय अनुचित है।

अथ विष्कम्भक

नाटक में विष्कम्भक रखने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु रचना में जो सब अंश अत्यन्त नीरस और आडम्बरात्मक हैं उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगों को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक प्रणेतृगण इन घटनाओं को पात्रविशेष के मुख से संक्षेप में विनिर्गत कराते हैं।

अथ नाटक-रचना प्रणाली

नाटक लिखना आरम्भ करके, जो लोग उद्देश्यवस्तु परंपरा से चमत्कार-जनक और मधुर अति वस्तु निर्व्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य काव्य नहीं है।

ग्रन्थकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की बातचीत रचना करै कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पण्डित का मौनीभाव विडम्बनामात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। नाटक में वाक्प्रपंच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शक लोगों के अन्त:करण को उन्नत अथवा एकवारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडंबर करने से भी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशलविशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है, थोड़ी-सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा—'उत्तरामचरित' में महात्मा जनकजी आकर पूछते हैं: 'क्वास्ते प्रजावत्सलो.रामः'। यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने

विकार बोध होते हैं, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जो-जो उपकरण का प्रयोजन और स्थानविशेष की उच्च-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्च-नीचता प्रदानपूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्यभाव और कार्यप्रणाली के चित्रकरण द्वारा सहज भाव से उसका मानसिक भाव और कार्यप्रणाली दिखलाना प्रशंसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अन्तरभाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्हीं को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक में परिगणित होते हैं।

नाटक में अन्तर का भाव कैसे चित्रित किया जाता है इसका एक अति आश्चर्य दृष्टान्त 'अभिज्ञान शाकुन्तल'[13] से उद्धृत किया गया।

शकुन्तला श्वशुरालय में गमन करेगी, इस पर भगवान कण्व जिस भाँति खेदप्रकाश करते हैं वह यह है :

कण्व—(मन में चिन्ता करके)

आहा! आज शकुन्तला पतिगृह में जायगी यह सोचकर हमारा हृदय कैसा उत्कण्ठित होता है, अन्तर में जो वाष्पभर कर उच्छ्वास हुआ है उससे वाग्जड़ता हो गई है, और दृष्टिशक्ति चिन्ता में जड़ीभूत हो रही है। हाय! हम वनवासी तपस्वी हैं सो जब हमारे हृदय में ऐसा वैक्लव्य होता है तो कन्या के वियोग के अभिनव दुःख में बिचारे गृहस्थों की क्या दशा होती होगी।

सहृदय पाठक! आप विवेचना करके देखिये कि इस स्थान में कविश्रेष्ठ कालिदास कुलपति कण्व ऋषि का रूप धारण करके ठीक उनका मानसिक भाव व्यक्त कर सके हैं कि नहीं?

इसके बदले कालिदास यदि कण्व ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषिजनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुन्तला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता! इसी हेतु कविकुलमुकुटमाणिक्य भगवान कालिदास ने ऋषिजनोचित भाव ही में कण्व का शोक वर्णन किया।

नाटक-रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिए। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है। जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्यप्रणाली सन्दर्शन कर के दर्शक लोग पूर्वापर-विस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल उत्तम वस्तु चुन कर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु

की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथा स्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ है वही काव्यामोदी रसज्ञ मण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री संग्रह नहीं है, अथवा नाटक लिखना होगा, यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयंगम करके, नाटकरचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य प्रकृति की आलोचना करनी चाहिए। जो अनालोचित मानव प्रकृति हैं उनके द्वारा मानवजाति के अन्तर्भाव सब विशुद्धरूप से चित्रित होंगे, यह कभी सम्भव नहीं है इसी कारण से कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और शेक्सपियर के 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करै। तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुनै तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करै, वरंच समय में अश्व-रक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करै। यह न करने से मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थभाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय वाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

राजनीति, धर्म्मनीति, आन्वीक्षिकी, दंडनीति, सन्धि, विग्रह प्रभृति राजगुण, मंत्रणा, चातुरी, आद्य, करुणा प्रभृतिरस, विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव, तथा सात्विक भाव तथा व्यय, वृद्धि, स्थान प्रभृति त्रिवर्ग की समालोचना में सम्यक् रूप समर्थ हो तब नाटक लिखने को लेखनी धारण करें।

स्वदेशीय तथा भिन्न देशीय सामाजिक रीति व्यावहारिक रीति पद्धति का निदान, फल और परिणाम इन तीनों का विशिष्ट अनुसन्धान, नाटक-रचना का उत्कृष्ट उपाय है।

वेश और वाणी दोनों ही पात्र की योग्यतानुसार होनी चाहिए। यदि भृत्य-पात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद उसके हेतु अस्वाभाविक है वैसे ही पण्डितों के संभाषण की भाँति विशेष संस्कृतगर्भित भाषा भी उसके लिए अस्वा-भाविकी है। महामुनि भरताचार्य पात्र स्वभावानुकूल भाषण रखने का वर्णन अत्यन्त सविस्तार कर गये है, यद्यपि उनके नांदी रचनादि विषय के नियम हिन्दी

में प्रयोजनीय नहीं किन्तु पात्र स्वभाव विषयक नियम तो सर्वथा शिरोधार्य है।

नाटक पठन वा दर्शन में स्वभावरक्षा मात्र एक उपाय है जो पाठक और दर्शकों के मनःसमुद्र को भाव-तरंगों से आस्फालित कर देता है।

नाटकदर्शकगण विदूषक के नाम से अपरिचित नहीं हैं, किन्तु विदूषक का प्रवेश किस स्थान में योग्य है इसका विचार लोग नहीं करते। बहुत-से नाटक-लेखकों का सिद्धान्त है कि अथ-इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है। किन्तु यह एक भ्रम मात्र है। वीर वा करुणरस-प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृंगार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है, सो भी सब स्थल में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा प्रभृति का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुसुमवसंतादिक नामधारी, नाटा, मोटा, वामन, कुबड़, टेढ़े अंग का वा और किसी विचित्र आकृति का, किम्वा हकला, तोतला, भोजनप्रिय, मूर्ख, असंगत, किंतु हास्य रस के अविरुद्ध बात कहने वाला विदूषक होना चाहिए और उसका परिच्छद भी ऐसा हो जो हास्य का उद्दीपक हो।

संयोग शृङ्गार वर्णन में इसकी स्थिति विशेष स्वाभाविक होती है।

अथ रस वर्णन

शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शान्त, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द।

शृंगार, संयोग और वियोग दो प्रकार का। यथा—'शाकुन्तल' के पहले और दूसरे अंक में संयोग, पाँचवें-छठे अंक में वियोग।

हास्य, यथा—भाण प्रहसनों में।

करुणा, यथा—'सत्यहरिश्चन्द्र' में शैव्या के विलाप में, रौद्र, यथा—'धनंजयविजय' में युद्धभूमि वर्णन।

वीर रस चार प्रकार का। यथा—दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योगवीर। दानवीर, यथा—'सत्यहरिश्चन्द्र' में 'जेहि पाली इक्ष्वांकु सों' इत्यादि। सत्यवीर, यथा—'हरिश्चन्द्र' में 'वेचि देह दारा सुअन' इत्यादि। युद्धवीर, यथा—'नीलदेवी'। उद्योगवीर[14] 'मुद्राराक्षस'। भयानक, अद्भुत और वीभत्स, यथा—'सत्यहरिश्चन्द्र' में श्मशानवर्णन।

शान्त, यथा—'प्रबोध चन्द्रोदय' में; भक्ति, यथा—संस्कृत 'चैतन्यचन्द्रोदय' में; प्रेम, यथा—'चन्द्रावली' में। वात्सल्य और प्रमोद के उदाहरण नहीं हैं।

अथ रसविरोध

नाटकरचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृंगार के हास्यवीर विरोधी नहीं किन्तु अति करुणा, वीभत्स, रौद्र, भयानक और शान्त

विरोधी हैं तो जिस नाटक में शृंगाररस प्रधान अंगी भाव से हो उसमें ये न आने चाहिए। अतिकरुणा लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुणा तो वियोग में भी वर्णित होगी, किन्तु पुत्रशोकादिवत् अतिकरुणा का वर्णन शृंगार का विरोधी है। हाँ, नवीन (ट्रैजेडी) वियोगान्त नाटक-लेखक तो इस रस-विरोध करने को बाधित हैं। नाटकों की सौन्दर्यरक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नाश हो जाता है।

अथ अन्य स्फुट नाटक

नाटकरचना के हेतु पूर्वोक्त कथित विषयों के अतिरिक्त कुछ नायिकाभेद और कुछ अलंकारशास्त्र जानने की भी आवश्यकता होती है। ये विषय रसरत्नाकर, भारतीभूषण, लालित्यलता आदि ग्रन्थों में विस्तार रूप से वर्णित हैं।

आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटकरचना में उद्देश्य उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रन्थ का तादृश आदर नहीं करते। अर्थात् नाटक पढने या देखने से कोई शिक्षा मिले। जैसे—'सत्यहरिश्चन्द्र' देखने से आर्यजाति की सत्यतिज्ञा, 'नीलदेवी' से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है। इस मर्यादा की रक्षा हेतु वर्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुणविशिष्ट नायक को अवलम्बन करके नाटक लिखना योग्य है। इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा—'नहुष' नाटक में इन्द्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखलाया गया है। अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कटकमय दिखलाई जाय, नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।

अथ अभिनय विषयक अन्यान्य स्फुट नियम

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापरबद्ध होनी चाहिए कि जब तक अन्तिम अंक न पढ़ें किम्वा न देखें यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। यह नहीं कि 'सीधा एक को बेटा हुआ उसने यह किया वह किया' प्रारम्भ ही में कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर—शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं वैसे ही कृत्रिम बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है, किन्तु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्त्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर

रहैगी किन्तु बहुत-से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ैंगे। इस अवसर पर अभिनयचातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखैं किन्तु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

पात्रों के भाव—नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिए।

पात्रों का फिरना—यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किन्तु इस नियम-पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्रगण आपस में वार्ता जो करें उनको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करें। यथा—नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं' इत्यादि न कहैं। परस्पर वार्ता में हृदय के भावबोधक वाक्य ही कहने योग्य है। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्यरचना नाटक के उपयोगी नहीं होती।

अथ नाटकों का इतिहास

यदि कोई हमसे यह प्रश्न करे कि सबसे पहिले किस देश में नाटकों का प्रचार हुआ तो हम क्षण मात्र का भी विलम्ब किये बिना मुक्त कंठ से कह देंगे—भारतवर्ष में। इसका प्रमाण यह है कि जिस देश में संगीत और साहित्य प्रथम परिपक्व हुए होंगे वहीं प्रथम नाटक का भी प्रचार हुआ होगा। हम नहीं समझ सकते कि पृथ्वी की और कोई जाति भी भारतवर्ष के सामने इस विषय में मुंह खोले। आर्यों का परम शास्त्र वेद संगीत और साहित्यमय है। और जाति में संगीत और साहित्य प्रमोद के हेतु होते हैं किन्तु हमारे पूज्य आर्य महर्षियों ने इन्हीं शास्त्रों द्वारा आनन्द में निमग्न होकर परमेश्वर की उपासना की है। यहाँ तक कि हमारे तीसरे वेद साम की संज्ञा ही गान है। और किसके यहाँ धर्म संगीत-साहित्य-मय है? हमारे यहाँ लिखा है—

> वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
> तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति ॥ 1 ॥
> काव्यालापश्च येकेचित् गीतिकाव्यखिलानिच।
> शब्दरूपधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥ 2 ॥

तो जब हमारे धर्म के मूल ही में संगीत और साहित्य मिले हैं तब इसमें क्या सन्देह है कि इस रस के प्रथमाधिकारी आर्यगण ही हैं? इसके अतिरिक्त नाटकरचना में रंग, नट इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे सब प्राचीन काव्य,

कोष, व्याकरण और धर्मशास्त्रों में पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटकरचना हमारे आर्यगणों पर पूर्व काल से ही विदित है।

सर्वदा नट लोगों के ही द्वारा ये नाटक नहीं अभिनीत होते थे। आर्य राजकुमार और कुमारीगण भी इसको सीखते थे। महाभारत के खिल हरिवंश पर्व के विष्णु पर्व के 93वें अध्याय में प्रद्युम्न, साम्बादि यादव राजकुमारों का वज्रनाभ के पुर में जाना और वहाँ नट बनकर (कौबेरम्भाभिसार) नाटक खेलना बहुत स्पष्ट रूप से वर्णित है। वहाँ लिखा है कि जब प्रद्युम्न आदिक वीर वज्रनाभ के पुर में गये तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कुमारों को नाटक करने की आज्ञा देकर भेजा था। प्रद्युम्न सूत्रधार थे, साम्ब विदूषक थे और गद पारिपार्श्विक थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी गाने-बजाने का साज लेकर साथ गई थीं। पहले दिन लोगों ने रामजन्म नाटक किया जिसमें लोमपाद राजा की आज्ञा से गणिका लोगों का शृंगी ऋषि को ठग कर लाना बहुत अच्छी रीति से दिखलाया गया था। दूसरे दिन फिर रम्भाभिसार नाटक किया।[15] इसमें पहिले इन लोगों ने नेपथ्य बाँधा।[16] फिर स्त्रियों ने भीतर से बड़े सुन्दर स्वर से गान किया।[17] पीछे गंगा जी के वर्णन में प्रद्युम्न, गद और साम्ब ने मिलकर नान्दी गायी।[18] और तदन्तर प्रद्युम्न जी ने विनय के श्लोक पढ़ कर सभी को प्रसन्न किया।[19] और तब नाटक आरम्भ हुआ। इसमें शूर नामक यादव रावण बना, मनोवती नाम्नी स्त्री रम्भा[20], प्रद्युम्न नल कूबर और साम्ब विदूषक। इसी प्रकरण से यह बात सिद्ध होती है कि केवल नट ही नहीं, प्राचीन काल से आर्यकुल में बड़े-बड़े लोग भी इस विद्या को भलीभाँति जानते थे।[21]

मध्य समय के नाटक

मध्य समय के नाटककारों में कविकुल गुरु भगवान् कालिदास[22] मुख्यतम हैं। भवभूति[23] और धावक दूसरी श्रेणी में हैं। राजशेखर, जयदेव, भट्टनारायण, दंडी[24] इत्यादि तीसरी श्रेणी में हैं। अब जितने नाटक प्रसिद्ध हैं उनमें 'मृच्छकटिक' सबसे प्राचीन है। इसके पीछे 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशी' बने हैं। यहाँ पर एक बड़ी प्रसिद्ध बात का विचार करना है। प्राय: सभी प्राचीन इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि श्रीहर्ष कालिदास के पूर्व हुआ, क्योंकि 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने धावक का नाम लिया है, किन्तु 'राजतरंगिणी' में हर्ष नामक जो राजा हुआ है वह विक्रमादित्य[25] के कई सौ वर्ष पीछे हुआ है। अनन्त देव नामक राजा भोज के समय में था! अनन्त का पुत्र कलस हुआ जिसने आठ बरस राज्य किया। इसका पुत्र हर्ष था जिसने कई दिन मात्र राज्य किया था। कनिंघम के मत से हर्ष सन् 1088 ई० में और विल्सन के मत से 1054 ई० में हुआ था। यद्यपि राजतरंगिणीकार ने हर्ष को कवि लिखा है और बिह्लण और बिल्लण कवि भी इसके समय में

लिखे हैं किंतु धावक का नाम तथा 'रत्नावली' इत्यादि के बनने का प्रसंग कोई नहीं लिखा। राजतरंगिणीकार के मत से हर्ष के समय अत्यन्त उपद्रव रहा। और चारों ओर राजकुमार तथा उच्चद कुल के लोगों के रुधिर की नदी बहती थी। हर्ष श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती की भाँति मूर्तिपूजा के भी विरुद्ध था, इसी हेतु प्रजा उसको तुरुष्क पुकारती थी। इन बातों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि या तो धावकवाला श्रीहर्ष दूसरा है, कश्मीर का नहीं, या मालविकाग्निमित्रकार कालिदास वह जगत्प्रसिद्ध 'शकुन्तला' का कालिदास नहीं। दूसरी बात विशेष संभव बोध होती है क्योंकि 'शकुन्तला' और 'मालविकाग्निमित्र' की संस्कृत ही में भेद नहीं, काव्य की उत्तमता-मध्यमता में भी आकाश-पाताल का बीच है।

'राजतरंगिणी में' लिखा है कि कश्मीर के राजा तुंजीन के समय में चंद्रक कवि ने बड़ा सुन्दर नाटक बनाया। यह तुंजीन 'राजतरंगिणी' के हिसाब से गत कलि 3582 में अर्थात् आज से 1002 वर्ष हहले, ट्रायर के मत से 103 ई० पूर्व अर्थात् आज से 1986 वर्ष पहले, कनिंघम के मत से ईस्वी सन् 319 में अर्थात् 1564 वर्ष पहले, विलसन के मत से 104 ई० पूर्व अर्थात् 1987 वर्ष पहले, विल्फर्ड के मत से सन् 54 ईस्वी में अर्थात् 1829 वर्ष पहले हुआ था।

जिन-जिन संस्कृत नाटकों की स्थति मुझको उपलब्ध हुई है उनकी एक तालिका प्रकाश की जाती है। इसमें * ऐसा चिह्न जिन पर दिया है वे नाटक मेरे पढ़े हुए हैं और छपे भी हैं और जिन पर × ऐसा चिह्न है वे मेरे पढ़े तो हैं किन्तु छपे नहीं हैं और शेष भारतवर्ष में मिलते तो हैं किन्तु मेरे देखे हुए नहीं है। इन्हीं नाटकों में कोई-कोई ऐसे भी होंगे जो 'मृच्छकटिक' के पूर्व के बने होंगे किन्तु अब इस बात का पता नहीं लग सकता है यह सारी सृष्टि दो हज़ार वर्ष की है। जिस काल के अनन्त उदर में हम आर्यों के अनन्त ग्रन्थरत्न गल-पच गये वहाँ इनके पूर्व के नाटक भी गये। कालिदास, भवभूति प्रभृति महाकवियों के जीवनचरित स्वतंत्र आलोच्य विषय हैं, इस हेतु यहाँ नहीं लिखे गये।

अथ संस्कृत नाटकतालिका

शाकुन्तल*	(कालिदास)	प्रचण्डपाण्डव	
मालविकाग्निमित्र*	,,	बालरामायण*	
विक्रमोर्वशी*	,,	प्रसन्नराघव	(जयदेव)
मालतीमाधव*	(भवभूति)	अनर्घ्यराघव*	(मुरारि)
प्रियदर्शिका*	(श्रीहर्ष)	पुष्पमाला*	(चन्द्रशेखर)
धूर्तसमागम	(राजशेखर)	उदात्तराघव	
कर्पूरमंजरी×	,,	महारामायण	
विद्धशालभंजिका*		अङ्गदनाटक	

हनुमन्नाटक
मुद्राराक्षस* (विशाखदत्त)
वेणीसंहार* (नारायण भट्ट)
धनञ्जयविजय* (कांचन)
मृच्छकटिक* (शूद्रक)
जामदग्न्यजय
समुद्रमंथन
त्रिपुरदाह
शारदातिलक (शंकर)
ययातिचरित (रुद्रभट्ट)
यथातिविजय
ययातिशर्म्मिष्ठा
मृगांकलेखा (त्रिमल्लदेव के पुत्र विश्वनाथ)
हास्यार्णव ×
महावीरचरित* (भवभूति)
उत्तररामचरित* ,,
रत्नावली* (श्रीहर्ष)
नागानन्द* ,,
विदग्धमाधव × (रूपगोस्वामि)
राधामाधव
पारिजातक
कमलनीकलहंस (चूड़ामणि दीक्षित)
तप्तीसंवरण (त्रावंकोरराज)
मालमङ्गलभाण (मालमङ्गल)
कलावतीकामरूप
नग्नभूपतिग्रह नाटक
प्रियदर्शना
यादवोदय
बालिवध
अनेकमूर्त्त
मयपालिका
क्रीड़ारसातल
कनकावतीमाधव

विन्दुमती
केलिरैवतक
कामदत्ता
सुदर्शनविजय
वासन्तिकापरिणय
चित्रयज्ञ (वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य)
वृषभानुजानाटिका × (मथुरादास कायस्थ)
ऊषारागोदया × (रुद्रचन्द्रदेव)
मल्लिकामारुत* (उद्दण्ड)
बसंततिलकभाण* (वरदाचार्य)
मुकुंदानंद ×
नटक मेलक प्रहसन*
दानकेलिकौमुदी ×
अभिराममणि (सुंदर मिश्र)
मधुरानिरुद्ध (चन्द्रशेखर)
कंसबध × (कृष्णकविशेष)
प्रद्युम्नविजय } शंकरदीक्षित, बाल-कृष्णदीक्षित के पुत्र
श्रीरामचरित, धूर्त्तनर्त्तक } साम्राज्यदीक्षित
कौतुक सर्वस्व (गोपनाथ पं०)
प्रबोधचंद्रोदय* (कृष्णमिश्र)
चैतन्यचंद्रोदय × (कर्णपूर)
संकल्पसूर्योदय* (वेदांताचार्य)
रामाभ्युदय
कुंदमाला
सौगंधिकाहरण
रैवतकमदनिका
कुसुमशेखरविजय
नर्मवती

विलासवती
शृंगारतिलक (रुद्रभट्ट)
देवीमहादेव
ताराशशांक (श्रीधर)
चंडकौशिक* (आर्यक्षेमीश्वर)
जानकीराघव
रुक्मिणीपरिणय × (रामचंद्र)
गृहवृक्षवाटिका
कुलपत्यंग
वध्यशिला
तरंगदत्त (प्रकरण)
लीलामधुकर
दूतांगद ×
मुंडित प्रहसन × (सुभट)
नाटक सर्वस्व
उदयन चरित
कृत्यारामायण
रामाभिनंद
रामचरित
चंद्रकला (विश्वनाथ)
प्रभावतीपरिणय
पार्वतीस्वयंवर
सुभद्राविजय
सुभद्राहरण
भैमीपरिणय
रुक्मिणीकल्याण (चूड़ामणि)
वसुमती चित्रसेन
विद्यापरिणय (वेदकविस्वामी)
अहल्या संक्रंदन
आनंदविलास
मैथिलीपरिणय
कनकवल्लीपरिणय
रामनाटक
सुभद्राधनंजयविजय (गुरुराम)

वकुलमालिनी परिणय (कृष्ण दीक्षित)
वसंतभूषणभाण
इंदिरापरिणय
कल्याणीपरिणय
कुसुमवाणविलास
वटुचरित्र नाटक
मरकतवल्लीपरिणय
चूड़ामणि नाटक
सामवत नाटक (पं० अंबिकादत्त व्यास साहित्याचार्य)
सौगंधिका हरण
कुसुमशेखरविजय
छलितराम
कंदर्पकेलि
स्तंभितरंभ
विजयपारिजात वा आसामविजय (हरिजीवन)
पुष्पदूषितक (प्रकरण)
ललिता नाटिका
जानकीपरिणय × (रामभद्र दीक्षित)
माधवाभ्युदय (वेदांताचार्य)
प्रद्युम्नानंदनीय (वेंकटाचार्य)
पंचवाणविजय
रविकरण कूचिका
सुभद्राधनंजय (गुरुराम)
कन्यामाधव
त्रिपुरारि
सत्यभामापरिणय (कृष्णकवींद्र)
भिक्षाटन नाटक
मंत्रांग नाटक
संवरणा नाटक
सीताराघव नाटक
हरिश्चंद्र यशश्चंद्रिका

नरकासुरव्यायोग
अरुणामोदिनी
वृहन्नाटक
काशिदास प्रहसन
अंबालभाण (श्रीवरदाचार्य)
कृष्णभक्तिचंद्रिकानाटक × (अनंतदेव)
अतंद्र चंद्रिका (विद्यानिधि)
पार्थ पराक्रम
भर्तृहरिनिर्वेद
धर्मविजयनाटक (शुक्ल भूदेव)
सत्संगविजयनाटक (वैद्यनाथ)
चंद्रप्रभा ×
कर्णसुंदरी नाटिका
रतिवल्लभ × (जगन्नाथ पंडितराज)
जगन्नाथ वल्लभनाटक
ध्रुवचरित्र (पं० दामोदरशास्त्री)

अथ भाषानाटक

हिंदी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवाज कवि का 'शकुन्तला' नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ 'समयसार' नाटक, व्रजवासीदास प्रभृति के 'प्रवोधचन्द्रोदय' नाटक के भाषा अनुवाद, नाटक नाम से अभिहित हैं किन्तु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है अर्थात् नाटक रीत्यनुसार पात्रप्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषा कविकुल मुकुट माणिक्य देवकवि का 'देवमायाप्रपंच नाटक' और श्रीमहाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' नाटक तथा श्रीमहाराज विश्वनाथसिंह रीवाँ का 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत नियमों का प्रतिपालन इन में नहीं है और छन्दप्रधान ग्रंथ हैं। विशुद्ध नाटक रीति से पात्रप्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र जी) का है। इस में इंद्र को ब्रह्महत्या लगना और उसके अभाव में नहुष का इन्द्र होना, नहुष का इन्द्रपद पाकर मद, उसकी इन्द्रानी पर कामचेष्टा, इन्द्रानी का सतीत्व, इन्द्रानी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोत कर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्व पद पाना, यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अंगरेज़ी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं। उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अंगरेज़ी की शिक्षा के भी उनको वर्त्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म ही के विषय में ही वह इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्व-पालन के हेतु अन्य देवता मात्र की पूजा और व्रत घर मे उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट-गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो

हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी लोकनिन्दा थी। हम लोगों को अंगरेज़ी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। 'नहुष' नाटक बनने का समय मुझ को स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे जब कि मैं सात बरस का था 'नहुष' नाटक बनता था। केवल 27 वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देहत्याग किया किन्तु इसी अवसर में चालीस ग्रन्थ (जिन में बलरामकथामृत, गर्गसंहिता, भाषावाल्मीकि रामायण, जरासन्धवध महाकाव्य और रसरत्नाकर ऐसे बड़े-बड़े भी हैं) बनाए।

हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा 'विद्यासुंदर' है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवासदास का 'तप्तासंवरण', पंचम हमारा 'वैदिकीहिंसा', षष्ठ प्रिय मित्र बाबू तोताराम का 'केटोकृतान्त' और फिर तो और भी दो-चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं। सर विलियम म्यौर[26] साहिब के काल में अनेक ग्रन्थ बने हैं क्योंकि वे ग्रन्थ बनानेवालों को पारितोषिक देते थे। इसी से 'रत्नावली' भी हिन्दी में बनी[27] और छपी है किन्तु इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है। काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बलखाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकान्तर स्थित आत्मा को नरक कष्ट देना है।

इस रत्नावली की दुर्दशा के दो-चार उदाहरण यहाँ दिखलाए जाते है। यथा—'तब यह प्रसंग हुआ कि यौगन्धरायण प्रसन्न होकर रंगभूमि में आया और यह बोला और गान कर कहता है कि अए मदनिके।' अब कहिए, यह राम कहानी है कि नाटक?

और आनन्द सुनिए—'जो आज्ञा रानीजी की ऐसा कर तैसा ही करती है हाहाहा!!!'

एक आनन्द और सुनिए। नाटकों में कहीं-कहीं आता है—'नाट्ये नोपविश्य' अर्थात् नाच बैठना नाट्य करता है। इसका अनुवाद हुआ है 'राजा नाचता हुआ बैठता है'। 'नाट्येनोपविश्य' की दुर्दशा हुई है 'ऐसे नाचते हुई लिखती है'। ऐसे ही

'लेखनी को लेकर नाचती हुई', 'निकट बैठकर नाचती हुई'।

और आनन्द सुनिए— 'इतिविष्कम्भकः' का अनुवाद हुआ है 'पीछे विष्कम्भक आया'। धन्य अनुवादकर्ता! और धन्य गवर्नमेंट जिसने पढ़ने वाले की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा!!!

गवर्नमेंट की तो कृपादृष्टि चाहिए, योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं। फालेन साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपये से विशेष व्यय किया गया तो यह कौन बड़ी बात है। 'सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास'। यहाँ तो 'भेंट भए जय साहि सों भाग चाहियत भाल' वाली बात है। किन्तु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहाँ लौं करैं चतुराई चितेरो'।

यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रन्थ भी बनते जाएँगे। और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षयरत्न भांडागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करै।

यहाँ पर यह बात प्रकाश करने में भी हम को अतीव आनन्द होता है कि लण्डन नगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब[28] ने भी 'शकुन्तला' का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। वह अपने 20 मार्च के पत्र में हिन्दी ही में मुझको लिखते हैं, 'उस पर भी मैंने हिन्दी भाषा के सिखलाने के लिए कई एक पोथियाँ बनाई हैं उनमें से हिन्दी भाषा में शकुन्तला नाटक एक है।'

हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह 'जानकीमंगल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्य्य नारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल 11 संवत् 1925 में बनारस थिएटर में बड़ी धूमधाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकालकर यह नाटक पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगो ने भी 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्टजन का नाटक-समाज नहीं है।

अथ हिन्दी नाटकतालिका

नहुषनाटक	(श्रीगिरधरदास)	विद्यासुन्दर
शकुन्तला	(राजा लक्ष्मण सिंह)	अन्धेर नगरी
,,	(फ्रेडरिक पिकाट साहब)	विषस्य विषमौषधम्
मुद्राराक्षस	(हरिश्चन्द्र)	सती प्रताप
सत्य हरिश्चन्द्र	,,	चन्द्रावली

माधुरी (हरिश्चन्द्र)
पाखंड विडम्बन ,,
नवमल्लिका ,,
दुर्लभबन्धु ,,
प्रेमयोगिनी ,,
जैसा काम वैसा परिणाम ,,
कर्पूरमंजरी ,,
नीलदेवी ,,
भारत दुर्दशा ,,
भारत जननी ,,
धनंजय विजय ,,
वैदिकी हिंसा ,,
बूढ़े मुँह मुँहासे लोग ,,
देखे तमाशे (बूड़ो शालिकेर का अनुवाद) (बाबू गोकुल चन्द)
अद्भुत चरित्र वा गृहचंडी (श्रीमती)
प्रासंवरण (लाला श्रीनिवास दास)
रणधीर प्रेममोहिनी ,,
केटोकृतान्त (बाबू तोताराम, भारत बंधु सम्पादक)
सज्जाद सुम्बुल (बाबू केशोराम भट्ट, बिहारबन्धु सम्पादक)
शमशाद सौसन ,,
जय नारसिंह की (पं० देवकीनन्दन तिवारी, प्रयाग समाचारपत्र सम्पादक)
होली मगेश ,,
चक्षुदान ,,
पद्मावती, शर्मिष्ठा, चंद्रसेन (पं० बालकृष्ण भट्ट, हिन्दीप्रदीप सम्पादक)
सरोजिनी (पं० गणेशदत्त)

सरोजिनी (राधाचरण गोस्वामी, भारतेन्दु सम्पादक)
मृच्छकटिक (पं० गदाधरभट्ट मालवीय)
मृच्छकटिक (पं० दामोदर शास्त्री)
मृच्छकटिक (बाबू ठाकुरदयाल सिंह)
वारांगना रहस्य (बाबू बदरीनारायन चौधरी, आनन्दकादम्बिनी के सम्पादक)
विज्ञान विभाकर (पं० जानी विहार लाल)
ललिता नाटिका (पं० अम्बिका दत्त व्यास साहित्यचार्य, वैष्णव पत्रिका और पियूषप्रवाह के सम्पादक)
देवपुरुष दृश्य ,,
वेणीसंहार नाटक ,,
गोसंकट ,,
जानकीमंगल (पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी)
दु:खिनीबाला (बाबू राधाकृष्णदास)
पद्मवती ,,
महारास (महाराजाधिराज कुमार लाल खड्ग बहादुरमल्ल, युवराज मझौली राज)
रामलीला 7 कांड (पं० दामोदर शास्त्री, विद्यार्थी सम्पादक)
बालखेल ,,
राधामाधव ,,
वेनिस का सौदागर (बाबू बालेश्वर प्रसाद, काशी पत्रिका सम्पादक)
,, (बाबू ठाकुरदयाल सिंह)

योरप में नाटकों का प्रचार

योरप में नाटकों का प्रचार भारतवर्ष के पीछे हुआ है। पहिले दो मनुष्यों के सम्वाद को ही वहाँ नाटकों का सूत्रपात मानते हैं। प्राचीन ईसाई धर्मपुस्तक में 'बुक अव जाब' और सुलैमान के गीतों में ऐसे सम्वाद मिलते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त हिब्रू भाषा में और कोई प्राचीन नाटक का ग्रन्थ नहीं। योरप में सबसे प्राचीन नाटक यूनान में मिलते हैं और यह निश्चय अनुमान हुआ है कि भारतवर्ष से वहाँ यह विद्या गई होगी। यूनान में एथेन्स प्रदेश में नाटकों का प्रचार विशेष था और डायोनियस[29] नामक देवता के मेले में नाटक प्रायः खेले जाते थे। अनुमान होता है कि बैक्सस[30] नामक देवता की पूजा से वहाँ इनका चलन हुआ। प्राचीन काल से यूरोप के नाटक संयोगान्त और वियोगान्त—इन दो भागों में बँटे हैं। आरिअन नामक कवि ने 580 वर्ष ईसा के पूर्व वियोगान्त नाटक की सृष्टि की। ट्रैजिडी (Tragedy) शब्द बकरे से निकला है जिससे अनुमान होता है कि बैक्सस देवता के सामने बकरे का बलि दिया जाता था और उसी समय पहिले यह खेल आरम्भ हुआ, इससे वियोगान्त नाटक की संज्ञा ट्रैजिडी हुई। (Comedy) कामेडी ग्राम शब्द से निकला है अर्थात् ग्राम्यसुखों का जिन में वर्णन हो वह कामेडी (संयोगान्त) है। थेसपिस ने (536 ई० पू०) प्रथम रंगशाला में एक शिष्य का वेष देकर मनुष्यों को सम्वाद पढ़वाया और उसी पात्र को फ्रिनिशश ने 512 ई० पू० पहले-पहल स्त्री का वेष देकर रंगाशाला में सबको दिखलाया। इसके पीछे इशिलश के काल तक वियोगान्त नटकों में फिर कोई नई उन्नति नहीं हुई।

आरिअन ही के समय में वरन् उसी के लाग पर सुसेरियन ने संयोगान्त नाटकों का प्रचार सारे यूनान में फिर-फिर कर किया और एक छोटी-सी चलती-फिरती रंगशाला भी उनके साथ थी। उस काल के ये नाटक अब के बंगाली यात्रा वा रास के-से होते थे। उस समय में वियोगान्त नाटक गम्भीराशय और विशेष चित्ताकर्षक होने के कारण सभ्य लोगों में और संयोगान्त ग्राम्य लोगों में खेले जाते थे। एपिकार्मस, फार्मस, मैग्नेस, क्रेट्स, क्रेटनस यूपोलिस, यूफेटिक्रेट्स और एलिस्टेफेन्स—ये सब उस काल के प्रसिद्ध कामेडी-लेखक थे। बीच में लोगों ने संयोग-वियोग मिलाकर भी पुस्तकें लिखकर इस विद्या में उन्नति की।

वियोगान्त नाटक में इशिलस सोफाकोलस और यूरुपिडीस, ये तीन बड़े दक्ष हुए। इन कवियों ने स्वयं पात्रों को अभिनय करना सिखाया और स्वाभाविक भावभंगी दिखलाने में विशेष परिश्रम किया। अरस्तू ने इन्हीं तीनों कवियों की अपने ग्रन्थ में बड़ाई की है।

रोमवाले नाटकविद्या में ऐसे दक्ष नहीं थे। इन लोगों ने यूनान वालों

ही से इस विद्या का स्वाद पाया। शोक का विषय है कि प्लाटस और टेरेन्स के अतिरिक्त इन कवियों में से किसी का न नाम मालूम है, न कोई ग्रन्थ मिला। आगस्टस के प्रसिद्ध समय में रोम में इस विद्या की उन्नति हुई थी किन्तु सेनीका नामक नाटक के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का नाम तक कहीं नहीं मिला। रोम के बड़े-बड़े महलों और वीरों के साथ वहाँ की विद्या और कला भी धूल में मिल गई, यहाँ तक कि उनका नाम लेनेवाला भी कोई न बचा। जब रोम में क्रिस्तानी मत फैला तो ऐसे नाटक वा खेल राजनियम के अनुसार निषेध कर दिए गए। केवल पिता-पुत्र एपोलीनारी और ग्रेगरी ने इंजील से कथा भाग लेकर क्रिस्तानों का जी बहलाने को कुछ सवांग इत्यादि बनाए थे।

योरप में इटलीवालों ने पहले-पहल ठीक तरह से नाटक के प्रचार में उद्योग किया और रोमवालों के चित्त में फिर से मुरझाए हुए इस बीज को हरा किया। सोलहवीं शताब्दी में ट्रिसीनो कवि का सोफोनिस्वा नामक वियोगान्त नाटक पहले-पहल छापा गया। आरिआस्टोवैविना और मैशियाविली ने ट्रिसीनो की भाँति और कई नाटक लिखे। इसी शताब्दी के अंत में गिएम्बाटिस्टालिआ-पोर्टा ने प्रहसन पहले-पहल प्रकाश किया और इस में परिहास की बातें ऐसी सुरम्यता से वर्णन की कि लोगों ने नाटक की इस शैली को बहुत ही प्रसन्नता से स्वीकार किया। इसी समय में हिशी, बोरिगनी, ओडो और बुओनाटोरी ने जातीय स्नेह बढ़ानेवाले वीररसाश्रित इतिहास खेल लिखे और प्रचार किए। सतरहवीं शताब्दी में रिनुशिनी ने पहले-पहल आपेरा (संगीत नाट्य) का आरम्भ किया। इसमें उसने ऐसे उत्तम रीति से प्रेम, देशस्नेह, वीर और करुणा रस के गीत बांधे कि सब लोग और नाटकों को भूलकर इसी की ओर झुके। मैरी नामक कवि ने इस की और भी उन्नति की। अब स्पेन, फरासीस, चारों ओर इसी गीतिनाट्य का चर्चा फैल गया। इसके पीछे जीनो, मेटैस्टेसिओ, गोलटोनी, मोलिएर, रिशोबिनी, गोज्जी, गालडोनी, आलफीरो, मांटी, मानूजानी और निकोलिनी इत्यादि प्रसिद्ध कवियों ने पूर्वोक्त नाटकों के ऐसी उत्तमता से प्रगट किये और नाट्य में ऐसी उन्नति की कि इटली इस विद्या में सारे योरोप की गुरु मानी गई।

योरप के और देशों में नाटकों के प्रचार को पादरियों ने बहुत रोका। जहाँ कोई नाटक खेलता वे पादरी उस को धर्मदंड देने को दौड़ते। विलेना, मालिनाना, मारगो और रूएडा नामक कवियों ने इस आपत्ति से बचने को अपनी लेखनी को धर्मविषय के नाटकों के लिखने पर परिचालित किया। विशेष करके कार्नेलूस ने अपने नाटक ऐसी उत्तमता से लिखे कि लोगों के चित्त से पादरियों की बुराई का संस्कार एकबारगी उठा दिया। इसके पीछे कल्डिरन भी ऐसा ही [illegible] हुआ कि उनको राजनियम-विरुद्ध होने पर सैंतीस बरस के

वास्ते नाटक लिखने की राजाज्ञा मिली। ये दोनों कवि सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व्व भाग में हुए थे।

फरासीस में नाटक के विषयों में बहुत-सा वादानुवाद होता रहा और इसके होने के नियमों पर लोगों में बड़ा चरचा रहा किन्तु कोई बहुत उत्तम नाटक-लेखक उस समय नहीं हुआ। जाडिली ने पहले-पहल पाँच अंक का एक वियोगान्त नाटक ठीक चाल पर बनाया और फरासीस के दूसरे हेनरी बादशाह के सामने वह खेला गया। चौदहवें लुइस के दरबार में कार्निली, मालिएरी और रैसिनी क्रम से एक-दूसरे अच्छे नाटकवाले हुए। इस के पीछे वालटायर बड़ा प्रसिद्ध हुआ और फिर चार-पाँच और प्रसिद्ध कवि हुए।

जर्मनी के नाटक के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक कोई भी विशेष बात नहीं। लेसिंग ने पहले-पहल अपनी धूमधाम की समालोचना में जर्मनी का ध्यान इधर फेरा। इसके पीछे गोथी और सिलर—यह दो बड़े प्रसिद्ध लेखक हुए।

इंग्लैण्ड के नाटकों का इतिहास अत्यन्त शृङ्खलाबद्ध है। पहले यहाँ केवल मत सम्बन्धी नाटक होते थे और इनका प्रबन्ध भी पादरियों के हाथ में रहता था। ये नाटक दो प्रकार के होते थे—एक धर्मसम्बन्धी आश्चर्य घटनाओं के, दूसरे शिक्षासम्बन्धी। इंग्लैण्ड के पुनस्संस्कार ने इन पुरानी बातों में कोई स्वाद बाकी न रक्खा। यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी के मध्य में संयोग और वियोग के नाटक स्वतंत्र रूप से वहाँ प्रचण्ड हुए। पहला संयोगान्त नाटक सन् 1557 में निकोलस उडाल ने लिखा। ठीक उसके दस बरस पीछे बीबी नोरटेन और लार्ड वकहर्स्ट ने मारवूडाक नामक पहला वियोगान्त नाटक बनाया। उसके पीछे स्टिल, किड, लाज, ग्रीन, लायली पील, मार्ली और नैश इत्यादिक कई प्रसिद्ध नाटककार हुए। जगत्विख्यात शेक्सपीयर ने अपने वाक्यमाधुर्य के आगे सब को जीत लिया। यह प्रसिद्ध कवि सन् 1564 में स्ट्रम्ट फोर्ट वार्विक्शायर में उत्पन्न हुआ। इसका पिता ऊन का व्यवसाय करता था और उसके दस लड़कों में शेक्सपीयर सब से बड़ा था। काल पाकर यह ऐसा प्रसिद्ध कवि हुआ कि पृथ्वी के मुख्य कवियों की गणना में एक रत्न समझा जाने लगा। इस को जैसी कविताशक्ति थी वैसा ही विचित्र कथाओं को बाँधने की भी शक्ति थी। जिसके मस्तिष्क में ये दोनों शक्तियाँ एकत्र हों उसके बनाये हुए नाटकों का क्या पूछना है! नाटक भी इसने बहुत बनाए और सब रस के। निसन्देह यह मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि का एक रत्न हुआ है।

बेनजान्सन, ब्यूमौन् और फ्लेचर—ये तीन शेक्सपीयर के समकालीन प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। मैसिन्जर, फोर्ड और शरली के काल तक इंग्लैंड की प्राचीन नाटक-प्रणाली समाप्त होती है। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ड्राइडन ने नई

प्रणाली के नाटक लिखने आरम्भ किए। अठारहवीं शताब्दी में ली, आटवे, ग्रे, कानग्रीव, सिवर, विचरली, वैनब्रो, फारक्वहर, एडिसन जान्सन, यंग टामसन, लिलो, मूर, गैरिक, गोल्डस्मिथ, कालमन्स, कम्बरलैंड, हालक्राफ्ट, वीवी इन्चवाल्ड, लूइस, मैटूरिन नैट्यूरिन तथा आधुनिक काल में शेरिडन नोल्स, वुलवर-लिटन, लॉर्ड बैरन, कालेरिज, हेनरी, टेलर, टालफोर्ड, जेरल्ड, ब्रूक्स, मार्स्टन, टामटेलर, चार्ल्स रीड, राबर्टसन, विल्स बैरन, गिल्बर्ट, स्विनबर्न, टेनीसन और ब्रौनिङ्ग प्रसिद्ध नाटककार गद्य-पद्य के कवि हुए हैं।

इंग्लैंड में इन नाटक लिखनेवालों के हेतु एक राजनियम है जिससे अपने जीवित समय में कवि लोग और उनके पीछे उनके उत्तराधिकारी कविस्वत्व का भोग कर सकते हैं।

['भारतेन्दु ग्रन्थावली' से साभार]

सन्दर्भ-संकेत

1. अवतारों का वर्णन भक्तकाल में एक ही छप्पय में लिखा है :—

जय-जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि बावन।
परसुराम रघुवीर कृष्ण कीरति जगपावन॥
बौध कलंकी व्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
यज्ञ ऋषभ हयग्रीव ध्रुवहि बर देन धन्वंतर॥
बद्रीपति दत्त कपिल देव सनकादिक करुना करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर अग्रदास उर पद धरौ॥

2. आशी:—नाटक में जो आशीर्वाद कहा जाय। यथा, शाकुन्तल में 'ययातिरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव'।
3. 'प्रकरी नायकस्य स्यान्नाटकीय फलान्तरम्'।
4. 'गुणाख्यानं विलोभनं' यथा, वेणीसंहार में 'नाथ किं दुक्करं तुए परिकुविदेते'।
5. 'सम्फेटो रोष भाषणम्' यथा, वेणीसंहार में 'राजा—अरे मरुत्तनय! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकर्म श्लाघयसि'।
6. संधियाँ, यथा—'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः इति पंचास्य भेदाः स्युः'।
7. वर्तमान समय में जहाँ-जहाँ ये दृश्य बदलते हैं उसी को गर्भांक कहते हैं।

8. 'मुद्राराक्षस' में भी कई उदाहरण इसके प्रत्यक्ष मिलते हैं। मलयकेतु राक्षस से मिलने जाता है, यह कहकर उसी अंक में कहते हैं कि आसन पर बैठा राक्षस दिखलाई पड़ा। श्मशान से चंदनदास को लेकर चांडाल कुछ बढ़ कर पुकारता है कि भीतर कौन है; अमात्य चाणक्य से कहो इत्यादि। अर्थात् पूर्व के दोनों दृश्य बदल कर राक्षस के और चाणक्य के घर के दृश्य दिखलाई पड़े। यह न हो तब तो नाटक निरे व्यर्थ हो जाते हैं जैसे रास में और महाराष्ट्रों के नाटक में शतरंजी और मशालची को दिखलाकर नायिका-नायक कहते हैं कि अहा देखो! यह फुलवारी वा नदी कैसी सुंदर है। इससे जहाँ पात्र जैसे स्थान का अपने वाक्य में वर्णन करें वा जिस स्थान की वह कथा हो उसका चित्र पीछे पड़ा रहना बहुत ही आवश्यक है।
9. इस परदे पर कोई सुंदर मनोहर नदी, पर्वत, नगर इत्यादि का दृश्य वा किसी प्रसिद्ध नाटक के किसी अंक का चित्र दिखलाना अच्छा होता है।
10. यहाँ प्रवर्त्तक और अवगलित के लक्षण ग्रंथकार ने भूल से नहीं लिखे। जहाँ वर्त्तमान समय को सूत्रधार वर्णन करता हो और उसी का सम्बन्ध लिये पात्र का प्रवेश हो उसे प्रवर्त्तक कहते हैं। जहाँ दूसरे के समावेश से (उपमादि द्वारा) दूसरा कार्य सिद्ध हो (दूसरे का प्रवेश हो) उसे अवगलित कहते हैं। यथा, शाकुंतल। विशेष विवरण संस्कृत ग्रंथों में है।—सं०
11. हिंदुस्तान से नृत्यविद्या उठ गई, यह विद्या आगे इस देश में ऐसी प्रचलित थी कि सब अच्छे लोग इसको सीखते थे। इसके शास्त्र अब तक कहीं-कहीं लुब्ध होते हैं और उनसे इस विद्या का महत्त्व प्रत्यक्ष प्रगट होता है। संगीत-शास्त्र का यह एक अंग है। वाद्य, नृत्य और गाना—यह तीनों वस्तु जिसमें हो उसकी संगीत संज्ञा है। इस काल में हिंदुस्तान में संगीतशास्त्र जाननेवालों का कुछ आदर नहीं और लोग इस विद्या से लज्जा करते हैं परंतु ये ही इस देश के दुर्दिन का उदाहरण हैं। अब भी भारतवर्ष के जिस प्रदेश में यह विद्या बच गई है वहाँ बहुत अच्छी है जैसा कि 1871 ई० में श्री महाराज व्यंकटगिरि के संग एक नर्त्तकी शारदा नाम की आई थी। निसन्देह वह इस विद्या में बहुत प्रवीण थी। नृत्त और नृत्य दोनों में अपूर्व्व काम करती थी। इस देश की नर्त्तकी तो केवल मुखावलोकन ही के योग्य होती हैं, गुण तो उनके पास से भी नहीं निकलता, परन्तु वह "यथानाम तथागुण:" को सत्य करती थी। नृत्य और नृत्त में यह भेद है कि "भवेद्भावाश्रयंनृत्तं-नृत्यताललयाश्रयम्"—जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त और जिसमें लय मुख्य हो वह नृत्य कहलाता है। भाव नेत्र, भौंह, मुख और हाथ और स्वर से भी प्रकट होते हैं। लय भी हाथ, पैर, गले और भौंह से होती है। नृत्य के शास्त्रों में

108 भेद लिखे हैं और लाग-डाँट, उड़प, तिरप, हस्तक, भेद इत्यादि इसके अंग हैं, जिसमें केवल घुंघरू बजाने के 7 मुख्य भेद हैं। लास्य और ताण्डव इसके दो मुख्य अंग हैं और यह नृत्त एक से लेकर बहुत-से मनुष्यों से भी होता है। पुरुष और स्त्री दोनों इसके अधिकारी हैं परन्तु नृत्तभेद से किसी में केवल पुरुष, किसी में केवल स्त्री और किसी में दोनों होते हैं। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह विद्यासम्बन्धी संगीतशास्त्र हम लोगों में फैले और यह प्रचलित मूर्खतामय लज्जा के कारण विषयरूपी संगीत हमारे शत्रुओं को मिलै।

12. यद्यपि छापे की विद्या बहुत दिनों से भारतवर्ष में प्रचलित है इसमें कुछ सन्देह नहीं, किन्तु आजकल जैसी इसकी उन्नति है और इससे पत्र और पुस्तक आदि छप-छप के प्रकाशित होते हैं, यह भी कभी यहाँ था कि नहीं सो कुछ निश्चय नहीं है। श्रीकृष्ण के समय जब राजा शल्व ने द्वारवतीपुरी को आक्रमण किया, उस समय वहाँ यह बन्दोबस्त किया था कि "नचाऽमुद्रोऽभिनिर्याति नैवात्तः प्रविशेदपि" (महाभारत, वनपर्व); अर्थात् बिना राजकीय नाम की मोहर छाप के कोई नगर से निकल नहीं सके और कोई भीतर न आवे, यहाँ स्पष्ट ही देख लीजिए कि छापे की मुद्रा से, एक जगह के अक्षर दूसरी जगह उतारे जाते थे। 'मुद्राराक्षस' नाटक, जो राजा चन्द्रगुप्त के समसामयिक या कुछ उत्तरवर्ती काल में बना है, यहाँ भी राक्षस नामांकित मुद्रा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार यद्यपि मुद्रण विधि का मूल तो आर्य्यशास्त्रों में प्रायः मिलता है, किन्तु इसकी उन्नति करके देशान्तरीय लोगों ने जैसा इससे लाभ उठाया है वैसा भारतीय आर्य्य लोगों ने कुछ भी नहीं किया, यह सभी कोई कह सकते हैं; अतएव यह मुद्रण विद्या देशान्तर ही से चली और अनार्य्य लोग ही इसके आद्य आचार्य्य हुए, यह बात हम को भी खुले मुँह कहनी पड़ती है।

छापा यंत्र बनाने के निमित्त अनेक लोग ही सम्मान प्राप्त होने के योग्य हैं, किन्तु वास्तव में इंग्लैण्ड देश के हार्लेम् नगर में यह यन्त्र पहले ही पहले निर्मित हुआ, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। उक्त नगर के शासन-कर्त्ता लोरेंस कोम्भर साहिब ने शक 1440 (चौदह सौ चालीस) में इसका निर्माण किया और आद्य प्रादुर्भावकर्त्ता के निमित्त, सबके प्रथम वही सम्माननीय हुआ। वह एक दिन अपने समीपस्थ किसी बगीचे में जाके एक वृक्ष की गीली त्वचा काट के, उससे अपने नाम के अक्षर बना-बना एक क्रीड़ा-सी कर रहा था। वे ही अक्षर काट-काट के जब उसने एक किसी कागज के ऊपर रख दिये थे, उसी समय एक वायु का झोंका आया और वे अक्षर जो उस वृक्ष के रस से गीले हो रहे थे, उनकी समस्त आकृति वायुवेग

से हठात् उस कागज पर उखड़ आयी। साहिब ने जब उक्त घटना देखी तो पीछे अपनी विवेचना द्वारा वह और-और भी अनेक प्रकार की परीक्षा करने लगा, फिर उसने काष्ट के अक्षर बना के एक प्रकार के सघन और द्रव वस्तु मे उनको डुबाके छापा किया, तब और भी कुछ उत्तम छपा हुआ मालूम दिया। शेष में उसने शीशा एवं शीशा और राँगा मिले हुए धातु से अक्षर बना के यत्र के निमित्त एक स्वतंत्र स्थान निर्माण किया। इस प्रकार उस काल से ले के अद्य पर्य्यन्त इस उत्तम मुद्रणविद्या की वृद्धि होती ही चली आती है। उक्त लौरेंस साहिब के पास एक उसका नौकर 'योहन्‌फस्तत्' नामक रहता था। उसने गुप्त भाव से अपने स्वामी की विद्या चुरायी और वहाँ से आके मेण्डस नामक नगर में, उक्त मुद्रणविद्या का प्रकाश किया। अतएव वह उस देश में उस नूतन विद्या द्वारा विद्वान् और मायावी के नाम से स्वयं विख्यात हुआ।

भारतवर्षीय उन्नति के समय और उसके बाद जब यूनान और रोम-देशीय लोगों की उन्नति का समय आया तो, वहाँ भी केवल जो धनी और बड़े आदमी होते थे, अथवा अधिक परिश्रम करते थे, वही हस्तलिखित पुस्तकों द्वारा विद्या उपार्जन कर सकते थे, किंतु आज छापे द्वारा विविध विद्याविभूपित पुस्तकें सर्वसाधारण को सहज ही में प्राप्त हो सकती हैं, इससे मनुष्य समाज में एक नूतन युग-सा आविर्भूत हुआ दिखायी देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। (ध० दि०)

13. इस प्रसिद्ध नाटक के मंगलाचरण का श्लोक 'यास्रष्टु:सृष्टिराद्या वहति विधिहुतं याहविर्या च होत्री ये द्वे कालं विधत्त: श्रुतिविषयगुण या स्थिता व्याप्यविश्वम्।' या 'माहुस्सर्ववीजप्रकृतिरिति यथा प्राणिन: प्राणवन्त: प्रत्यक्षाभि: प्रसन्न स्तनुभिरवतु वस्ताभिष्टाभिरीश:' बहुत प्रसिद्ध है और सब टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं तथापि मुझे ऐसा निश्चित होता है कि कालिदास ने क्षिति इत्यादि शब्दों से श्रीशिवजी का विराट स्वरूप वर्णन नहीं किया है क्योंकि उन मूर्तियों का 'प्रत्यक्षाभि:' यह विशेषण दिया है और लोग 'यास्रष्ट; सृष्टिराद्या' इसका अर्थ आकाश करते हैं तो आकाश क्या अक्षि का विषय है ? इससे मेरे ध्यान में आता है कि शिवजी की जो प्रत्यक्ष परम सुन्दरी मूर्ति है यह उसी का वर्णन है। जैसे :—

'यास्रष्टु सृष्टिराद्या' अर्थात जल 'शीर्षे च मन्दाकिनी' जिस मूर्ति में जल सबके ऊपर है।

'वहतिविधिहुतंयाहवि:' अर्थात् अग्नि, 'वन्देसूर्य्यशशङ्कवह्निनयनं जिस मूर्ति का एक मुख्य अंग अर्थात् नेत्र अग्नि है वा मुख वर्णन किया 'मुखोवै अग्नि:', 'मुखादग्नि:'।

'या च होत्री' अर्थात् यजमान स्वरूप जो मूर्ति कर्म्ममार्ग स्थापन करने वाली है, 'अभिवाद्योमहाकर्म्मातपस्वीभूतभावत:', 'स्वकर्म्मा', 'सर्व्वयज्ञ कृत्' इत्यादि नाम प्रसिद्ध है, 'तं यज्ञं बर्हिषिप्रौक्षं पुरुषं' इत्यादि की दो-तीन ऋचा में यज्ञोत्पत्ति कही है।

'ये द्वे कालंविधत्त:' अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य्य, 'सूर्य्यशशाङ्कवह्नियनं' जिसकी दो नेत्र स्वरूप मूर्तियाँ काल का विधान करती हैं और शिव के निमिष में प्रलयादिक होते हैं यह भी पुराण प्रसिद्ध वा सूर्य्य नेत्र चन्द्रमा सिर पर वा मन स्वरूप 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोस्सूर्य्यो अजायत'।

'श्रुतविषयगुण या स्थिताव्याप्य विश्वं' अर्थात् वाणीस्वरूपी मूर्ति, जिसकी वाणी वेद स्वरूप विश्व को अपने नियम में व्याप्त करके स्थित है क्योंकि शिवजी वाणी के अधिदेवता 'वागीश:', 'अहं कलानां ऋषभोपि', 'विद्याकामस्तु गिरिश', 'वाणी व्याकरणं यस्य' इत्यादि पुराण में प्रसिद्ध हैं वा वेदों की विषय होकर जो मूर्ति एक देशावच्छिना होकर भी विश्व को व्याप्त करके स्थित है, 'सभूमि सर्व्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' वा नाभि अंग का वर्णन किया है, 'यस्य नाभिर्वै आकाश: नाभ्या असीवंतरिक्षं' इत्यादि।

'यामाहु: सर्व्वबीजप्रकृतिरिति' अर्थात् पृथ्वी, सो पृथ्वी आपने भस्म स्वरूप से सर्व्वाङ्ग में धारण किया है 'भस्मोद्धूलितसर्वाङ्ग: भस्मोद्धूलित विग्रह:' इत्यादि वा पृथ्वी गङ्गा शिर नेत्र मुख नाभि इत्यादि अंगों का वर्णन करके चरण का वर्णन करते हैं, जिसके चरण पृथ्वी स्वरूप हैं, 'चरणे धरा पद्माम्भूमि:' इत्यादि।

'यथा प्राणिन: प्राणवन्त:' अर्थात् आत्मा, तो इसमें मूर्ति ही में आत्मा का वर्णन इस हेतु किया जिसमें भगवान के देह में आत्मा है अलग यह सन्देह न हो क्योंकि 'यथा सैन्धवघनो' इत्यादि परमात्मा का स्वरूप है तो सब मूर्तियों का वर्णन करके व्यापकत्व और आत्मस्वरूपत्व कहा वा कानों का वर्णन मानो 'श्रोत्राद्वायुश्चप्राणश्च' वा आप प्राणायामस्थ हैं यह ध्यान किया है।

तो इन आठों मूर्तियों से विशिष्ट प्रत्यक्ष शिवजी का वर्णन कालिदास ने किया, कुछ संसार स्वरूप भगवान का वर्णन नहीं है क्योंकि अन्त में भी 'नीललोहित:' विशेषण दिया है और यों मानने से क्रम से सिर पर गङ्गा फिर मुख और उनके यज्ञादिक कर्म्म और चन्द्रचूड़ तथाच नेत्र फिर वाणी का वा नाभि का और भस्मधारण का तथा चरण का और फिर मुख स्वरूप आत्मा का क्रमश: वर्णन हो गया तो मेरी बुद्धि में आता है, कालिदास का अभिप्राय भी यही होगा क्योंकि 'प्रत्यक्षाभि:' का दोष और नाटक के

उपसंहार में सगुण शिव नीललोहित करके वर्णन इत्यादि का इस अर्थ में विरोध नहीं आता ।

14. 'मुद्राराक्षस' में मुख्य अंगीभाव से कोई रस न पाकर मुझको उद्योगवीर की कल्पना करनी पड़ी ।
15. 'भैमापि वद्धनेपथ्या नटवेषधरास्तथा ! कायार्थं भीम कर्माणो नृत्यार्थं मुपचक्रमुः' ।। इत्यादि, 21 श्लोक में 32 तक ।
16. अर्थात् बिना नेपथ्य के महाराष्ट्रों की भाँति शतरंजी और मशालची के भरोसे नाटक नहीं खेला ।
17. इस से विदित हुआ कि वाह्यपटी उठने से पहले गान होना भी प्राचीन रीति है ।
18. नांदी विषयक दृढ़ नियम उसी काल से प्रचलित है ।
19. विनय के श्लोक पढ़े अर्थात् प्रस्तावना हुई ।
20. इससे एक बात यह बहुत बड़ी प्रमाण हुई कि प्राचीन काल में स्त्री का वेष स्त्री लेती थी ।
21. अब के लोगों को नाटक के अनुशीलन का अनुकरण करने में उत्साह नहीं होता वरन इसको तुच्छ और बुरा समझ के इस से दूर भागते हैं और नाटक करने वाले चतुरों को लोग साधारण ढोल बजाने वाले नट जान कर इस काम में अपनी घृणा प्रकाश करते हैं, परन्तु बड़े शोच की बात है कि जो सब से अच्छी वस्तु है और जिसके करने वाले लोग महा सभ्यता के निकेतन हैं, इन्हीं दोनों बातों में देश के कुसंस्कार से लोगों को अरुचि हो गई । नाटकों का अभिनय करना सहृदय जनों के समाज को कितनी प्रीति देनेवाला, देश की कुचालों को सुधारनेवाला और कैसा कुशल करने वाला है इसका सब गुण उन नाटकों को देखने ही से उन पर प्रगट हो जायगा और इसी भाँति प्रतिकूलता के बन्धन से छूट कर अनुकूलता भूषण से भूषित होकर नाटक दर्शन रूपी अलौकिक कुसुम कानन में घूमने-फिरने से अनिर्वचनीय आनन्द पावैंगे और उसके काव्यों के वायु के ठंडे और सुगन्धित झकोरों से उनके जी की कली खिल जायगी । नाटकों के अभिनय करने में जो स्वच्छंदता होती है उसे छोड़कर उस से देश का कितना उपकार होता है कि हम लिख नहीं सकते । देखिये कि यदि एक बड़ा राजा वा कोई धनी अथवा कोई पंडित किसी बुरे काम में प्रवृत्त होय तो उसको हम लोग सभा में कभी शिक्षा न दे सकेंगे और जो कुसंस्कार की दावाग्नि बहुत काल से प्रगट होकर हम लोगों के मंगलमय सभ्यता वन को जला रही है उस महा दावाग्नि को हम लोग दोषकथन वारि से घर बैठे बुझाना चाहेंगे तो कभी न बुझैगी। इसमें अब हम लोगों को कुशलता के उद्योग बीजों को अवश्य बोना चाहिए और

वह किसी एक मनुष्य के प्रयत्न से कभी अंकुरित न होगी, परन्तु यदि नाटकों के अभिनय का आरम्भ हो जायगा तो यह सब कुचाल आप से आप छूट जायगी और इसी भाँति फिर सब लोग अच्छी बातों से रुष्ट न होकर प्रचार में प्रयत्न करेंगे।

जैसे वेश्याऽऽसक्त पुरुषों का वेष धारण करने वाले नटों से वेश्याऽऽसक्त पुरुषों को घृणा होगी और कुलटात्व दोष निवारण के हेतु कुलटा वेषधारी नट के आने से उसकी दुर्दशा का दिखाना, मद्यपों के वेष से मद्यपों की बुरी अवस्था का अनुभव करना; इसी भाँति जुवारी, झूठ बोलने वाले, ऋणी, अपने बन्धुओं से विरोध करनेवाले, वृथा आचरण करनेवाले, वृथा व्यय करनेवाले, कर्कश बोलने वाले और मूर्खों के वेश और सम्भाषण से इनकी दुर्दशा दिखाने से अनायास ही पूर्वोक्त दुर्दशावाले मनुष्य सभा में बातों ही के चोट से चैतन्य हो जायेंगे और इस रस रूपी उपदेश से सावधान होकर बुरी बातों से बचेंगे। और जो नाटक करना कोई बुरी बात होती तो सभ्य शिरोमणि विद्यासागर, अंगरेज लोग इसके होने में क्यों प्रयत्न करते और बड़ी-बड़ी रंगशालाओं में नित्य-नित्य बड़े-बड़े अधिकारी लोग क्यों वेश धारण करके नाटकाभिनय करते ? जो कहो कि यह नाटक भरतखंड के हेतु एक नयी बात है सो नहीं, देखिए पूर्व्वकाल में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने पुत्र साम्ब और श्रीप्रद्युम्न का और अपने छोटे भाई गद को एक बड़े समाज के साथ नाटक करने की आज्ञा दी थी और उन लोगों ने रामाभिनय नाटक किया था और इसी भाँति से भरतखंड भूषण श्रीमहाराज विक्रमादित्य और महाराज भोज के समय इस का सम्पूर्ण रूप से प्रचार था, इसमें विशेष प्रमाण का कुछ काम नहीं है, उस समय के 'शकुन्तला' और 'रत्नावली' इत्यादि नाटक अब भी प्रमाण आदर्शरूप से वर्तमान हैं और पढ़नेवालों को अपूर्व आनंद देते हैं। अहा ! हे नाटकविरोधि मानवगण ! आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते और इस आनन्दमय रससमुद्र में क्यों नहीं स्नान करते और बड़े-बड़े महात्मा और रसिक शिरोमणि दुष्यन्त, युधिष्ठिर, राम और वत्सराज ऐसे लोगों के साक्षात् दर्शन और उनके गुण-स्वभाव श्रवण की इच्छा क्यों नहीं करते ? इस हेतु अब यही हमारी प्रार्थना है कि आप लोग इस बात को सुनकर कान में रुई देके न बैठें, जहाँ तक हो सके इस की उन्नति में प्रयत्न करें जिससे हमारे इस देशवासियों का उपकार हो।

22. पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः। अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव ॥1॥

23. भवभूतेः संबंधात् भूधरभूरेव भारती भाति। एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा

रोदिति ग्रावा ।।1।।

24. जाते जगति बाल्मीकौ कबिरित्यभिधाऽभवत्। कवी इतिततो-व्यासे कव-यस्त्वयि दंडिनि ।।1।।

प्रसिद्ध कवि कालिदास और दंडी स्पर्द्धिनी दो स्त्रियाँ भी कवि हुई थीं : यथा—'नीलोत्पलदलश्यामां की विज्जिकां मामजानता। वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्व शुक्ला सरस्वती। तथा सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ। या वैदर्भगिरां वास: कालिदासादनन्तरम्' ।। 1 ।।

भास नामक कोई कवि नाटककार हुआ है किन्तु उसका नाटक प्रसिद्ध है। 'सूत्रधार कृतारम्भैर्नाटकैर्वहुभूमिकै:। सपताकैर्यशो लेभे भासो नहीं देव कुलैरिव' ।।1।। 'भासोहाम: कवि कुलगुरु: कालिदासो विलास:' ।।1।।

25. विक्रमादित्य के समय में इतिहास के देखने से अत्यन्त गोलमाल मालूम होती है। परन्तु जिस विक्रमादित्य का सम्वत् चलाया है वह 19सौ से ऊपर हुए यह ठीक है परन्तु राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने अपने इतिहास 'तिमिरनाशक' तीसरे खंड में यों लिखा है—

यहाँ तक कि सन् ईसवी से 57 बरस पहले विक्रम उज्जैन के शैवराजा ने दिल्ली फतह करके अपना अमल कश्मीर तक पहुँचाया और बौद्धमत को बड़ा धक्का लगाया। ब्राह्मणों ने फिर बल पाया। इसने पण्डितों का नवरत्न बनाया। कालिदास सब का शिरोमणि था। उसी के समय में कुमारसंभव ग्रन्थ बना। मृच्छकटिक नाटक भी सन् ईस्वी के आरम्भ ही में रचा गया। उससे उस समय का हाल बहुत मालूम होता है। उसमें वसंत* नाम एक वेश्या के मकान की तारीफ लिखी है। चौकठ रंगी हुई, झाड़ू दी हुई, पानी छिड़का हुआ, वंदनवार बँधी हुई, बालाखाना बलंद, पीले झंडे, गमलों में आम के पौधे, पहले चौक में वेदपाठी ब्राह्मणों की तरह दर्वान ऊँघते, कव्वे दही-भात खाकर यज्ञ के वचे हुए खाने से वेपर्वा, दूसरे चौक में अस्तवल, उस में रथ के वैल, लड़ाई के मेढ़े और वन्दर, बँधे हुए हाथी भात और घी के गोले खाते हुए, तीसरे चौक में जवान जूआ खेलते हुए, चौथे चौक में नाच-गाना-नाटक-बाजा, पाँचवें चौक में रसोई, तेल और हींग की बू से महकी हुई जान-वरों की खालें धोई जाती हैं। मिठाई और पकवान वन रहे हैं। छठे चौक में दर्वाजा मिहराबदार; जौहरी सुनार पटवे गहने बना रहे हैं। हक्काक अपना काम कर रहे हैं, कोई केसर के थैले सुखला रहा है, कोई मुश्कनाफे हिलाता है; कोई चन्दन का इतर निकाल रहा है, कोई और और खुशबू की चीजें बना रहा है। सातवें चौक में चिड़ियाखाना—कबूतर तोते मैना कोयल

---

* न मालूम क्यों, राजा साहब ने वसन्तसेना का नाम वसन्त कर दिया है।

मौजूद, आठवें चौक में उस वेश्या का भाई रेशमी कपड़े पहने गहनों से चमचमाता हुआ लोट-पोट कर रहा है मानों उसके हड्डी के जोड़ ही उखड़ गये हैं और उसकी माँ जामदानी का कपड़ा पहने तेल से चमकते हुए पैरों में जूती ऐसी मोटी कि शायद वहाँ से बैठा कर उस मकान की दीवार बनायी थी। वाग में बसन्त टहल रही थी, उसकी सवारी के रथ पर पर्दे पड़े हुए थे। चारुदत्त ब्राह्मण इस वेश्या का यार था। चोरी करना भी विद्या में गिना जाता था! एक ब्राह्मण चोर दीवार में जनेऊ से नापकर शास्त्र के बमूजिव स्वास्तिक और घड़े की शकल पर सेंध लगा रहा है, राजा वेश्या के पीछे बाजार में दौड़ता है, उसे घायल करता है। एक बौद्ध भिक्षुक बचाता है। आर्यक अहीर जिसकी आँखें ताँबे के रंग की लिखी हैं राजा को मारकर उज्जैन की गद्दी पर आप बैठता है। जो हो इसमें संदेह नहीं कि विक्रम के समय में (शक लोग नाग की पूजा करते थे और नाग ही उनका चिह्न था, कौन जाने यही यहाँ नागवंशियों की जड़ हुए हों। रामगढ़ सिरगुजा के नागवंशी राजा अब तक अपनी मुहर में नाग का चिह्न खुदवाते हैं। यूनान का पुराना इतिहासवेत्ता हेरोदोतस लिखता है कि शक लोग अपने तंई एक-एक ऐसी स्त्री की औलाद वतलाते थे जिसका नीचे का धड़ साँप का था इसी से शायद इस देश वालों को नागकन्या का खयाल बँधा) हूण जट (Jits, Getes, Gaeti तैमूर के समय तक यह तातार में वहाँ की एक कौम गिनी जाती थी) इत्यादि तातारी कौमों ने इस देश पर भारी चढ़ाई की थी और विक्रम ने उनसे अच्छी लड़ाई जीती वरन इसीलिए वह शकारि कहलाया। विक्रम नाम के इतने (आठ से अधिक) राजा हुए हैं कि उनके इतिहास मिलजुल जाने के कारण वहुत गड़वड़ हो गये हैं, यहाँ तक कि अकसर साहिब लोग संवत् को विक्रम का चलाया नहीं मानते हैं क्योंकि उस समय उज्जैन में किसी बड़े महाराजा-धिराज विक्रम का कहीं कुछ पक्का पता नहीं मिलता। एक बड़ा बिक्रम सन् 500 और 600 ईस्वी के वीच में महाराजाधिराज हुआ। मातृगुप्त को भेज के कश्मीर फतह किया। वहाँ का राजा तोरमान कैद हो गया लेकिन विक्रम के मरने पर और मातृगुप्त के काशीवास करने को चले आने पर तोरमान के वेटे प्रवरसेन ने कश्मीर से निकल कर विक्रम के वेटे शिलादित्य को कैद कर लिया और जिस तरह नादिरशाह दिल्ली से तख्तताऊस ले गया था, विक्रम का वत्तीस पुतलियों वाला सिंहासन उठा ले गया। एक साहिब ऐसा भी अनुमान करते हैं कि यहाँ संवत् गुप्तों के राज से चला था, वीच में लुप्त हो गया था, फिर किसी गुप्त विक्रम ने जारी किया इसी से विक्रम का कहलाया। कौन जाने यही वड़ा विक्रम दूसरा चंद्रगुप्त विक्रम रहा हो। वराहमिहिर का समय सन् 587 ईस्वी ठीक निश्चय हो गया है, वह इसी

विक्रम के समय में हुआ जिसने सन् 500 और 600 के बीच में राज किया और अमरसिंह कोशकर्त्ता और कालिदास कवि भी बाहरमिहिर के साथ इसी विक्रम की सभा के रत्न थे। (एक पंडित मातृगुप्त ही को कालिदास ठहराते हैं।) लेकिन सन् ईस्वी से कोई 26 बरस पहले यहाँ सिंध मालवा इत्यादि देशों में तातारियों का राज हो गया था, इनके सिक्कों से जो मिलते हैं मालूम होता है कि यह आग पूजते थे। क्योंकि उनके देवता अर्देथ्रो (Ardethro) अर्थात् अग्निदेव की जो उन पर तसवीर है उसके कंधों से अग्नि की शिखा निकल रही है और फिर पिछले सिक्कों पर शिव की मूर्ति भी त्रिशूल हाथ में लिये नंदी के सहारे से खड़ी है परंतु आँख दो और सिर में अग्नि की शिखा प्रज्वलित। दूसरी ओर उन्हीं सिक्कों पर हलिओस (Helios) अर्थात् हरिः अर्थात् सूरज, माओ (Mao) अर्थात् माह अर्थात् चाँद और नानाइआ (Nanaia) अर्थात् नानदेवी खुदा हुआ है। इसी नानदेवी को अब अफगानिस्तान वाले बीवी नानी कहते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में इन्हीं सिक्कों को नानक वा नाणक (इस दलील से यह ग्रंथ विक्रम से पीछे बना मालूम होता है) लिखा है। कनकीं राजा का जो सिक्का मिला है उस पर बुद्ध की मूर्त्ति है, लेकिन अग्नि की शिखा के साथ यह वही राजा है जिसे बौद्ध और ब्राह्मणों ने कनिष्क (पिशावर के पास मनिकयाला का स्तूप इसी कनिष्क का बनवाया है। सन् ईस्वी 33 बरस पहले के रूमी सिक्के उसमें से निकले हैं) लिखा है! राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर में तीन राजा तुरुष्क अर्थात् तुर्क वंश के हुए और लंका के इतिहास वाले लिखते हैं कि इन तीनों का नाम हुष्क, जुष्क और कनिष्क है, नगर विहार स्तूप और विद्यालय बनाये, बौद्ध मत को रौनक दी। नागार्जुन तांत्रिक योगी जिसका नाम नागसेन भी लिखा है और विदर्भ में जनमा था उनका गुरु था। नागार्जुन के चेले माध्यमिक कहलाये। इसने कश्मीर में बौद्धों का चौथा संघ अर्थात् समाज किया। तातार से ले के यवद्वीप (Java) तक बुद्ध का मत फैलाया। चीनवाले इन राजाओं को ऐसा जबर्दस्त लिखते हैं कि उन्होंने ओल में चीन से शाहजादे मँगाये थे। जाड़े में हिन्दुस्तान में, बहार में कंधार में, और गर्मी में काबुल के उत्तर कोहिस्तान में रहते थे। निदान इन तुरुष्कवंशी राजाओं ने बौद्ध शैव और अग्नि पूजन को खूब मिलाया मानों तीनों को एक मन कर डाला। गुप्तराजा—लेकिन सन् 144 ईस्वी से अर्थात् बौद्ध राजा मेघवाहन के मरने से बौद्धों का असली जोर घटने और ब्राह्मणों का बढ़ने लगा था। जब फाहियान आया गुप्तवंशी दूसरा चंद्रगुप्त विक्रम सारे भारतवर्ष का महाराजाधिराज था। यह शायद आखिरी बौद्ध चक्रवर्ती राजा हुआ। वह समुद्रगुप्त पराक्रम का जिसका नाम सैदपुरभितरी और इलाहाबाद की

लाटों पर खुदा है, बेटा था और उसके दादा पहले चंद्र के दादा। गुप्त से गुप्त संवत् गिना जाता था (अभी हम लिख आये हैं कि 'एक साहिब ऐसा भी अनुमान करते हैं कि यहाँ संवत् गुप्तों के राज से चला था बीच में लुप्त हो गया था फिर किसी गुप्त विक्रम ने जारी किया इससे विक्रम का कहलाया') सो वह विक्रम यही दूसरा चन्द्रगुप्त हो सकता है। विक्रम अथवा विक्रमादित्य उसका खिताब था और इसी तरह शिलादित्य अवश्य उसके बेटे कुमार गुप्त महेन्द्र का खिताब रहा होगा। इससे पहले कहीं विक्रम के नाम से किसी संवत् का कुछ पता नहीं लगता है। अबूरैहाँ लिखता है—

فاما گرنت کال فکان کمافیل فوءآ الاشرار القریایا فلما انقر ضرا ارح بہم و
کا،، بلب کال اخیر ھم ارل تاریخہم ایضا صناحوین عن شک کال اءا

और वाड साहिब के बमूजिब सोमनाथ में एक पत्थर पर सवत् 1320 और वल्लभी 954 और हिजरी 662 लिखा हुआ मिला है पस मुतावक़त बहुत अच्छी हो जाती है अर्थात् ई० सन् 319 अर्थात् गुप्त संवत् 376 में कि विक्रम के संवत् के बराबर है गुजरात से गुप्तों से निकलने पर गुप्त संवत् लुप्त होकर वल्लभी का संवत् शुरू हुआ। जब विक्रम ने गुप्त संवत् का उद्धार करके उसे फिर चलाया वह अर्थात् गुप्त संवत् अर्थात् विक्रम का चलाया। संवत् 1320 वल्लभी संवत् 954 के जैसा कि पत्थर पर लिखा है बराबर आया। इसी दूसरे चन्द्रगुप्त विक्रम के पोते स्कन्दगुप्त का कीर्तिस्तम्भ गोरखपुर के जिले में सलीमपुर मझौली के पास कुहाव गाँव में अब तक मौजूद है। उसमें लिखा है कि एक सौ राजा उसके सामने सिर झुकाते थे। स्कन्दगुप्त के बाप कुमारगुप्त महेन्द्र की तसवीर जो उसके सिक्के पर है उससे ज़ाहिर है कि वह थोड़ी मुहरी का पाजामा और बूटामदार कोट पहनता था। गुप्त राजाओं के सिक्कों पर अकसर शिव पार्वती नदी मयूर सिंह [मयूर कार्तिकेय का वाहन है और सिंह पार्वती का और नंदी शिव का, यह तो हर कोई जानता है] इत्यादि का चिह्न मिलता है। समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों निश्चय वैदिक और शैव थे। सन् 319 ईस्वी में इन गुप्तों को सेन राजाओं ने गुजरात से निकाल दिया और अपनी राजथानी वल्लभी [कहते हैं कि वल्लभी का राज सन् 200 ईस्वी से कुछ पहले सूर्यवंशी कनकसेन ने अवध से जाकर जमाया था] का संवत् क़ाइम किया। यह सेन भी बड़े नामी राजा हुए। निदान ह्वांत्सांग के समय तक अर्थात् सन् 600 ईस्वी से इधर तक बौद्धमत मध्यदेश में बना रहा, फिर घटते-घटते ऐसा घटा कि सन् बारह-तेरह सौ ईस्वी से भारतवर्ष में अब नाम को भी बाकी न रहा। ह्वांत्सांग लिखता है कि बनारस में 100 शिवालय और 10000 शैव मौजूद थे और

बिहार कुल तीस और बौद्ध पाँच हजार से भी कम रह गए थे। इसमें सन्देह नहीं कि कन्नौज के भवभूति ने सन् 720 ईस्वी में मालतीमाधव नाटक बनाया है। उसमें लिखा है कि बिहार के राजा का लड़का माधव न्याय सीखने के लिए उज्जैन में एक बौद्ध गुरनी के पास गये और वहाँ मंत्री की लड़की मालती भी पढ़ने को आती थी परन्तु दिल्ली में तोमर, कन्नौज में राठौर, महोबे में चंदेल सब शैव और वैष्णव थे। बुद्ध ने चाहा था कि ज्ञान जो बुद्धि से परे और केवल अनुभवसिद्ध है और थोड़ों को ही प्राप्त हो सकता है सबको दान दे और इन सब लोगों का हाल यह है कि मोटी बात चाहते हैं जो दिखलाई दे उसी की पूजा करते हैं। निदान यहीं मूर्ति और प्रतिमा-पूजन की जड़ हुई, यहाँ तक कि स्तूप वृक्ष पशु राख हड्डी ईंट पत्थर इत्यादि सब पूजने लगे।

26. सन् 1876 ईस्वी जुलाई में मैंने भी एक कवित्त भेजा था जिस पर इन्होंने अनेक धन्यवाद दिया था। जो कवित्त मैंने भेजा था वह यह है—

देखि भूमि हरित अधिक हरखात गात ईस कृपा जल सों विसेस सुख छाके हौ। सबै तुम्हैं मोर कहै सहज सनेह बस प्रजा दुख दलन सहस्र दृग ताके हौ ।। आसुतोस ऐसे आसु तोसत सबन तुम याही तें जगत नीलकंठ बने बाके हौ। त्रासत अनेक खल सर्पन सदर्प तुम वलम मयूर सुख पूरक प्रजा के हो ।।1।।

27. इसको बरेली कौलेज के संस्कृत प्रोफेसर पण्डित देवदत्त तिवारी ने उल्था किया है। वह महाशय देवकोश अर्थात् अमर कोश भाशा-विवरण सहित के कर्ता भी हैं।

28. इनसे मुझे संस्कृत, नागरी की उन्नति होने की अधिक आशा है क्योंकि इन्होंने संस्कृत-हिन्दी के अनेक ग्रंथ पुराचीन और नवीन संग्रह किए हैं और तन-मन-धन से संस्कृत हिन्दी की उन्नति चाहते हैं। मैं हिन्दी का यह सौभाग्य समझता हूँ। ऐसे सहायक मित्र मिलने से हिन्दी रसिकों को भी अभिमान होना चाहिए। ये उन पुराचीन ग्रन्थों के प्रकाश के लिए यत्न कर रहे हैं जो अब तक प्रकाश न हुए हैं। इनके कई पत्रों का संग्रह हिन्दी भाषा में देखिये।

29. यह युद्ध का देवता था।

30. यह मद्य का देवता है। प्रिन्सिपल साहब कहते हैं कि यह बलराम है।

साहित्य के बारे में कुछ विचार-विन्दु

बालकृष्ण भट्ट

"साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है" (—निबंध से) । साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं, उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।...किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं, पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।

—'हिन्दी प्रदीप', जुलाई 1881, पृ० 15-20

चाहे धर्म सम्बन्धी एकता से आप और-और तरह का लाभ मानें, पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनीतिक एकता को ही मानेंगे। जब तक कोई जाति एक राजनीतिक समूह न होगी जिसका एक ही राजनीतिक उद्देश्य है और जिस जाति के लोग एक ही राजनीतिक खयाल से प्रोत्साहित नहीं हैं तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और वृद्धि की बुनियाद किस चीज़ पर क़ायम रखेंगे? हम देखते हैं, अंग्रेज़ों के इतिहास में बहुत जल्द राजनीतिक एकजातित्व आ गया जिसके कारण उनकी जाति की उन्नति चरम सीमा को पहुँचने लगी और उसी के विपरीत हम देखते हैं कि राजनीतिक बन्धन न होने से बहुत जल्द हमारी जाति तीन तेरह हो गयी। अंग्रेज़ों में राजनीतिक एकता के कारण उनके देश की वास्तविक उन्नति हुई, उसी के विपरीत राजनीतिक एकता न होने से हमारा ह्रास हुआ और आगे चलकर इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेज जाति ने अपना इतिहास अपने अनुकूल कर लिया, वहीं हमारी जाति का इतिहास झख मार के हमारे प्रतिकूल हो गया। और आपस की फूट से जो कुछ बची-खुची ताक़त रह

भी गयी थी उसे विदेशीय नेताओं ने आकर चूर-चूर कर डाला ।

—'हिन्दी प्रदीप', जुलाई 1881, पृ० 15-20

अब ग्राम्य कविता पर ध्यान दीजिए। मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा, विरहा अथवा आल्हा आदि सब महाभद्दी, केवल गँवारों की रोचक कविताएँ। उनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमंड में फूले नहीं समाते, अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निसन्देह वे ग्राम्य कविताएँ हैं और मलार-ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महाभद्दी और घृणित हैं। पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे क़ायदे पर न होने से उनमें कोई भी गुण हई नहीं और सर्वथा दूषित ही हैं। अब हमारे पाठक जन पूछ सकते हैं, आपने उसमें ऐसा कौन-सा गुण पाया जो उस पर इतना लट्टू हो रहे हैं ? माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं, पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया है। अर्थात उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तसवीर खिची हुई पायी जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का ज़हर इसमें कहीं नहीं पाया जाता। जो यहाँ तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की एक निराली दुनिया केवल कविजी के मस्तिष्क मात्र में ही स्थान पाये हुए है।

—'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर 1886, पृ० 15

मनुष्य मात्र का यह सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहले उन्हीं वस्तुओं में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती हैं, तब दूर की चीजों में खोजता है। इसलिए लोगों ने पहले जब कोई आश्चर्यजनक वस्तु, अर्थात जिसका कारण वे नहीं समझ सके, देखा तो उसे ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्र-वरुण-सूर्य आदि जो देवता माने गये हैं उसका यही कारण है कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्य देव सविता लिखे हैं जो सूर्य का एक नाम है। इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे बढ़कर आश्चर्य की वस्तु सूर्य है जो नित्य-नित्य हमारे दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसीलिए पहले सोचने वालों ने इसी को ईश्वर और जगत का कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु, अग्नि, औषधि और विद्युत आदि को भी ईश्वर कल्पना कर लिया, इसीलिए वेद के अनेक भागों में इस सबों के नाम का उल्लेख वार-वार आया है। क्रमश: ज्यों-

ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते-सोचते मँजती गयी तब वे सूर्य आदि को जल और भौतिक पदार्थ समझने लगे।

—'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर 1886, पृ० 14

स्वाभाविक और बनावट में वड़ा अन्तर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिये गये तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते। इसलिए सुसंस्कृत कविता, क्लासिकल पोइट्री, अवश्यमेव कृत्रिमता-दोष-पूरित रहेगी।

हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुसरण कर आज तक चले आये हैं और उस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है, यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं। जिसकी उपमा हम एक छोटे-से तालाब की देंगे जिसमें न कहीं से पानी का निकास है न नया ताज़ा पानी उसमें आने की कोई आशा है। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन-दिन सड़ता ही जाये और गंदगी बढ़ती जाये ? क्योंकि नियमबद्ध हो जाने से गिनी-गिनी बातें उनके लिए बच रहीं, उन्हीं का बार-बार पिष्टपेषण किया करें। प्राय: तो नायक-नायिका के एक-एक अंग का नख-शिख-वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर-छोर आ लगा है। बहुत बढ़े, षटऋतु के वर्णन में जा फँसे। वसन्त हुआ तो वहीं सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने-अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर और नयी बातें लावें कहाँ से ? पावस को कहने लगे तो मोर-दादुर की टर-टर, वियोगिनी नायिका की स्मर दशा आदि इनी-गिनी दस-पाँच बातें हैं, जिन पर कविता की अधिष्ठातृ-देवी को सैकड़ों वर्षो से घसीट जीर्ण कलेवर कर डाला।

—'हिन्दी प्रदीप', मार्च 1880, पृ० 18

नायिका-भेद

महावीरप्रसाद द्विवेदी

औपन्यासिक पुस्तकों के लिए केवल काशी ही और तांत्रिक पुस्तकों के लिए केवल मुरादाबाद ही, इस समय प्रसिद्ध हो रहे हैं। परन्तु नायिका-भेद और नख-शिख-वर्णन के लिए यह देश-का-देश ही, किसी समय प्रसिद्ध था। देश से हमारा अभिप्राय उन प्रान्तों से है जहाँ हिन्दी बोली जाती है और जहाँ हिन्दी ही में कवियों की कविता, स्फूर्ति का प्रकाश होता है। राजाश्रय मिलने की देरी, राजाजी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनन्द चखाने के लिए कवि जी को देरी नहीं। 10 वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर 50 वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव, भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन सन्तोष नहीं करते थे। दुराचार में सुकुरता होने के लिए दूती कैसी होनी चाहिए, मालिन, नाइन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिए कौन सबसे अधिक प्रवीण होती है—इन बातों का भी वे निर्णय करते थे। नायक के सहायक बिट, और चेटक आदि का भी वर्णन करने से वे नहीं चूकते थे। इस प्रकार की पुस्तकों अथवा कविताओं का बनना अभी बन्द नहीं, वे बराबर बनती जाती हैं। तथापि पहले बहुत बनती थीं, इसलिए हमने भूतकाल का प्रयोग किया है।

सब नायिकाओं में नवोढ़ा अधिक भली होने के कारण किसी ने अभी कुछ ही वर्ष हुए, एक 'नवोढ़ादर्श' नाम की पुस्तक, अकेले नवोढ़ा नायिका की महिमा ही से आद्योपान्त भर कर, प्रकाशित की है। समस्यापूर्ति करने वाले कविसमाजों और कविमंडलों का तो नायिका-भेद जीवन-सर्वस्व हो रहा है। सुनते हैं, 'सुकवि-सरोज विकास' में भी नायिका-भेद ही है। नवोढ़ाओं और विश्रब्ध नवोढ़ाओं ही की कृपा से हमारी भाषा की कविता-लता सूखने नहीं पायी। कविजन अब तक उसे अपने काव्य-रस से बराबर सींच रहे हैं और मुग्धमति युवक उसकी शीतल छाया में शयन करके विषयाकृष्ट हो रहे हैं।

इस निबन्ध का नाम 'नायिका-भेद' पढ़कर नायिका-भेद के भक्तों को यदि

यह आशा हुई हो कि इसमें नवोढ़ा के सुखांत और प्रौढ़ा के पुरुषायित-सम्बन्ध में कोई नवीन युक्ति उन्हें सुनने को मिलेगी तो उनको अवश्य हताश होना पड़ेगा। परन्तु हताश क्यों होना पड़ेगा ? आज तक नायिकाओं का क्या कुछ कम वर्णन हुआ है ? इस विषय में हिन्दी साहित्य में, जो कुछ विद्यमान है उससे भी यदि उनकी काव्य-रस पीने की तृषा शान्त न हो तो हम यही कहेंगे कि उनके उदर में वड़वानल ने निवास किया है।

ऋषियों के वनाये हुए संस्कृत ग्रन्थों तक में नायिकाओं के भेद कहे गये हैं। परन्तु पद्माकर और मतिराम आदि के ग्रन्थों का जैसा विस्तार वहाँ नहीं है। नायिकाओं की भेद-भक्ति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आयी है। कालिदास के काव्यों में भी नायिकाओं के नाम पाये जाते हैं—

निद्रावसेन भवताप्यन वेक्षमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्दः।

—'रघुवंश', सर्ग 5।

यहाँ खंडित नायिका का नाम आया है। संस्कृत में ऐसी अनेक पुस्तकें हैं जिनमें नायिकाओं की विभाग परम्परा और उनके लक्षणों का विवरण है। तथापि हिन्दी पुस्तकों जैसी प्रचुरता संस्कृत में नहीं है। 'दशरूपक' और 'साहित्य दर्पण' इत्यादि में प्रसंगवश इस विषय का विचार हुआ है, परन्तु वे बेचारे गौण हैं, प्रमुख नहीं। जिसमें केवल नायिकाओं ही का वर्णन हो, ऐसी पुस्तक संस्कृत में एक 'रस-मंजरी' ही हमारे देखने में आयी है। मिथिला के रहने वाले पंडित भानुदत्त ने उसे वनाया है। भानुदत्त के अनुसार नायिकाओं के 1152 भेद हो सकते हैं। इस पुस्तक में उन्होंने नायिकाओं का यद्यपि बहुत विस्तृत वर्णन किया है, तथापि उनका वर्णन संस्कृत में होने के कारण इतना उद्वेगजनक और हानिकारक नहीं जितना सुखारंभ, सुखांत और 'विपरीत' में विलग्न होने वाले हमारे हिन्दी कवियों का है। इस विषय में हिन्दी पुस्तकों का प्राचुर्य देखकर यही कहना पड़ता है कि इस अल्पोपयोगी नायिका-भेद में संस्कृत कवियों की अपेक्षा हमारी भाषा के कवियों और भाषा की कविताओं के प्रेमियों की सविशेष रुचि रहती आयी है। नगरों की वात जाने दीजिए, छोटे-छोटे गाँवों तक में, साठ-साठ वर्ष के बुड्ढों को भी नायिका-भेद की चर्चा करते और ज्ञात यौवना और अज्ञात यौवना के अन्तर के तारतम्य पर वक्तृता देते हमने अपनी आँखों से देखा है।

निश्चयात्मकता से हम यह नहीं कह सकते कि नायिका-भेद की उत्पत्ति कब से हुई और क्यों हुई ? वात्स्यायन मुनिकृत 'कामसूत्र' बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें नायिका और नायिकाओं के सामान्य भेद कहे गये हैं। ये भेद वैसे ही हैं

वर्णन क्यों करना चाहिए ? इस प्रकार की कविता करना वाणी की विगर्हणा है।

अब देखिये, इस प्रकार की पुस्तकों में लिखा क्या रहता है ? लिखा रहता है —परकीया (परस्त्री) और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण ! परकीया के अन्तर्गत अविवाहित कन्याओं के वातावरण की कथा ! ! पुरुषमात्र में पतिवुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों के निर्लज्ज और निरर्गल प्रलाप। और भी अनेक बातें रहती हैं। विरह-निवेदन करने अथवा परस्पर मेल करा देने के लिए दूतों और दूतियों की योजना का वर्णन रहता है, वेश्याओं को बाजार में बिठला कर उनके द्वारा हज़ारों के हृदयहरण किये जाने की कथा रहती है। परकीयाओं के द्वारा, कबूतर के बच्चे की जैसे कुंजित के मिश, पुरुषों के आह्वान की कहानी रहती है। कहीं कोई नायिका अँधेरे में यमुना के किनारे दौड़ जा रही है; कहीं कोई चाँदनी में चाँदनी ही के रंग की साड़ी पहनकर घर से निकल, किसी लता-मंडप में बैठी हुई किसी की मार्ग-प्रतीक्षा कर रही है; कहीं कोई अपनी सास को अंधी और अपने पति को विदेश गया वतलाकर द्वार पर आये पथिक को रात-भर विश्राम करने के लिए प्रार्थना कर रही है; कहीं कोई अपने प्रेमपात्र के पास गयी हुई सखी के लौटने में विलम्ब होने से कातर होकर आँसुओं की धारा से आँखों का काजल बहा रही है ! ! !

यही बातें विलक्षण उक्तियों के द्वारा, इस प्रकार की पुस्तकों में विस्तार-पूर्वक लिखी गयी हैं। सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़-कर कोई युक्ति हो सकती है ? युवकों को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे भी अधिक वलवती और कोई आकर्षण-शक्ति हो सकती है ? हमारे हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकों का आधिक्य होना हानिकारक है। समाज के सचरित्र की दुर्बलता का दिव्यचिह्न है। हमारी स्वल्पवुद्धि के अनुसार इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिए। और यही नहीं, किन्तु आज तक ऐसी-ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिए। इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, उलटा लाभ होगा। इनके न होने से भी समाज का कल्याण है। इनके न होने से ही नववयस्क मुग्धमति युवाजनों का कल्याण है। इनके न होने से ही इनके बनाने और बेचने वालों का कल्याण है।

जिस प्रकार नायिकाओं के अनेक भेद कहे गये हैं और भेदानुसार उनकी अनेक चेष्टाएँ वर्णन की गयी हैं, उसी प्रकार पुरुषों के भी भेद और चेष्टावैलक्षण्य का वर्णन किया जा सकता है। जब नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका होती हैं तब नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ नायक भी हो सकते हैं। वासकसज्जा, विप्र-लब्धा और कलहान्तरिता नायिका के समान वासकसज्ज, विप्रलब्ध नायक होने में क्या आपत्ति हो सकती है ? कोई नहीं। क्या स्त्री ही अज्ञात यौवना होती है ?

पुरुष अज्ञात यौवन नहीं होता है ? 'रसमंजरी' वाले कहते हैं कि स्वभाव-भेद से पुरुषों के चार भेद होते हैं—अर्थात अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ; परन्तु अवस्था-भेद से स्त्रियों के अनेक भेद होते हैं। यह बात हमारी समझ में नहीं आती। मनोविकार प्राय: दोनों में एक-से ही होते हैं। जिस प्रकार के लक्षण और उदाहरण नायिकाओं के विषय में लिखे गये हैं, उसी प्रकार के लक्षण और उदाहरण प्राय: पुरुषों के विषय में भी लिखे जा सकते हैं। परन्तु हमारी भाषा के कवियों ने नायकों के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नहीं लिखीं। इसलिए हम इनको अनेक धन्यवाद देते हैं। यदि कहीं वे इस ओर भी अपनी कवित्व-शक्ति की योजना करते, तो हमारा कविता-साहित्य और भी अधिक चौपट हो जाता।

—**'रसज्ञ रंजन'** से साभार

वर्णन क्यों करना चाहिए ? इस प्रकार की कविता करना वाणी की विगर्हणा है।

अब देखिये, इस प्रकार की पुस्तकों में लिखा क्या रहता है ? लिखा रहता है —परकीया (परस्त्री) और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण ! परकीया के अन्तर्गत अविवाहित कन्याओं के वातावरण की कथा !! पुरुषमात्र में पतिबुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों के निर्लज्ज और निरर्गल प्रलाप। और भी अनेक बातें रहती हैं। विरह-निवेदन करने अथवा परस्पर मेल करा देने के लिए दूतों और दूतियों की योजना का वर्णन रहता है, वेश्याओं को बाज़ार में बिठला कर उनके द्वारा हजारों के हृदयहरण किये जाने की कथा रहती है। परकीयाओं के द्वारा, कबूतर के बच्चे की जैसे कुंजित के मिश, पुरुषों के आह्वान की कहानी रहती है। कहीं कोई नायिका अँधेरे में यमुना के किनारे दौड़े जा रही है; कहीं कोई चाँदनी में चांदनी ही के रंग की साड़ी पहनकर घर से निकल, किसी लता-मंडप में बैठी हुई किसी की मार्ग-प्रतीक्षा कर रही है; कहीं कोई अपनी सास को अंधी और अपने पति को विदेश गया बतलाकर द्वार पर आये पथिक को रात-भर विश्राम करने के लिए प्रार्थना कर रही है; कहीं कोई अपने प्रेमपात्र के पास गयी हुई सखी के लौटने में विलम्ब होने से कातर होकर आँसुओं की धारा से आँखों का काजल बहा रही है !!!

यही बातें विलक्षण उक्तियों के द्वारा, इस प्रकार की पुस्तकों में विस्तार-पूर्वक लिखी गयी हैं। सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़-कर कोई युक्ति हो सकती है ? युवकों को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे भी अधिक बलवती और कोई आकर्षण-शक्ति हो सकती है ? हमारे हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकों का आधिक्य होना हानिकारक है। समाज के सच्चरित्र की दुर्बलता का दिव्यचिह्न है। हमारी स्वल्पबुद्धि के अनुसार इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिए। और यही नहीं, किन्तु आज तक ऐसी-ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिए। इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, उलटा लाभ होगा। इनके न होने से भी समाज का कल्याण है। इनके न होने से ही नववयस्क मुग्धमति युवाजनों का कल्याण है। इनके न होने से ही इनके बनाने और बेचने वालों का कल्याण है।

जिस प्रकार नायिकाओं के अनेक भेद कहे गये हैं और भेदानुसार उनकी अनेक चेष्टाएँ वर्णन की गयी हैं, उसी प्रकार पुरुषों के भी भेद और चेष्टावैलक्षण्य का वर्णन किया जा सकता है। जब नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका होती हैं तब नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ नायक भी हो सकते हैं। वासकसज्जा, विप्र-लब्धा और कलहान्तरिता नायिका के समान वासकसज्ज, विप्रलब्ध नायक होने में क्या आपत्ति हो सकती है ? कोई नहीं। क्या स्त्री ही अज्ञात यौवना होती है ?

पुरुष अज्ञात यौवन नहीं होता है ? 'रसमंजरी' वाले कहते हैं कि स्वभाव-भेद से पुरुषों के चार भेद होते हैं—अर्थात अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ; परन्तु अवस्था-भेद से स्त्रियों के अनेक भेद होते हैं। यह बात हमारी समझ में नहीं आती। मनोविकार प्रायः दोनों में एक-से ही होते हैं। जिस प्रकार के लक्षण और उदाहरण नायिकाओं के विषय में लिखे गये हैं, उसी प्रकार के लक्षण और उदाहरण प्रायः पुरुषों के विषय में भी लिखे जा सकते हैं। परन्तु हमारी भाषा के कवियों ने नायकों के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नहीं लिखीं। इसलिए हम इनको अनेक धन्यवाद देते हैं। यदि कहीं वे इस ओर भी अपनी कवित्व-शक्ति की योजना करते, तो हमारा कविता-साहित्य और भी अधिक चौपट हो जाता।

—'**रसज्ञ रंजन**' से साभार

कविता क्या है ?

रामचन्द्र शुक्ल

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये-दिये दूसरों के भावों-विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अन्त तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत। जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किये इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा छुटकर—अपने-आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत अनेक-रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तत्त्वों के साथ हो जाये। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत के

साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आयी है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिमयुगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नरजीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अत: काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष-से-प्रत्यक्ष और गूढ़-से-गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय का आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाये जाते तब तक उन पर काव्य-दृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, फूल, शाखा, पशु, पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिर-सहचार रूप हैं। खेत, दुर्री, हल, झोपड़े, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना-झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना—ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य्य है। ऐसे आदिरूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अत: इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक सम्भव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज, ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्वहरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गये त्यों-त्यों उसके मूल रूप बहुत-कुछ आच्छन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गयी; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत-से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं, जैसे—आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी सन्तति ही की रक्षा तक था; पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासना-जन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों

के विषय तो अमूर्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्धदर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज़ तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज़ या कागज़ का टुकड़ा। पर उस कागज़ के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी सन्तति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज़ का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अतः उसके क्रोध में और कुत्ते के क्रोध में, जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है, काव्य-दृष्टि से कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जाने वाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायेगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायेगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है, वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं बैठा सूखे चने चबाऊँ; तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठंड से कांपते रहें!" यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत-से आवरणों को हटा-कर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गये हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आयेगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमें नुक-सान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया", इस वाक्य में रसात्मकता नहीं।

इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा है—"नहि कवेरितिवृत्तमात्र-निर्वाहेणात्मपदलाभः।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायें कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गये हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है,रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है;स्त्री-शिक्षा का अभाव है", तो ये छन्दोबद्ध होकर भी काव्य-पद के अधिकारी होंगे। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे, जैसे—यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनन्द के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई जायेगी जो अपनी तारीफ़ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है'—इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिम्ब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिये हुए बनिये की होगी जिससे हमारे करुणा भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण परम्परा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपये वाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपयेवाले बहुत कम हैं, इससे अधिकांश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है।

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण-भर लीन हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि

अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढव और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा, तो उनके जीवन में रह क्या गया ? इस विश्वकाव्य की रस-धारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कही तो (1) नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं (2) मनुष्येतर वाह्य सृष्टि के, और कहीं (3) समस्त चराचर के।

(1) पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की वाह्य प्रकृति और अन्त:प्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रवन्ध—अधिकतर पायी जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खंडकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते हैं, पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। 'वाल्मीकि-रामायण' में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद वर्णन बहुत-कुछ मिलते हैं, जिनमें कवि-मुग्ध-दृष्टि प्रधानत: मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूप-जाल में फँसी पायी जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित ही है। और प्रवन्ध-काव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकल पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। साहित्यशास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान हीं नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गयी है। शृंगार के उद्दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाये जाते हैं, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता; नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करनेवाले हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलम्बन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्यौरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है, उस भावोद्रेक और उस ब्यौरे के साथ उनका नहीं। कहीं-कहीं तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाये जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते हैं।

(2) मनुष्येतर वाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रवन्ध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। वहाँ प्रकृति का ग्रहण आलम्बन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आये हैं कि किसी वर्णन में आयी हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है—विम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा, 'कमल !' अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद

हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी
या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कह सकता है कि
न हो; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया
-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है
ास्त्रचर्चा में दूसरे प्रकार का। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ
रीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके
ति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के
न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ
ष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य
के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि का
जिए—

वश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
नानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
त्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
वश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
सुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥
ाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः॥
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्॥
रा-जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
ालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः॥

जिसकी हरी-हरी घास ओस गिरने से कुछ-कुछ गीली हो
पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी
स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह
सोये-से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढँका
ारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से
ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़
-कणिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गयी हैं, पाले से ध्वस्त होकर

प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण 'कुमारसम्भव' के आरम्भ तथा
च में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी
के लिए लिखे जाते हैं और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र
लिए ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तररामचरित' में कहीं-कहीं
त ही साँग और संश्लिष्ट खंड-चित्र पाये जाते हैं। पर

पखड़ियों और झुके
देर के लिए आ जाये
कोई चित्र उपस्थित
जाये। काव्य के दृश
और व्यवहार तथा
कवि अपने सूक्ष्म नि
आसपास की परिस्थि
ऐसे सूक्ष्म ब्यौरों प
ऐसा पूर्ण और संश्लि
प्रकृति को आलम्बन
यह हेमन्त-वर्णन ली

(वन की भूमि,
गयी है, तरुण धूप के
बहुत शीतल जल के
कुहरे के अन्धकार में
हुआ है और जिनमें स
आयी बालू के तटों से
गये हैं, जिनकी केसर
नाल मात्र खड़े हैं।)

मनुष्येतर बाह्य
'रघुवंश' के बीच-बी
प्रवृत्तियों के प्रदर्शन
अन्तर्वृत्ति विधान के
बाह्य प्रकृति के वह

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता 'मेघदूत' में मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है, वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है; न कला की विचित्रता—वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनन्त रूपों में, प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे, वेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप, मधुर गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दु मंडित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमानेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवें के कवियों ने मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबन्ध-रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अंग्रेज़ी के पिछले कवियों में वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य में चिरपरिचित, सीधे-सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शेली की असाधारण भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य्य की अनुभूति होती है! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरन्त की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवनवाली ग्रामवनिताओं में साफ़-सुथरे ग्रामचैत्यों और कथा-कोविद ग्रामवृद्धों में इसी प्रकार के माधुर्य्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मंडली के साथ बैठा करते थे; चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम

आते-जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था, नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ-हरित कँटीले, कटाव-दार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्फुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहिचान नहीं है। शोभा सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रुप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण—दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अत: प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँवँ-म्याँवँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूंढती हुई आती है और कहती है कि 'तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो ?'

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूंढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के आभास को व्यापकत्व देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अत: बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। समन्वय के विना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ,

कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्रात: बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यों का आरोप या संभावना अलबत वे कभी-कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं ? वे समझते हैं कि सूर्य अन्धकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं धोखे से हमारा भी नाश न कर दे।' यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षी के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जायें ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं, कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक़ ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं, मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अत: उनमें से किसी की चेष्टा-विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी। यदि कोई बन्दर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज़ उठा ले जाये और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, यों काव्य-दृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि—

देते हैं घुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
  "जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह ?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे नर !
  क्रीड़ामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी पास तेरे हुए,
  उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उमंग उपकार की तू
  छेंकता है जाता, हम जायँ कहाँ, तू ही कह !"

पेड़-पौदे, लता गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को; ग्रीष्म के प्रचंण्ड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को, मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता

को; प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं-कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है। कहीं-कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत-से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले, कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वट-वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोकों से उसकी टह-नियाँ और पत्ते हिल-हिल कर मानो बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं, उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हममें से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार सम्बोधन करे तो कर सकता है—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम !
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धारा अभी
जिसमें न पूरा-पूरा नर बह पाया है।
शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य !
प्रीति-सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
हे नर ! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है।।

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्य-दृष्टि कभी तो इनपर अलग-अलग रहती है, कभी समष्टि रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते हैं कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत

की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्ण-घनखंड-मंडित, रश्मि-रञ्जित सान्ध्य-दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके दृष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत के भीतर पाये जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ भी अपने मार्मिक तथ्यों की व्यंजना करती हैं। जीवन में तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं-कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते हैं तो सुख-समृद्धि और सम्पन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं, वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं :

> कोलाहल सुनि खगन के, सरवर! जनि अनुरागि।
> ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि ॥
> दुर्दिन दैहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
> दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै ॥

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यंजना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्प-कालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नयी शक्ति का संचय होता है उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है, जिसमें वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत-कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का या जगत का नित्य स्वरूप नहीं है।

(3) पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्यदृष्टि

की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायेगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यक्ति-सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों में संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गयी त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आवलम्बन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अंतर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखायी पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखायी पड़ता है, पर थोड़ा अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचाने वाली डोर का छोर भी अन्तःकरण के रागात्मक खंड की

ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनन्द-भावना और नन्दवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेंगी। अर्वाचीन राष्ट्रनीति के गुरु-घंटाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं, उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखायी पड़ते हैं, पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाये तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कंठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमंड इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक! जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कंठा आदि का संचार कर देती है, तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए उद्यत होते हैं। शुद्ध-ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का लाना आवश्यक है। यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाये कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाये, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायें और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त-क्रन्दन सुनाया जाये तो बहुत-से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राज-नीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्म के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखाने के डर से, आत्मगौरव या कुलगौरव या जातिगौरव के ध्यान से, अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में मग्न होकर अपने लाभ के कर्म में तत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अतः अर्थागम से हृष्ट, 'स्वार्थं साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकांडी, कानपुर के दलाल और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार, ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी, मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी

बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलम्बनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थ बुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उसकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखने वालों को—एक त्रुटि-सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी वहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल सम्बन्ध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई इनका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है, उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्राय: अपने जोड़े, वच्चों या खिलाने-पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सताने वालों तक ही जाता है, स्वर्ग या पशुमात्र को सताने वालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमश: बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने सम्बन्धियों, अपने पड़ोसियों, अपने देशवासियों क्या, मनुष्य मात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर को जगह उसके हृदय में बन गयी है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सताने वाले पर नहीं चढ़ती, गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सताने वाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उनके नेत्र सजल होते हैं। बन्दर को शायद बँदरिया के मुंह में ही सौंदर्य दिखायी पड़ता होगा; पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ती और रेत-पत्थर में भी सौंदर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक-स्तम्भ काव्य है, जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रसमग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता को उच्च भूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थ-पिशाच कृपण को देखिए, जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एकदम दवा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख वह पैसों का हिसाव-किताव भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन-दुखिया को देख कभी

करुणा से द्रवीभूत होता है; न कोई अपमानसूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उनसे किसी लोमहर्षक अत्याचार की बात कही जाये तो वह मनुष्य धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहेगा कि 'जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें।' यह महाभयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए, जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

इस निबन्ध के आरम्भ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आये हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बता आये हैं। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार काव्यानुशीलन और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे मार्मिक अंगों का पूरे ब्योरे के साथ चित्रण कर देते हैं, पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए बहुत कम काम छोड़ते हैं और कुछ कवि कुछ मार्मिक खंड रखते हैं जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आप-से-आप पूर्ण करती है।

कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गयी है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन; पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अन्तर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो, पर यदि उसमें उपयुक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अन्तर्गत न होगा।

मनोरंजन

प्राय: सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आये हैं, कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गम्भीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हलका उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते में ही रह जानेवाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है और वही और सब-कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थित किये रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। अच्छी-से-अच्छी बात को भी कभी-कभी लोग केवल कान से सुन-भर लेते हैं, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'दूसरों पर दया करो', 'चोरी करना महापाप है', हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान या कोई चोर साधु हो जायेगा। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव-जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्र रमाये रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौंदर्य और माधुर्य होता है, उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौंदर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौंदर्य या कुरूपता का सम्यक प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमानेवाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडित राज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय

समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का परम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरंजन या आनन्द तो वहुत-सी बातों में हुआ करता है। किस्सा कहानी सुनने में भी तो पूरा मनोरंजन होता है, लोग रात-रात-भर सुनते रह जाते हैं। पर क्या कहानी सुनना और कविता सुनना एक ही बात है ? हम रसात्मक कथाओं या आख्यानों की बात नहीं कहते हैं; केवल घटना-वैचित्र्यपूर्ण कहानियों की बात कहते हैं। कविता और कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता हैं। पर कहानी सुनने वाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुनने वाला कहता है, 'जरा फिर तो कहिए।' कहानी सुनने वाला कहता है, 'हाँ ! तब क्या हुआ !'

मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाये तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायेगा ? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था ? खेद के साथ कहना पड़ता है कि वहुत दिनों से वहुत-से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं। हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे, पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गर्मी के मौसम के लिए एक कवि जी व्यवस्था करते हैं—

> सीतल गुलाव-जल भरि चहवच्चन में,
> डारि कै कमलदल न्हायवे को धँसिए।
> कालिदास अंग-अंग अगर भतर संग
> केसर उसीर नीर घनसार घँसिए।
> जेठ में गोविंद लाल चन्दन के चहलन
> भरि-भरि गोकुल के महलन वसिए।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए—

> गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
> चिक हैं, चिराकें हैं, चिरागन की माला हैं।
> कहै पद्माकर है गजक गजा हू सजी,
> सज्जा हैं, सुरा हैं, सुराही हैं, सुप्याला हैं।

शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

सौंदर्य

सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गयी है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर से पृथक सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत भीतर भी है, जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत रूपमय और गतिमय है, उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। रूप मन और इन्द्रियों द्वारा संघटित है या मन और इन्द्रियाँ रूपों-द्वारा, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायेगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास से किसी की तदाकार परिणति होती है, उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर को कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर। जैसा कि कहा जा चुका है, सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता है, प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिन्दूराभ सान्ध्य

दिगंचल के हिरण्य-मेखला-मंडित घन-खंड में, तुषारावृत्त तुंग-गिरि-शिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।

जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य पृथक अपनी सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है, वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलम्बन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावना में मग्न होकर ऐसी मंगल-दशा का अनुभव कर गये हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमंडल आदि का सौंदर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौंदर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है, उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौंदर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी सुन्दर रूप कविता ढूंढ़कर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा ?

जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें तृप्त करती है वही उसकी अन्तःवृत्ति की सुन्दरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ पर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा को अंकित किया है, उसी ने नवाब-नन्दिनी आयशा के अन्तस की अपूर्व सात्विकी ज्योति की झलक दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। जिस प्रकार वाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि रूप-विभूति से हम सौंदर्य-मग्न होते हैं, उसी प्रकार अन्तःप्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौंदर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं वाह्य और आभ्यन्तर दोनों सौंदर्यों का योग दिखायी पड़े तो फिर क्या कहना है! यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष की धीरता, वीरता, सत्यप्रियता आदि अथवा किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेम-परायणता आदि भी सामने रख दी जायें तो सौंदर्य की भावना सर्वांगपूर्ण हो जाती है।

सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, अनुपयोगी-उपयोगी—ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर

के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखायी जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौंदर्य-पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है, पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखायी पड़ता है। इतनी-सी बात ध्यान में रखने से ऐसे-ऐसे झमेलों में पड़ने की आवश्यकता बहुत-कुछ दूर हो जाती है कि "कला में सत्-असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं", "कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं"।

कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष-साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिम्ब-सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी-बाहरी सौंदर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौंदर्य को भी मिला देने से वर्ण का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अन्तःप्रकृति की छटा का क्या कहना है !

चमत्कारवाद

काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार', अनूठापन आदि शब्द बहुत दिनों से लाये जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य-लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुत्व या वैलक्षण्य से नहीं, जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्राय: कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्तिवैचित्र्यशून्य है तो काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायेगा। उदाहरण के के लिए, पद्माकर का यह सीधा-सादा वाक्य लीजिए—

"नैन नचाय कही मुसुकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।"

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए—

अलि ! हौं तौ गई जमुना-जल को,
सो कहा कहौं, बीर ! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी।।
रपट्यो पग, घाट चढ़्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै कै विहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारो अरी,
गहि बाँह गरीब नें ठाढ़ी करी।

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यन्त स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए—

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
वारहि वार विलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है।

मंडन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाये हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे जल्दी में स्वभावत: मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैया में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नये प्रेमी के चित्त के वितर्क की बड़े सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के, व्यंजना की गयी है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है ?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कारवाली उक्तियों का विचार कीजिये

जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जायें अथवा प्रभात होने पर कौवों में काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अन्धकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश न कर दे। 'भोज-प्रबन्ध' तथा और-और सुभाषित-संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की 'रामचंद्रिका' में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करनेवाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए, पताका और पंचवटी के ये वर्णन लीजिए—

पताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहित पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंडिधारिणी जानि।।

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ।।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावलि रूरी।
राजति हैं यह ज्यौं कुलकन्या। धाय विराजति है सँग धन्या।।

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है ? क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं ?

ऊपर दिये अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्त्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तवृ त्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पायी जायेगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार-ही-चमत्कार है तो थोडी देर के लिए कुछ कुतूहल या मन-बहलाव चाहे हो जाये, पर काव्य को लीन करने वाली सरसता न पायी जायेगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर, उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे, प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की

सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत-से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति!

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जायेगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिये—

> साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
> देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
> जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियै हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ-निःश्वासों के द्वारा निकल गयी, जलतत्त्व सारा आँसुओं-ही-आँसुओं में ढल गया, तेज भी न रह गया, शरीर की सारी दीप्ति या कान्ति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश-ही-आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखायी पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेर कर ताका है और मन्द-मन्द हँसकर उसके मन को हर लिया है, उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इसी वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गयी है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियों में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य-चमत्कार है वह भाव-सबलता के साथ अनूठे ढंग से गुम्फित है—

> दोऊ आनन्द सों आँगन माँझ
> बिराजें असाढ़ की साँझ सुहाई।
> प्यारी के बूझत और तिया को
> अचानक नाम लियो रसिकाई॥

आई उनै मुँह में हँसी, कोहि
तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद,
सुहास गयो उडि हंस की नाई॥

इसके विरुद्ध बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते-ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मज़ाक, कहाँ विरह-वेदना!

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अकसर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए, दासजी की ये विरह दशा-सूचक उक्तियाँ लीजिये—

अब तो बिहारी' के वे बानक गये री,
तेरी तन-दुति केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो,
री! जियरो मनोभव-शरन को तुनीर भो।
ए री! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

ऐसी ही भाव-प्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है—

तू जो कही, सखि! लोनो सरूप,
सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका को हो रही है—कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर आप अचरज होता है, कभी हलकी-सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अन्तरंग सखी को सामने पाकर किंचित विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल अन्तर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता आ ही जाती है। ऐसी चित्त-वृत्तियों के अवसर घड़ी-घड़ी नहीं आया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तलजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित

हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बन्ध हो; उसके आगे नहीं। कुन्तलजी की वक्रता बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोस के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षण-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत-से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो, पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजनमात्र काव्य का उद्देश्य न मानने-वाले इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षण में उसका प्रयो-जन अवश्य ढूँढ़ेंगे।

कविता की भाषा

कविता में कही गयी बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए, यह हम पहले कह आये हैं। अतः उसमें गोचर रूपों का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही लेती है जो स्वाभाविक होते हैं और संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखायी पड़ते हैं।

अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, "समय बीता जाता है" कहने की अपेक्षा "समय भागा जाता है" कहना वह अधिक पसन्द करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गयी हैं लक्षणा-द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) धन्य भूमि बनपंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा।—तुलसी
(ख) मनहु उमगि अंग-अंग छवि छलकै।—तुलसी
(ग) चूनरि चारु चुई-सी परै।
(घ) बनन में बागन पै बसन्त बरसो परै।—पद्माकर
(ङ) वृन्दावन-बागन पै बसन्त बरसो परै।—पद्माकर
(च) हौं तो श्यामरंग में चोराय, चित्त चोराचोरी बोरत तो बोर्‌यो पै

मिचोरत बनै नहीं ।—पद्माकर

(छ) एहो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे, जुरि जायगी।
कहै पद्माकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी।
तौं ही लगि चैन जौ लौं चेतिहै न चन्द्रमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षण का बहुत-कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना को मूर्त्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति-संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत-से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं, बल्कि बहुत-से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थ ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह सकते हैं। ये मूर्त्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा, 'वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है।' इस 'अत्याचार' शब्द के अन्तर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत-से व्यापार हो सकते हैं। अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती है; कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्त्त रूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्त्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में बहुत-से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्र-मीमांसक या तत्त्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दी रहती है, इससे वह किसी सामान्य धर्म के अन्तर्गत आनेवाली बहुत-सी बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है, प्रत्येक का अलग-अलग दृश्य देखने-दिखाने में नहीं उलझता।

पर कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त्त रूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कुछ देर रखना चाहती है। अतः उक्त प्रकार के व्यापक अर्थ-संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है, वहाँ वह उसके अन्तर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ विशेष वस्तुओं या व्यवहारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है। यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा तो वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी। 'वहाँ पर अत्याचार हो रहा है', इस

वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। 'अत्याचार' शब्द के अन्तर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अतः उसे सुनकर या पढ़कर सम्भव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आये या आये भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी काव्य में लाये जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यों ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को 'अप्रतीतत्व' दोष माना है। पर दोष स्पष्ट होते हुए भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते हैं? संस्कृत के अनेक कवियों ने वेदान्त, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर बड़े-बड़े चमत्कार खड़े किये हैं वा अपनी बहुज्ञता दिखायी है। हिन्दी के किसी मुकदमेबाज़ कवित्त कहने वाले ने 'प्रेम फ़ौजदारी' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक में शृंगाररस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी हैं। 'एकतरफ़ा डिगरी', 'तनकीह' ऐसे-ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहे हैं, जिन्हें सुन कर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचिवाले वाह-वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है, तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्यक्तिवाले जाति-संकेत शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करनेवाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करता है। कवि गोचर और मूर्त्त रूपों के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिए, गोस्वामी तुलसीदास जी के ये वचन लीजिये—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागैं।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञान दशा का काव्य-पद्धति पर कथन है। और देखिये। प्राणी आयु-भर क्लेश-निवारण और सुख-प्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता; इस बात को गोस्वामीजी यों सामने रखते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ! नींद भर सोयो।

भविष्य का ज्ञान अत्यन्त अद्भुत और रहस्यमय है। जिसके कारण प्राणी आनेवाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा में मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामी जी ने "चरैं हरित तृन बलिपशु", इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अंगरेज़ कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह कहा है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका तू, रे नर!
अपने रंग में रक्त बहायेगा वेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,

क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा ?
अन्तकाल तक हरा-हरा चारा चभलाता।
हनन हेतु उस उठे हाथ को चाटे जाता ॥
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह ॥[1]

बातचीत में भी जब किसी को अपने कथन द्वारा कोई मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है, तब वह इसी पद्धति का अवलम्बन करता है। यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करनेवाले किसी व्यक्ति को उसे समझाना है तो वह कहेगा कि 'तुमने इसका हाथ पकड़ा है।' यह न कहेगा कि 'तुमने इसके साथ विवाह किया है।' विवाह शब्द के अन्तर्गत न जाने कितने विधि-विधान हैं जो सब-के-सब एकबारगी मन में आ भी नहीं सकते और उतने व्यंजक या मर्मस्पर्शी भी नहीं होते। अत: कहनेवाला उनमें से जो सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक व्यापार 'हाथ पकड़ना' है, जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता है, उसे भावना में लाता है।

तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्ण-विन्यास की है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' का भेद हमारी पंडित-मंडली में बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तिविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौंदर्य-साधन के लिए ही हैं। नाद-सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्ण-विशिष्टता को हिन्दी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गये कि उनकी बहुत-सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गयी। उसमें अनुप्रास की लम्बी लड़ी—वर्ण-विशेष की निरन्तर आवृत्ति—के सिवा और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिए थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए काम में लायी गयी।

नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज़ आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अत: नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फ़ालतू समझते हैं वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को भी फ़ालतू समझते हैं, वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अत: अंग्रेज़ी

आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं ?

हमारी काव्य-भाषा में एक चौथी विशेषता भी है जो संस्कृत से ही आयी है। वह यह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इसमें गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं, जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए 'हे गोपिकारमण ! हे वृन्दावन-विहारी !' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा ! 'हे मुरारि ! हे कंसनिकन्दन ! आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए सामान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत-कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साधन को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना

विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में), चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे—अप्रस्तुत-प्रशंसा, परि-संख्या, व्याज-स्तुति, विरोध इत्यादि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे—अनुप्रास में) लाये जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही। मुख के वर्णन में जो कमल, चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं, वह इसीलिए जिनमें इनकी वर्ण-रुचिरता, कोमलता दीप्ति इत्यादि के योग के सौंदर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत लक्ष्य नहीं है। इस बात को भूलकर कवि-परम्परा में बहुत-से ऐसे उपमान चला दिये गये हैं जो प्रस्तुत भावना में सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते हैं। जैसे, नायिका का अंग-वर्णन सौंदर्य की भावना प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे वर्णन में यदि कटि का प्रसंग आने पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जायेगी तो सौंदर्य की भावना में क्या वृद्धि होगी ? प्रभात के सूर्य-बिम्ब के सम्बन्ध में इस कथन से कि 'है शोणित-कलित कपाल यह किल कापा-लिक काल को' अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखंड के ऊपर उदित होते हुए चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध में इस उक्ति से कि 'मनहुँ क्रमेलक-पीठि पै धर्‌यो गोल घंटा लसत,' दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौंदर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं, वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहें। चन्द्रालोककार तो कहते हैं कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था; पर भामह, उद्‌भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकारों को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में—रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होनेवाली सारी सामग्री के अर्थ में—किया है। पर ज्यों-ज्यों शास्त्रीय विचार गम्भीर और सूक्ष्म होता गया त्यों-त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते-उभरते विश्वनाथ महापात्र के 'साहित्य-दर्पण' में साफ़ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन गये। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक-दूसरे से अलग कर दी गयी हैं। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद ने बहुत-

सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिये हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्यवस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढग हैं। पर प्राचीन अवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं, जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का सम्बन्ध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नही रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन-किन रस के विभावों और अनुभावों के अन्तर्गत आयेगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अन्तर्गत ही हो सकती है।

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक क्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। 'काव्यप्रकाश' की कारिका में यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया रूप-वर्णनम्।

अर्थात—"जिसमें बालिकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।" प्रथम तो बालिकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्वकार राजानक रुय्यक कहते हैं—

सूक्ष्म-वस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तल ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। केशवदास के पचीसों पद्य ऐसे रखे जा

सकते हैं जिनमें यहाँ से वहाँ तक उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भरी हैं, शब्दसाम्य के बड़े खेल-तमाशे जुटाये गये हैं, पर उनके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं उत्पन्न होती। इन्हें कोई सहृदय या भावुक काव्य न कहेगा। आचार्यों ने भी अलंकारों को 'काव्य शोभा', 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्त्तु:' ही कहते हैं। पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में अलंकार प्रयुक्त नहीं, वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतारकर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं। चमत्कार-विवेचन पहले हो चुका है।

अलंकार हैं क्या ! सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गयीं, उनका वे नामकरण करते गये। जैसे—'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं, सब ढूँढ़ डाले गये, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गयीं अथवा जो-जो स्थल रमणीय लगे, उनकी रमणीयता कारण वर्णन-प्रणाली थी, आदि ? काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन-प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं, जो न निर्दिष्ट की गयी हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गये हैं।

कविता पर अत्याचार

भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की—आसमान पर चढ़नेवाली—स्तुति करायी है, कहीं द्रव्य न देनेवालों की निराधार निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय है। कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मन्दिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नही ढूंढ़ा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, वच्चों के मुंह में चारा डालते हुए पक्षियो, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई विल्लियों में कभी-कभी सौंदर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरवारों तक नहीं पहुँच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य वनाना, वात-वात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्म-कलाप जगत और जीवन के वीच में उसे सुन्दर लगते हैं, उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वान्तः सुखाय' प्रवृत्त होता है।

कविता की आवश्यकता

मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी-न-किसी रूप में, पायी जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्त:प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य-जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी ज़रूरत नहीं।

—'चिन्तामणि' से साभार

संदर्भ-संकेत

1. The lamb thy riot dooms to bleed to day,
   Had he the reason, Would he skid and play
   Pleased to the last he crops the flowry, food,
   And licks the hand just raised to shed his blood,
   The blindness to the future kindly given.

—Essay on Man

साहित्य का उद्देश्य

प्रेमचन्द

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ़ करनेवालों ने—हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया था, वह क्योंकर पूरा हो? वही भाषा जिसमें आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोलचाल की भी होती है और लिखने की भी। बोलचाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के ज़माने में भी मौजूद थी; पर उन्होंने जिस भाषा की बेल-दाग डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोलचाल से हम अपने क़रीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती

रहती हैं ।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाये, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना (=घोंसला) और क़फ़स (=पींजरा), बर्क़ (=बिजली) और ख़िरमन की कल्पनाएँ, विरह-दशा के वर्णन में निशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस सूझ से दिखायी जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्संदेह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है ? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोकरुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी और कविता की क़द्रदानी रईसों-अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है ? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिक़ी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाक़ी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परंतु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेज़ी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्‌भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति

रहती हैं ।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाये, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग़ पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना (=घोंसला) और क़फ़स (=पींजरा), बर्क़ (=बिजली) और खिरमन की कल्पनाएँ, विरह-दशा के वर्णन में निशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस ढंग से दिखायी जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप ख़ूब जानते हैं।

निस्संदेह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोकरुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी और कविता की क़द्रदानी रईसों-अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिक़ी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाक़ी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परंतु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेज़ी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति

की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या सहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जागृत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने ज़माने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब, साहित्य ने यह काम अपने ज़िम्मे ले लिया है और उसका साधन सौंदर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौंदर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसमें सौंदर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जागृत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौंदर्य-वृत्ति को जागृत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायेगी और वह आपके ख़िलाफ़ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है,

पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर, इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है; अपनी सहज सहानुभूति और सौंदर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही संतोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से ये सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इतमीनान चाहते हैं कि वे सच-मुच मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है; क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गयी है और अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभवित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाये। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्य-कार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जागृत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमज़ोरियाँ हैं, वह मर्ज़ की तरह हमसे चिपटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फ़िक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमज़ोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु-फ़क़ीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों

के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कमज़ोरियों की ज़िम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौंदर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमज़ोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है, क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शक-सदेह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुंदर सुगंध-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है, इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफ़ादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ भाव है वहीं दृढ़ता है और जीवन है, जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह विलगाव और विरोध प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमंडल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने-आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है; दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक संघ', यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता

तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखायी नहीं देती। इसलिए वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाये। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे। क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायें कि वह गुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाये? वह इस संवेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में ज़ोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है। पर शायद विशेषता पर ज़ोर देने की ज़रूरत इस-लिए पड़ी कि प्रगति या उन्नत से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है, इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला मनो-भावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाये, जिनसे हमारे मासिक पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा तो केवल इतना कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोये, तो इसमें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी ज़माने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो; पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब ज़माना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सदेश हो। अब तो हज़रते इक़बाल के साथ हम भी कहते हैं—

रम्ज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाबी
रदकुलजुम आरमोदन नंगस्त आबे जूरा।
व आशियाँ न नशीनम ज़े लज्ज़ते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं—कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुख भी।

आसमान पर छायी लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाये, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है; प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के लिए उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कलगान सुनता है, तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणित वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही,

आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्मप्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से स्वप्न को सचाई बनाने का सतत, किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद आदि सभी पैग़म्बरों और धर्मप्रवर्त्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही, पर किसी को सफलता न मिली और छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आज़माये को आज़माना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायें ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए आदर्श ही बाक़ी न रह जायेगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाये। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में क़दम रखना है। हमें एक ऐसे नये संगठन को सर्वांगपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंत:पुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मज़ाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेशभूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए, उसका शीन-क़ाफ़ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का ग़लत उपयोग उसके व्यंग्यविद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष

देखे। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चोंवाली ग़रीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है! उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुन्दरता का वास है—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होंठो और कुम्हलाए हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाये तो वह देखेगा कि रँगे होंठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाए हुए होंठों और कुम्हलाए गालों के आंसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफ़ासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उनके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्मत्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा—

अज दस्ते जुनूने मन जिब्रील जबूं सैद,
यज़दां बकमंद आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात—मेरे उन्मत्त हाथों के जिब्रील एक घटिया शिकार है! ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमंद में तू खुदा को ही फांस लाये?]

अथवा

चूं मौज साज़े वजूदम ज़े सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात—तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूंढ़ रहा हूं।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायेगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायेगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी; किन्तु वह वायुमंडल होगा जो सारे भूमंडल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायेंगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हज़ारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जायेंगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—-उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने-वाली सचाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं—अर्थात भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्य-कार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मंत्रिमंडल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं। परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्यकार ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं, अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई क़ैद नहीं रही—-जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है—तो जैसे महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं है कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी हैं; और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गयी हैं। मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्ति मात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अप-रिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गयी हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होती जाती है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग-रूप में देखता है! इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपनी स्वार्थ-साधना का औज़ार बनाये—मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है—बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व क़ायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं,

उन पर समाज के प्रति उतनी ही ज़िम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे, जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे शुद्ध स्वार्थ-साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे —अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे—उसे उस विभाग से विशेषत: और सब विभागों से सामान्यत: परिचय हो।

अगर हम अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं, तो अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज़ कलम काफ़ी है। पर यहीं विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दंड ऊँचा करना होगा, जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान सेवा कर सके; जिसमें समाज में उसे वह पद मिले, जिसका वह अधिकारी है; जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके, और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही संतोष न करें, किन्तु खुद भी उसको बढ़ाएँ।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है; पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायेंगे, जो ज़मीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अंतर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं, जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पांव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार है—हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये? हम अमीरों की श्रेणी में

अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झंडा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मन:तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इक़बाल के साथ कहता है—

मर्दुम आज़ादम आगूना रायूरम कि मरां,
मीतवाँ कुश्तव येक जामे जुलाले दीगराँ।

[अर्थात—मैं आज़ाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसंद नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का संदेश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है, वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायुमंडल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके ओर पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, निबंध पढ़े जायें, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायुमंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबे में हरएक ज़बान में ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं जिसमें हरएक भाषा में अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हरएक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुए भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना, उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था; क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पियो-मौज करो' का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छंदाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता

है; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए सम्भावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका ग़म दूसरे खाते थे; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।[1]

1. 'प्रगतिशील लेखक संघ' के लखनऊ अधिवेशन में सभापति के आसन से दिया हुआ भाषण।

कविता की मुक्ति

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

हिन्दी की वाटिका में खड़ी बोली की कविता की क्यारियाँ, जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बाग़बानों के परिश्रम से लग चुकी थीं, आज धीरे-धीरे कलियाँ लेने लगी हैं। कहीं-कहीं, किसी-किसी पेड़ के दो-चार सुमन पंखुड़ियाँ भी खोलने लगे हैं। उनकी अमन्द सौरभ लोगों को खूब पसन्द आयी है। परन्तु यह हिन्दी के उद्यान में अभी प्रभात-काल ही की स्वर्णच्छटा फैली है। उसमें सोने के तारों का बुना कल्पना का जाल ही अभी है, जिसमें किशोर कवियों ने अनन्त-विस्तृत नील प्रकृति को प्रतिमा में बाँधने की चेष्टाएँ की हैं, उसे प्रभात के विविध वर्णों से चमकती हुई अनेक रूपों में सुन्दर देखकर। वे हिन्दी के इस काल के शुष्क साहित्य-हृदयों में उन मनोहर प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित करने का विचार कर रहे हैं। इसीलिए, अभी जागरण के मनोहर चित्र, आह्लाद-परिचय आदि जीवन के प्राथमिक चिह्न ही देख पड़ते हैं—विहँगों का मधुर-कल-कूजन, स्वास्थ्य-प्रद, स्पर्श-सुखकर शीतल वायु, दूर तक फैली हुई प्रकृति के हृदय की हरियाली, अनन्त-वाहिनी नदियों का प्रणय-चंचल वक्षःस्थल, लहरों पर कामनाओं की उज्ज्वल किरणें, चारों ओर बाल-प्रकृति की सुकुमार चपल दृष्टि। इसके सिवा अभी कर्म की अविश्राम धारा बहती हुई नहीं देख पड़ती। इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्पवयस्क साहित्यिक प्राचीन गुरुडम के एकच्छत्र साम्राज्य में बग़ावत के लिए शासन-दंड ही पा रहे हैं, अभी उन्हे साहित्य के राजपथों पर साधिकार स्वतंत्र रूप से चलने का सौभाग्य नही मिला; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठनेवाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जल-कण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायेंगे, और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होगे। यह नवीन साहित्य के क्रिया-काल में सम्भव होगा। अभी तो प्रत्येक नवयुवक लेखक और कवि अपनी ही प्रतिभा के प्रदर्शन मे लगा हुआ है। अभी उनमें अधिकांश साहित्यिक अपने को समझ भी

नहीं सके। जो कवि नहीं, वह भी अपने को कविता के क्षेत्र पर अप्रतिद्वन्द्वी समझता है। सब लोग अपनी ही कुशलता और अपनी ही रुचि-विशेषता को लेकर साहित्य के बाजार में खड़े हुए देख पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो बड़ा ही विचित्र नज़ारा है। प्रशंसा और आलोचना में भी आदान-प्रदान जारी है। दलबन्दियों के भाव जिनमें न हों, ऐसे साहित्यिक कदाचित ही नज़र आते हैं, और प्रतिभा-शाली साहित्यिकों को निष्प्रभ तथा हेय सिद्ध करके ससम्मान आसन ग्रहण करने-वाले महालेखक और महाकविगण साहित्य में अपनी प्राचीन ग़ुलामी-प्रथा की ही पुष्टि करते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में 'परिमल' निकल रहा है। इसमें मेरी प्राथमिक अधिकांश चुनी हुई हुई रचनाएँ हैं। इसके मैंने तीन खंड किये हैं। प्रथम खंड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं, जिनके लिए हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों के द्वारपालों को 'प्रवेश-निषेध' या 'भीतर जाने की सख्त मुमानियत है' कहने की ज़रूरत शायद न होगी। दूसरे खंड में विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं। इस ढंग के साथ मेरे 'सामवाय: सखा मत:' या 'एकक्रियं भवेन्मित्रम्' सुकुमार कवि-मित्र पन्तजी के ढंग का साम्य है, यह भी उसी तरह ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीत पर चलता है। पन्तजी के छन्दों में स्वर की बराबर लड़ियाँ या सम-मात्राएँ अधिक मिलती हैं, इसमें बहुत कम—प्राय: नहीं। ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीत का मुक्त रूप ऐसा ही होगा, जहाँ स्वर के उत्थान तथा पतन पर ही ध्यान रहता है, और भावना प्रसरित होती चली जाती है। तीसरे खंड में स्वच्छन्द छन्द हैं, जिनके सम्बन्ध में मुझे विशेष रूप से कहने की ज़रूरत है। कारण, इसे ही हिन्दी में सर्वाधिक कलंक का भाग मिला है।

हिन्दी के हृदय में खड़ी बोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब ही चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं, और यह भी निर्भ्रांत है कि राष्ट्र-प्राप्ति की कल्पना के काम्यवन में सविचार विचरण करनेवाले हमारे राष्ट्रपतियों के उर्वर मस्तिष्क में क़ानूनी कोणों के अतिरिक्त भाषा के सम्बन्ध की अब तक कोई भावना, महात्माजी, महामना मालवीयजी तथा लोकमान्य-जैसे दो-चार प्रख्यात-कीर्ति महापुरुषों को छोड़कर, उत्पन्न नहीं हुई; जो कुछ थोड़ा-सा प्रचार तथा आन्दोलन राष्ट्र-भाषा के विस्तार के लिए किया जा रहा है, उसका श्रेय हिन्दी के शुभचिन्तक साहित्यिकों को, हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं को ही प्राप्त है। बंगाल अभी तक अपनी ही भाषा के उत्कर्ष की ओर तमाम भारतवर्ष को खींच लेने के लिए उत्कंठित-सा देख पड़ता है। इसका प्रमाण महामना मालवीय जी के सभापतित्व में, कलकत्ता-विद्यासागर कॉलेज-हॉस्टल में दिये हुए अँगरेज़ी के विद्वान प्रोफ़ेसर जे० एन० बनर्जी महाशय के भाषण से मिल चुका है। भरतपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में महाकवि रवीन्द्रनाथ ने भी अपने भाषण में राष्ट्र-

भाषा के प्रचार पर विशेष कुछ नहीं कहा, जैसे महात्मा गाँधीजी द्वारा प्रचारित चर्खा-विषय की अनावश्यकता की तरह यह राष्ट्र-भाषा-वाद भी कोई अनावश्यक विषय हो। उन्होंने केवल यही कहा कि अपनी भाषा में वह चमत्कार दिखलाने की कोशिश कीजिए, जिससे लोग स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हों। यहाँ तमाम विरोधी उक्तियों के खंडन-मंडन की जगह नहीं। मैं केवल यही कहूँगा कि प्रत्येक समाज के लिए कुछ हृदय-धर्म है, और कुछ मस्तिष्क-धर्म। अभी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में मस्तिष्क-धर्म से ही काम लिया जाता है, जिस तरह साम्पत्तिक विचार से चर्खा और खद्दर के लिए। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के साथ तुलना करने पर प्रान्तीय कोई भाषा नहीं टिकती, और उसका नवीन साहित्य भी क्रमशः पुष्ट होता जा रहा है, जिसे देखकर यह आशा दृढ़ हो जाती है कि शीघ्र ही हिन्दी के गर्भ से बड़े-बड़े मनस्वी साहित्यिकों का उद्भव होगा। इस समय भी साहित्य में हिन्दी अद्भुत प्रगति दिखला रही है। उधर जो लोग, खासकर बंगाल के लोग; अपनी ही भाषा की सार्वभौमिकता के प्रचार की कल्पना में लीन हैं, जिन्होंने पुस्तकें लिखकर बोलचाल की हिन्दी के तमाम विभाग करते हुए उसे आगरे के इर्द-गिर्द में बोली जानेवाली कुछ ही लोगों की भाषा ठहराया है, और इस तरह अन्यान्य भाषाओं के साथ अपनी बँगला का मुक़ाबिला करते हुए उसे ही अधिक-संख्यक मनुष्यों की भाषा सिद्ध किया है, जिन्होंने अमेरिका में रहने का रोब दिखलाते हुए बँगला को ही राष्ट्र-भाषा का आसन दे डाला है, जो लोग छिपे तौर से बँगला के प्रचार के उपाय सोच रहे हैं, जिन लोगों को पश्चिमोत्तर भारत-वर्ष के तमाम शहरों में बंगालियों की अच्छी स्थिति के कारण उन्हीं की भाषा के प्रसार की बात सूझती है, वे राष्ट्र-भाषा के अपर प्रश्नों की तरफ़ बिलकुल ही ध्यान नहीं देते, एक तृतीयांश मुसलमानों का विचार अनेक मस्तिष्क में नहीं आता, वे नहीं जानते कि आर्य उच्चारण और बँगला के मंगोलियन उच्चारण में क्या भेद है—बँगला के उच्चारण-असादृश्य से पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र की संस्कृति को कितना धक्का पहुँचाता है, वे नहीं जानते। उस तलवार के ज़माने में सिर काटकर भी साहित्य में अपनी संस्कृत की रक्षा करनेवाले वे गत शताब्दियों के महापुरुष अपनी भाषा और लिपि के भीतर से असीम बल अपनी सन्तानों को दे गये हैं, वे नहीं जानते कि आजकल के ज़मींदारों, भैयों, मारवाड़ियों (मेड़ों) और गुजरातियों के निरक्षर शरीर के भीतर कितना बड़ा स्वाभिमान इस दैन्य के काल में भी जाग्रत है, वे "बहु-जन-हिताय, बहु-जन-सुखाय" का बिलकुल खयाल नहीं करते। इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी से लेकर आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जिन लोगों को खड़ी बोली की प्राणप्रतिष्ठा का श्रेय मिला है, भाषा के मार्जन में जिन लोगों ने अपने शरीर के तमाम रक्त-बिन्दु सुखा दिये हैं, हिन्दी में खिचड़ी-

शैली के समावेश तथा प्रचार से शहरों के प्रचलित उर्दू-शब्दों तथा मुहावरों को साहित्य में जगह देते हुए मुसलमान-शासन-काल के चिह्न भी रख दिये हैं, और इस तरह अपने मुसलमान भाइयों को भी राष्ट्र की सेवा के लिए आमंत्रित किया है, साहित्य के साथ-साथ राष्ट्र-साहित्य की भी कविता का उन्हीं लोगों ने प्रथम शृंगार किया है। वे जानते थे, कलकत्ता, बम्बई, मदरास और रंगून आदि अपर-भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी ही राज्य-कार्य तथा व्यवसाय आदि में लायी जा सकती है, शासक अँगरेज़ों के मस्तिष्क में भी यही ख़याल जड़ पकड़े हुए है, और वे भारत के लिए हिन्दी को ही सार्वभौमिक भाषा मानते और कार्य-संचालनार्थ उसी की शुद्धाशुद्ध शिक्षा ग्रहण करते हैं। मैं यहाँ अवश्य बँगला का विरोध नहीं कर रहा, उसके आधुनिक अमर साहित्य का मुझ पर काफ़ी प्रभाव है, मैं यहाँ केवल औचित्य की रक्षा कर रहा हूँ। जिस भाषा के आकार का उच्चारण बिलकुल अनार्य है, जिसमें ह्रस्व-दीर्घ का निर्वाह होता ही नहीं, जिसमें युक्ताक्षरों का एक भिन्न उच्चारण होता है, जिसके 'स'कारों और 'न'कारों के भेद सूझते ही नही, वह भाषा चाहे जितनी मधुर हो, साहित्यिकों पर उसका जितना भी प्रभाव हो, वह कभी भारत की सर्व-मान्य राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। और, जब तक लोग इस वाद-विवाद में पड़े हैं, नेतागण अँगरेज़ी के प्रवाह में आत्मविस्मृत हुए बह रहे है, तब तक खड़ी बोली अपने साहित्य के उत्कर्ष में श्रेष्ठ आसन ग्रहण कर लेगी, इसमें मुझे बिलकुल ही सन्देह नहीं। मैं यह जानता हूँ कि जो राष्ट्र-भाषा होगी, उसे अपने साहित्यिक पौरुष से ही वह पद प्राप्त करना होगा, और उसके सेवक इस विचार से बिलकुल निश्चेष्ट और परमुखापेक्षी भी नहीं रह गये। कारण, आलोक और प्रतिभा सबके लिए समान रूप से मुक्त है।

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नही करता, उसके तमाम कार्य औरों के प्रसन्न करने के लिए होते है— फिर भी स्वतंत्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग़ की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। दोनों ही सुन्दर हैं, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्द-प्रद है, यह बतलाना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप, वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल हैं। मेरे मुक्त काव्य के समर्थन में पंडित [illegible] विद्यालंकारजी ने देहरादून-कवि-सम्मेलन में जो प्रहसन खेला था, उसमें गायत्री-मंत्र का उदाहरण विरोधी जगन्नयप्रसादजी चतुर्वेदी के

सामने पेश किया था। लाखों ब्राह्मण गायत्री-मंत्र का जप करते हैं। उसके जप के साथ-साथ भाषा की मुक्ति का प्रवाह प्रतिदिन उनके जिह्वाग्र से होकर बहता है, पर वे उसका अर्थ, उसकी सार्थकता, सब-कुछ भूल गये हैं। चूँकि उस छन्द का एक नाम 'गायत्री' रख दिया गया है, इसलिए प्राय: अज्ञजन उसमें स्त्री-मूर्ति ही की कल्पना कर बैठे हैं। 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' में खुलासा ब्रह्म की स्तुति है कि वह सूर्य का भी वरेण्य है। 'तत्' न स्त्री है, न पुरुष। जिस तरह ब्रह्म मुक्त-स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी। पर आज इस तरफ़ कोई दृक्पात भी नहीं करना चाहता। इतनी बड़ी दासता—रूढ़ियों की पाबन्दी इस मंत्र के जपनेवालों पर भी सवार है। वेदों में काव्य की मुक्ति के ऐसे हज़ारों उदाहरण हैं, बल्कि 95 फ़ीसदी मंत्र इसी प्रकार मुक्त-हृदय के परिचायक हो रहे हैं। इन मंत्रों को ईश्वर-कृत समझकर अनुयायीगण विचार करने के लिए भी तैयार नहीं, न पराधीन काल की अपनी बेड़ियाँ किसी तरह छोड़ेंगे, जैसे उन बेड़ियों के साथ उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध हो गया हो। "ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"—यहाँ उस मुक्त-स्वभाव ईश्वर को सर्वभूतों के हृदय में ही ठहरा दिया गया है, और हृदय तक मन को उठा सकनेवाले जो कुछ भी करते हैं, मुक्त-स्वभाव से करते हैं, इसलिए वह कृति जैसे ईश्वर की कृति ही हो जाती है। बात यह है वेदों की अपौरुषेयता की। वे मनुष्यकृत ही हैं, पर वे मनुष्य उल्लिखित प्रकार के थे। आजकल की तरह के रूढ़ियों के गुलाम या अँगरेज़ी पुस्तकों के नक़्क़ाल नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध की ये बातें जो समझते हैं, उनमें एक अद्भुत शक्ति का प्रकाश होता है। वे स्वयं भी अपनी महत्ता को समझते और खुलकर कहते भी हैं। उनकी वाणी में महाकर्षण रहता है। संसार उस वाणी से मंत्र-मुग्ध हो जाता है। उस पर उस स्वर्गीय शक्ति की धाक जम जाती है। वह उस प्रभाव को मान लेता है। वैदिक काल के मुक्त-स्वभाव कवियों का एक और उदाहरण लीजिए—

> सपर्यगाच्छुक्रमकायव्रत-
> मस्नाविरथं शुद्धमपाविद्धम्;
> कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू-
> र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य:।
>
> (यजु० अ० 40, मं० 8)

ज़रा चौथी पंक्ति को देखिए। कहाँ तक फैलती चली गयी है! फिर भी किसी ने आज तक आपत्ति नहीं की। शायद इसके लिए सोच लिया है कि साक्षात परमात्मा आकर लिख गये हैं। अजी, परमात्मा स्वयं अगर यह रबड़-छन्द और केंचुआ-छन्द लिख सकते हैं, तो मैंने कौन-सा क़सूर कर डाला? आखिर आपके परमात्मा का ही तो अनुसरण किया है। आप लोग कृपा करके मुझे क्यों नहीं

क्षमा कर देते ? एक बात ध्यान देने की और है। संस्कृत-काल के गणात्मक छन्दों की भी परवा वैदिक काल में नहीं की गयी। इस छन्द की जो तीन पहली लड़ियाँ बराबर मालूम पड़ती हैं, उनमें भी स्वच्छन्दता पायी जाती है। देखिए, पहला वर्ण ह्रस्व है और दूसरा दीर्घ। अब गणों का साम्य नहीं रहा।

तीन-तीन और पांच-पांच सतरों की कविता इसी समय नहीं, पहले भी हुआ करती थी; ऋग्वेद—

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा
गिरो दस्रा जुजुपाणा युवाकोः
हव्यानि च प्रतिभृता वीतं नः।

वैदिक साहित्य-काव्य में इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अंदाजा लगा लेते हैं। परवर्ती काल में ज्यों-ज्यों चित्र-प्रियता बढ़ती गयी है, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियंत्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है, यह जाति त्यों-त्यों कमजोर होती गयी है। सहस्रों प्रकार के साहित्यिक बन्धनों से जाति स्वयं भी बँध गयी, जैसे मकड़ी आप ही अपने जाल में बँध गयी हो, जैसे फिर निकलने का एक ही उपाय रह गया हो कि उस जाल की उलटी परिक्रमा कर वह उससे बाहर निकले। उस ऊर्णनाभ ने जितनी जटिलता दूसरे जीवों को फाँसने के लिए उस जाल में की थी, वह उतने ही दृढ़ रूप से बँधा हुआ है, अब उसे अपनी मुक्ति के लिए उन तमाम बन्धनों को पार करना होगा। यही हाल वर्तमान समय में हमारे काव्य-साहित्य का है। इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासनों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख ले सकते हैं! अनुशासन के समुदाय चारों तरफ़ से उसे जकड़े हुए हैं, साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गये हैं। चित्र स्वयं ससीम है, इसलिए उन्हें प्यार करनेवाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है, और इस तरह उस वृत्ति को धारण करनेवाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतंत्र हो, पर पीछे से सीमा में बँधकर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के ही परिणामक होते हैं, और क्रमशः मनुष्य-जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर तथा गुलाम से गुलाम कर देने वाले।

साहित्य की मुक्ति इसके [illegible] पड़ती है। [illegible] मुक्ति-प्रयास का पता लगता है। धीरे [illegible] छूटने [illegible] गुलो

हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ़ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखलाकर उसे फिर किसी ने वाष्प में विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिया हो। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न ज़ोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूर्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मंडल में लीन कर देते हैं। पल्लवों के हिलने में किसी अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे से अपने पास बुलाने को इंगित प्रत्यक्ष करते हैं। इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है, और यही जाति के मस्तिष्क में विराट् दृश्यों के समावेश के साथ-ही-साथ स्वतंत्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।

यही बात छन्दों के सम्बन्ध में भी है। छन्द भी जिस तरह क़ानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्तृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ-ही-साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर-प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।

'कविता-कौमुदी' में पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने जैसा लिखा है, भिन्नतुकान्त (Blank verse) का श्रीगणेश पहले-पहल हिन्दी में प्रसिद्ध कवि बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने किया है। उनका यह छन्द इक्कीस मात्राओं का है। पंडित रूपनारायण जी पांडेय ने इस छन्द का उपयोग (शायद अपने अनुवाद में) बहुत काफ़ी किया है। पांडेयजी से इस छन्द के विषय में पूछने पर, उन्होंने जो उत्तर दिया, उससे इस विषय का फ़ैसला न हुआ कि इस छन्द के प्रथम लिखनेवाले 'प्रसाद' जी हैं या वह। उदाहरण पांडेयजी द्वारा अनुवादित रवीन्द्रनाथ की 'राजारानी' से दे रहा हूँ—

> "कहना होगा सत्य तुम्हारा! किंतु मैं
> करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का
> जब तक, तब तक तुम चिंता कुछ मत करो।
> तुम पर से विश्वास उठेगा जिस घड़ी,
> सत्यासत्य विचार करूँगा मैं तभी।"

यह भिन्नतुकान्त छन्द मात्रिक है। एक भिन्नतुकान्त हिन्दी में दूसरे प्रकार का बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्वारा आया है—वह वर्णात्मक है—उसका भी उपयोग अनुवाद ही के रूप में गुप्तजी ने किया है। उदाहरण उनके 'वीराङ्गना-काव्य' के अनुवाद से देता हूँ—

सुनो अब दुःख-कथा—मन्दिर में मन के
रख वह श्याम मूर्ति त्यागिनी-तपस्विनी
पूजे इष्टदेव को ज्यों निर्जन गहन में—
पूजती थी नाथ को मैं; अब विधि-दोष से
चेदीश्वर राजा शिशुपाल जो कहाता है,
लोक-रव सुनती हूँ, हाय! वर-वेश से
आ रहा है शीघ्र यहाँ वरने अभागी को!

एक तीसरे प्रकार का अतुकान्त काव्य (Blank verse) हिन्दी में और है। इसके रचयिता हैं हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि अयोध्यासिंहजी उपाध्याय। बहुतों ने इनके लिखे हुए 'प्रिय-प्रवास' के अतुकान्त छन्दों को ही हिन्दी की प्रथम अतुकान्त सृष्टि माना है। उपाध्याय जी ने इसकी भूमिका में गण-वृत्तों को हिन्दी में अतुकान्त काव्य के योग्य माना है, और यह इसलिए कि संस्कृत की कविता अतुकान्त है, और वह गणवृत्तों में है।

अधिक और हुई नभ-लालिमा,
दश दिशा अनुरञ्जित हो गईं;
सकल पादप-पुञ्ज-हरीतिमा,
अरुणिमा-विनिमज्जित-सी हुई।

एक प्रकार का अतुकान्त काव्य 19 मात्राओं का और लिखा गया है। जहाँ तक पता चलता है, अभी सुकवि बाबू सियारामशरणजी गुप्त इसके प्रथम आविष्कारक ठहरते हैं। हिन्दी के कोमल कवि पन्तजी ने भी इतनी ही मात्राओं के अतुकान्त छन्द में 'ग्रन्थि' नाम की अपनी मनोहर कविता कई संख्याओं में 'सरस्वती' में छपवायी है। सियारामशरणजी ने 'प्रभा' में इस प्रकार की अतुकान्त कविता पहले-पहल लिखी थी, यह मुझे उन्हीं के कथनानुसार मालूम हुआ है। अब तक मैं समझता था, इस 19 मात्राओं के अतुकान्त काव्य के पन्तजी ही प्रथम आविष्कारक हैं। वह इस प्रकार है—

विरह अहह! कराहते इस शब्द को
निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा।

(सुमित्रानन्दन पन्त)

एक प्रकार की अतुकान्त कविता का रूप पंडित गिरिधरजी शर्मा 'नवरत्न' ने हिन्दी में खड़ा किया है। इसकी गति कवित्त-छन्द की-सी है। हरएक छन्द आठ-आठ वर्णों का होता है। अन्त्यानुप्रास नहीं रहता। मैंने रवीन्द्रनाथ की एक कविता के अनुवाद में इसी अतुकान्त काव्य का रूप देखा था। 'मेरे गंग गुरुद्वार' इस तरह हर पंक्ति में आठ-आठ अक्षर रहते हैं। अमित्र कविता इस प्रकार हिन्दी के रूप, भाव और मर्म, तीनों वृत्तों में हुई है। यहाँ किसकी कविता सफल

है और किसकी निष्फल, इसका विचार नहीं किया गया। इसका फ़ैसला भविष्य के लोग करेंगे। मुझे केवल यही कहना है कि हिन्दी में अतुकान्त कविता के कवियों में किसी ने भी दूसरे का अनुसरण नहीं किया। जहाँ कहीं मात्राओं में मेल हो गया है वहाँ, मुमकिन है, एक को अपने दूसरे कवि की रचना परखने का मौक़ा न मिला हो, और दोनों की मौलिकता एक-दूसरे से लड़ गयी हो। ऐसा न होता, तो वे कोई दूसरा छन्द ज़रूर चुनते, जब कि अन्त्यानुप्रास उड़ा देने से ही अतुकान्त काव्य बन जाता है। इस प्रकार की अतुकान्त कविता में प्रथम श्रेय आल्हखंड के लिखनेवाले को हिन्दी में प्राप्त है।

इस तरह की कविता अतुकान्त काव्य का गौरव-पद भले ही अधिकृत करती हो, वह मुक्त-काव्य या स्वच्छन्द कदापि नहीं। जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नहीं रहते। न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का श्रृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस श्रृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त-काव्य कह सकते हैं। ऊपर जितने प्रकार के अतुकान्त काव्य के उदाहरण दिये गये हैं, सब एक-एक सीमा में बँधे हुए हैं, एक-एक प्रधान नियम सब में पाया जाता है। गण-वृत्तो में गणों की श्रृंखला, मात्रिक वृत्तों में मात्राओं का साम्य, वर्ण-वृत्तों में अक्षरों की समानता मिलती है। कहीं भी इस नियम का उल्लंघन नहीं किया गया। इस प्रकार के दृढ़ नियमों से बँधी हुई कविता कदापि मुक्त छन्द नहीं हो सकती। मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खंड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का-सा जान पड़ता है, कहीं-कहीं अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।

> विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग-भरी
> स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु तरुणी
> जुही की कली
> दृग बन्द किए—शिथिल—पत्रांक में।

यहाँ 'सोती थी सुहाग-भरी' आठ अक्षरों का एक छन्द आप-ही-आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्त-छन्द की तरह है।

हिंदी में मुक्त-काव्य कवित्त छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कंठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा

ठुमरी की तीन तालों में भी सफलतापूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफ़ी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। आज भी हम राम-लीलाओं में, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के समय, वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यदि हिंदी का कोई जातीय छन्द चुना जाये, तो वह यही होगा। आज-कल के मार्जित कानों को कवित्त-छन्द का नाटक में प्रयोग जरा खटकता है, और वह इसीलिए कि बार-बार अन्त्यानुप्रास का आना वार्तालाप की स्वाभाविकता को बिगाड़ देता है। बाबू मैथिलीशरणजी को इस विचार से विशेष सफलता मिली है। कारण, कवित्त-छन्द की गति पर उनके अमित्र छन्द में अन्त्यानुप्रास मिटा दिया गया है। नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त-छन्द की बुनियाद पर लिखे गये स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। इस अपने छन्द को मैं अनेक साहित्यिक गोष्ठियों में पढ़ चुका हूँ, और हिन्दी के प्रसिद्ध अधिकांश सज्जन सुन चुके है। एक बार कलकत्ता-पब्लिक-स्टेज पर भी इस छन्द में नाटक लिखकर खेल चुका हूँ। लोगों से मुझे अब तक उत्साह ही मिलता रहा है, पर दूसरों की पठन-अक्षमता के आक्षेप भी अकसर सुनता रहा हूँ। मेरा विचार है कि अनभ्यास के कारण उन्हें पढ़ने मे असुविधा होती है। छन्द की गति का कोई दोष नहीं। आजकल हिन्दी के दो-चार और लेखकों तथा कवियों ने इस छन्द में रचना-प्रयास किया है, और उन्हें सफलता भी मिली है। इससे मेरा विश्वास इस पर और भी दृढ़ हो गया है। इस छन्द में art of reading का आनन्द मिलता है, और इसी-लिए इसकी उपयोगिता रंगमंच पर सिद्ध होती है। कहीं-कहीं मिल्टन और शेक्सपियर ने सर्वत्र अपने अतुकान्त काव्य का उपयोग नाटकों में ही किया है। बँगला में माइकेल मधुसूदन द्वारा अतुकान्त कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचंद्र ने अपने स्वच्छन्द छन्द का नाटकों में ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक-पात्रों की भाषा के लिए ही हैं, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाये। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नहीं लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।

मेरी तमाम रचनाओं में दो-चार जगह दूसरों के भाव, मुमकिन है, आ गये हों; पर अधिकांश कल्पना, 95 फ़ीसदी, मेरी अपनी है। आवश्यक होने पर इस सम्बन्ध मे अलग लिखूँगा। कविता की पुस्तक में कैफ़ियत से भरी हुई वृहत भूमिका मेरे विचार से हास्यास्पद है। मैं अपने स्नेहशील मित्रों को कृतज्ञ हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जो मुझे हर तरह से आज तक प्रोत्साहन देते रहे हैं।

—'परिमल' से साभार

लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्णा भाषा

हजारीप्रसाद द्विवेदी

भाषा के साथ मानसिक चिन्तन-प्रक्रिया का घनिष्ठ योग है और भाषा ने लालित्य-सर्जना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इसलिए मानसिक स्तर की सौन्दर्य-वोध-चर्चा का आरम्भ भाषा की समस्या से होता है।

भाषा कैसे बनी, किस अवस्था में और किन परिस्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए आदिम मनुष्य ने इस शक्तिशाली तत्त्व का आविष्कार किया? यह प्रश्न विचारकों के सामने बार-बार आया है और भिन्न-भिन्न प्रकार से इसके उत्तर खोजे गये हैं। प्राय: उत्तर खोजते समय विचारकों के मन में अपना निश्चित मतवाद होता है और व्याख्या इस प्रकार से की जाती है कि उस निश्चित मतवाद के पुष्टीकरण में सहायक हो। मैं उन अनुमानाश्रित समाधानों की सूची गिनाकर आपका समय नष्ट नहीं करूँगा।

मूल बात यह है कि मनुष्य पशु-सामान्य धरातल से जब आदि-मानव के रूप में प्रकट हुआ तो उसमें एक नयी शक्ति प्रकट हुई। इसे मैं विविक्तीकरण की शक्ति कहता हूँ। भाषा इसी विविक्तीकरण-शक्ति से उत्पन्न हुई है।

मानवपूर्व प्राणियों में अनेक प्रकार के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विशेष-विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने की शक्ति मिलती है। भय के कारण चिल्लाहट, आनन्द के कारण गायन और भूख के कारण उत्पन्न रिरियाहट प्राय: सभी आवाज़ करनेवाले प्राणियों में मिल जाती हैं। परन्तु ये सारी ध्वनियाँ अनेक प्रकार की ध्वनियों का एक मिश्रित अविभक्त प्रवाह मात्र थीं। उनके अक्षर अलग-अलग नहीं होते, वल्कि एक-दूसरे से उसी प्रकार अविरल भाव से मिश्रित होते हैं जिस प्रकार पानी की एक बूंद धारा में अविरल भाव से मिश्रित होकर वहती रहती है। आदिम मनुष्य को भी विभिन्न परिस्थितियों में चिल्लाने, गाने, रोने और रिरियाने का प्रयास करना ही पड़ता था। इन्हीं अविरल प्रवाहित, संगीतात्मक ध्वनियों को अलग-अलग विभाजित करके विवेक-पूर्वक मनुष्य ने क, ख, ग, जैसे वर्णों को अलग किया है और उनके ही प्रस्तार-विस्तार से या 'परम्युटेशन-

ठुमरी की तीन तालों में भी सफलतापूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफ़ी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। आज भी हम राम-लीलाओं में, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के समय, वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यदि हिंदी का कोई जातीय छन्द चुना जाये, तो वह यही होगा। आजकल के मार्जित कानों को कवित्त-छन्द का नाटक में प्रयोग जरा खटकता है, और वह इसीलिए कि बार-बार अन्त्यानुप्रास का आना वार्तालाप की स्वाभाविकता को बिगाड़ देता है। बाबू मैथिलीशरणजी को इस विचार से विशेष सफलता मिली है। कारण, कवित्त-छन्द की गति पर उनके अमित्र छन्द में अन्त्यानुप्रास मिटा दिया गया है। नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त-छन्द की बुनियाद पर लिखे गये स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। इस अपने छन्द को मैं अनेक साहित्यिक गोष्ठियों में पढ़ चुका हूँ, और हिन्दी के प्रसिद्ध अधिकांश सज्जन सुन चुके हैं। एक बार कलकत्ता-पब्लिक-स्टेज पर भी इस छन्द में नाटक लिखकर खेल चुका हूँ। लोगों से मुझे अब तक उत्साह ही मिलता रहा है, पर दूसरों की पठन-अक्षमता के आक्षेप भी अक्सर सुनता रहा हूँ। मेरा विचार है कि अनभ्यास के कारण उन्हें पढ़ने में असुविधा होती है। छन्द की गति का कोई दोष नहीं। आजकल हिन्दी के दो-चार और लेखकों तथा कवियों ने इस छन्द में रचना-प्रयास किया है, और उन्हें सफलता भी मिली है। इससे मेरा विश्वास इस पर और भी दृढ़ हो गया है। इस छन्द में art of reading का आनन्द मिलता है, और इसीलिए इसकी उपयोगिता रंगमंच पर सिद्ध होती है। कहीं-कहीं मिल्टन और शेक्सपियर ने सर्वत्र अपने अतुकान्त काव्य का उपयोग नाटकों में ही किया है। बँगला में माइकेल मधुसूदन द्वारा अतुकान्त कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचंद्र ने अपने स्वच्छन्द छन्द का नाटकों में ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक-पात्रों की भाषा के लिए ही हैं, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाये। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नहीं लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।

मेरी तमाम रचनाओं में दो-चार जगह दूसरों के भाव, मुमकिन है, आ गये हों; पर अधिकांश कल्पना, 95 फ़ीसदी, मेरी अपनी है। आवश्यक होने पर इस सम्बन्ध में अन्यत्र लिखूँगा। कविता की पुस्तक में कैफ़ियत से भरी हुई वृहत भूमिका मेरे विचार से हास्यास्पद है। मैं अपने स्नेहशील मित्रों को कृतज्ञ हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जो मुझे हर तरह से आज तक प्रोत्साहन देते रहे हैं।

—'परिमल' से साभार

लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्णा भाषा

हजारीप्रसाद द्विवेदी

भाषा के साथ मानसिक चिन्तन-प्रक्रिया का घनिष्ठ योग है और भाषा ने लालित्य-सर्जना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इसलिए मानसिक स्तर की सौन्दर्य-बोध-चर्चा का आरम्भ भाषा की समस्या से होता है।

भाषा कैसे बनी, किस अवस्था में और किन परिस्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए आदिम मनुष्य ने इस शक्तिशाली तत्त्व का आविष्कार किया? यह प्रश्न विचारकों के सामने बार-बार आया है और भिन्न-भिन्न प्रकार से इसके उत्तर खोजे गये हैं। प्रायः उत्तर खोजते समय विचारकों के मन में अपना निश्चित मतवाद होता है और व्याख्या इस प्रकार से की जाती है कि उस निश्चित मतवाद के पुष्टीकरण में सहायक हो। मैं उन अनुमानाश्रित समाधानों की सूची गिनाकर आपका समय नष्ट नहीं करूँगा।

मूल बात यह है कि मनुष्य पशु-सामान्य धरातल से जब आदि-मानव के रूप में प्रकट हुआ तो उसमें एक नयी शक्ति प्रकट हुई। इसे मैं विविक्तीकरण की शक्ति कहता हूँ। भाषा इसी विविक्तीकरण-शक्ति से उत्पन्न हुई है।

मानवपूर्व प्राणियों में अनेक प्रकार के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विशेष-विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने की शक्ति मिलती है। भय के कारण चिल्लाहट, आनन्द के कारण गायन और भूख के कारण उत्पन्न रिरियाहट प्रायः सभी आवाज़ करनेवाले प्राणियों में मिल जाती हैं। परन्तु ये सारी ध्वनियाँ अनेक प्रकार की ध्वनियों का एक मिश्रित अविभक्त प्रवाह मात्र थीं। उनके अक्षर अलग-अलग नहीं होते, बल्कि एक-दूसरे से उसी प्रकार अविरल भाव से मिश्रित होते हैं जिस प्रकार पानी की एक बूँद धारा में अविरल भाव से मिश्रित होकर बहती रहती है। आदिम मनुष्य को भी विभिन्न परिस्थितियों में चिल्लाने, गाने, रोने और रिरियाने का प्रयास करना ही पड़ता था। इन्हीं अविरल प्रवाहित, संगीतात्मक ध्वनियों को अलग-अलग विभाजित करके विवेक-पूर्वक मनुष्य ने क, ख, ग, जैसे वर्णों को अलग किया है और उनके ही प्रस्तार-विस्तार से या 'परम्युटेशन-

कम्बीनेशन' से नये-नये ध्वनि-प्रतीकों या शब्दों का निर्माण किया है। विविक्त वर्णोंवाली भाषा मनुष्य की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। शुरू-शुरू में मानसिक उल्लास या अवसाद के समय निकलनेवाली संगीतात्मक ध्वनियाँ उन वस्तुओं के लिए व्यवहृत हुई होंगी जो उल्लास या अवसाद के प्रेरक तत्त्व रहे होंगे। इसलिए उस प्रथम अवस्था में शब्द ही मुख्य था—अर्थ उस पर बाद में आरोपित किया गया था, या फिर ऐसा कहना चाहिए कि शब्द और अर्थ साथ-साथ थे। कुछ विचारक ऐसा कहना ठीक समझते हैं कि उस अवस्था में शब्द और अर्थ में कोई अन्तर नहीं था। शब्द ही अर्थ थे। उस समय सही अर्थों में संसार की चीज़ें पदार्थ थीं, अर्थात किसी-न-किसी पद का अर्थ। भारतीय परम्परा में यह विश्वास किया जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था के ऋषियों की वाणी अर्थ के पीछे नहीं चलती थी, बल्कि अर्थ ही उसका अनुसरण करता था :

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।

भरत के नाट्यशास्त्र में इस बात को ध्यान में रखकर ही भावों के साथ उदित होने वाले रोमांच, अश्रु-वैवर्ण्य (और अकस्मात निकली हुई 'ओह', 'उफ़' आदि शब्द भी इनमें गिने जाने चाहिए) आदि को भाव ही कहा है—सात्विक भाव। वे भाव के साथ स्वमेव उत्पन्न 'भाव' हैं, भावों के बाद उत्पन्न होनेवाले अनुभाव नहीं। कई बार आलोचकों को मगज़पच्ची करनी पड़ी है कि समस्त शरीर-विकारों को भरत ने 'अनुभाव' ही क्यों नहीं कहा ? अनुभाव परवर्त्ती विकास हैं, वे विविक्तीकरण की शक्ति के बाद उद्भूत हुए हैं। सात्विक भाव अविविक्तवर्णा सहज भाषा के समशील हैं, अर्थ या प्रयोजन के बन्धन में बद्ध नहीं हैं। अनुभाव विविक्तवर्णा भाषा के समशील हैं, अर्थबन्धन से परिबद्ध। सात्विक भाव अयत्नज या सहज होते हैं; सहज—साथ-साथ पैदा होनेवाले। अनुभाव यत्नसाध्य हैं—इष्ट अर्थ के द्योतक, प्रयासलब्ध।

यह संगीतात्मक ध्वनियों का वर्णों के रूप में विविक्तीकरण मानसिक चिन्तन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। मनुष्य-पूर्व प्राणियों में पाये जानेवाले 'इंस्टिंक्ट' नामक सहज-बोध-शक्ति से यह भिन्न है। 'इंस्टिंक्ट' जिजीविषा के तक़ाज़े पर बार-बार बिना सोचे-समझे आ जानेवाली शारीरिक चेष्टाएँ हैं। उनमें यांत्रिकता होती है—विवेक नहीं। परन्तु संगीतात्मक अर्थात अविरल भाव से मिश्रित प्रवाहशील ध्वनि-परम्परा की इकाइयों की तलाश विवेक की देन है। उसके साथ नयी रचनात्मक शक्ति स्वयमेव उद्भूत हुई या यों कहिए कि विविक्तीकरण की प्रक्रिया और विविक्त इकाइयों के द्वारा नये-नये शब्दों की योजना साथ-साथ उत्पन्न हुई। इस दृष्टि से देखें तो विविक्तीकरण और रचनात्मक मानव-प्रयास जुड़वाँ भाई हैं।

एक बार विविक्त वर्णोंवाली अक्षर-मात्रिका का निर्धारण हो जाने के बाद

बहिर्जगत के पदार्थों के विविक्तीकरण का भी मानव-प्रयास शुरू हो जाता है। वस्तुत: विविक्त वर्णों के शब्दों का गठन तभी सम्भव होता है, जब बाह्य जगत के पदार्थों में भी भेद करने की दृष्टि प्रतिष्ठित हो चुकी होती है। इस प्रक्रिया में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। लेकिन मनुष्य की पशु-सामान्य धरातल से मानवीय धरातल तक आने की प्रक्रिया का भी यही इतिहास है। कोई एक निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती जबकि एकाएक मनुष्य में विविक्तीकरण की शक्ति उद्भूत हुई और विविक्त वर्णोंवाली अक्षर-मात्रिका तैयार हो गयी। लेकिन एक बार अक्षर-मात्रिका के अधिगत और आयत्त हो जाने के बाद मनुष्य के सोचने-समझने और सर्जनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने में बड़ी तेज़ी आ गयी। इस तेज़ी से आने वाली प्रवृत्ति का नाम सभ्यता की ओर उन्मुख होना है। यहाँ से आद्य ऋषियों की परम्परा समाप्त होती है और पदार्थों के लिए पद-रचना की प्रक्रिया शुरू होती है। सभ्यता में नयी वस्तु और नये भाव के लिए नये शब्दों की रचना होने लगती है और मनुष्य निरन्तर अर्थ की ओर बढ़ता चला जाता है। अर्थ वस्तुत: बाह्य जगत में विद्यमान होते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क उनका बिम्ब ग्रहण करता है और उन बिम्बों के लिए किसी शब्द की रचना करता है और भाषा निरन्तर अर्थानुगामिनी होती जाती है। जैसे-जैसे वह अर्थ-प्रधान होती जाती है, वैसे-वैसे उसमें गद्यात्मकता बढ़ती जाती है और छंद, राग और लय क्रमश: पीछे छूटते जाते हैं।

परन्तु मनुष्य ने जब अविरल-प्रवाही संगीतात्मक ध्वनियों का विविक्तीकरण किया था तो क्या वे सारी चीज़ें आ सकी थीं ? या उस समय की उस भाषा में विद्यमान थीं ? नहीं। संगीत छूट गया, राग टूट गया, लय विलीन हो गया। संक्षेप में भाषा छन्दोहीन, वैचित्र्यहीन, स्थूल प्रयोजनों की वाहिका मात्र रह गयी। बाह्य जगत के अर्थों के पीछे दौड़नेवाली भाषा अन्तर्जगत के भावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो गयी। बहुत पहले ही मनुष्य ने इस कमी को ताड़ लिया था। जो चीज़ छूट गयी थी, वह बहुत ही मूल्यवान थी। उसको छोड़ना मनुष्य के लिए बहुत महँगा पड़ा। इसीलिए अविरल-प्रवाही ध्वनि-परम्परा को जहाँ एक ओर वर्णों की इकाई में बाँटकर उसने भाषा की नवीन सृष्टि की, वहीं छूटे हुए रागों को भी उसने विविक्त इकाइयों में बाँटकर और इन इकाइयों के प्रसार-विस्तार से नये रागों और नये वृत्त-छन्दों की उद्भावना की। जिस प्रकार क, ख, ग, घ आदि वर्ण बोली जानेवाली भाषा की इकाइयां हैं, उसी प्रकार सा, रे, ग, म इत्यादि और लघु, गुरु आदि इकाइयाँ संगीत और नृत्त के तत्त्व हैं। इन इकाइयों के आधार पर मनुष्य ने राग-रागिनियों और नृत्तों की उद्भावना की। इस तरह विविक्तीकरण की प्रक्रिया एक तरफ़ जहाँ गद्यात्मक भाषा को उत्पन्न कर सकी, वहीं दूसरी तरफ़ छन्द और संगीत का भी आयोजन करने में समर्थ

हुई। फिर, इन दोनों ही विधाओं में आदान-प्रदान होते रहें। यानी संगीत के लिए विविक्त वर्णोंवाली भाषा का प्रयोग और विविक्त वर्णोंवाली भाषा या छन्द के लिए राग का उपयोग। लेकिन विविक्तीकरण का प्रयास केवल भाषा को दो रूपों में इस प्रकार विभाजित करके समाप्त नहीं हो गया। एक और तत्त्व भी छूट गया था और उसे भी भाषा के माध्यम से समेटने का प्रयत्न किया गया। इस तत्त्व को मैं 'मिथकतत्त्व' कहता हूँ। क्यों कहता हूँ, यह मैं आगे बताऊँगा।

शास्त्रकारों ने बताया है कि भाषा या शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की होती है—'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः', अर्थात शब्द या तो जातिवाचक होते हैं या गुणवाचक होते हैं या क्रियावाचक होते हैं या फिर इनमें से किसी भी बात को ध्यान में रखे बिना यदृच्छा से कोई शब्द बना लिया जाता है। आदिकाल में गुण या जाति पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था; क्योंकि आदिम मनुष्य में इन तीनों के बिम्ब ग्रहण करने की शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। लेकिन शब्द चाहे जिस बात को भी ध्यान में रखकर बनाये जायें, बाक़ी दो बातें छूट ही जाती हैं। यदृच्छा-शब्दों में तो तीनों ही छूट जाते हैं। यही कारण है कि शब्दों से मनुष्य के इन्द्रियगृहीत बिम्बों का एक सामान्य अंश ही प्रकट हो पाता है। बाक़ी बहुत-सी बातें छूट जाती हैं। इन छूटी हुई बातों को अभिव्यक्त करने के लिए कभी-कभी मनुष्य का मन व्याकुल हो जाता है। कैसे इसको प्रकट किया जाये ? भाषा के अधिकाधिक प्रयोग होने से शब्द रूढ़ात्मक हो जाते हैं और प्रायः जिन गुणों के नाम पर उनका नामकरण किया गया होता है वे भी भुला दिये जाते हैं। इस प्रकार गद्यात्मक भाषा मनुष्य की अधिकांश अनुभूतियों को छुड़ाती जाती है और भाव की अभिव्यंजना में असमर्थ होती जाती है।

यह भाव अन्तर्जगत की अनुभूतियों का नाम है। इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत के पदार्थ मनुष्य के मस्तिष्क पर अनेक प्रकार के बिम्ब छोड़ जाते हैं, जो स्मृति-रूप में संचित रहते हैं। सामान्य परिस्थितियों के आने पर उसकी स्मृति फिर से ताजा हो जाती है। परन्तु अन्तर्जगत के भाव बाह्यजगत के पदार्थों के बिम्ब नहीं होते। उनके बिम्ब को अभिव्यंजक शब्दों द्वारा प्रकट करना कठिन होता है, परन्तु करना पड़ता है। दूसरा उपाय नहीं है। मनुष्य को किसी वस्तु से किसी ख़ास परिस्थिति में 'डाह' होता है। परन्तु यह डाह एक प्रकार का मनोभाव है, विभिन्न परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न सत्ता-मात्र है। वह 'है', इसलिए वह 'भाव' है। उसको भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए किसी-न-किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा गृहीत बिम्ब में उसे अनूदित करना पड़ता है। डाह का मूल संस्कृत शब्द 'दाह' है, अर्थात जलन। लेकिन मन में की हुई जलन को किस शब्द के द्वारा प्रकट किया जाये ? जलन या दाह स्पर्श बिम्ब है। किसी स्पर्श बिम्ब के माध्यम से मनुष्य अपनी मानसिक ईर्ष्या के भाव को अभिव्यक्त करना चाहता

है। उसे दाह या जलन कहना अमूर्त अनुभूति को किसी-न-किसी प्रकार मूर्त्त विम्बों में अनुवाद करना है। इसी प्रकार रूप को 'मधुर' कहना या सौन्दर्य को लावण्य कहना वस्तुतः एक अमूर्त्त अनुभूति को स्वादेन्द्रिय द्वारा अनुभूत बिम्ब के माध्यम से गोचर कराने का प्रयास मात्र है। उपरले स्तर के तर्क द्वारा कहा जा सकता है कि रूपगत सुन्दरता को माधुर्य (मिठास) और लावण्य (नमकीन) कहना बिलकुल झूठ है; क्योंकि रूप न तो मीठा होता है, न नमकीन। लेकिन फिर भी कहना पड़ता है, क्योंकि अन्तर्जगत के भावों को बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त करने का यही एकमात्र उपाय है। सच पूछिए तो यही मिथकतत्त्व है। ऊपर-ऊपर से देखने से यह झूठ है, परन्तु गहराई में देखने पर यह सत्य है।

मिथकतत्त्व वस्तुतः भाषा का पूरक है। सारी भाषा ही इसके बल पर खड़ी है। आदि-मानव के चित्त में संचित अनेक अनुभूतियाँ मिथक के रूप में प्रकट होने के लिए व्याकुल रहती हैं, परन्तु भाषा के माध्यम के जब वह प्रकट होती हैं तो ऊपर-ऊपर से एकांगी, तर्कहीन और मिथ्या जान पड़ती हैं। किन्तु गहराई से देखने से वे मनुष्य के अन्तर्जगत को अभिव्यक्त करने का एकमात्र साधन हैं। वे उसके रचनात्मक प्रयास से बहुत भिन्न नहीं हैं। काव्य, चित्र, कथा आदि के रूप में मनुष्य जो कुछ रचनात्मक प्रयास करता है उसे वे प्रेरित, चालित और समृद्ध करते रहते हैं। अनेक बार के उपमानों, उत्प्रेक्षाओं और रूपकों द्वारा मनुष्य अन्तर्जगत की इन अनुभूतियों को प्रकट करता रहता है। प्रस्तुत को अप्रस्तुत विधान के द्वारा उपभोग्य बनाने की प्रक्रिया वस्तुतः मिथक-तत्त्व द्वारा चालित होती है। ईर्ष्या को जब हम दाह, डाह, जलन कहते हैं तो वस्तुतः उत्प्रेक्षण करते हैं। मानो जलन में जैसा कष्ट होता है, वैसा ही कष्ट। लेकिन आरम्भिक मिथक-तत्त्व काव्य नहीं होते। काव्य कुछ परवर्त्ती काल की विधा है। आरम्भिक काल में मिथकों की रचना भाषा में पायी जानेवाली वहिर्जगत की तर्कसंगत व्यवस्था का बहुत अधिक अनुसरण नहीं करती। काव्य करता है। फिर भी काव्य के पीछे काम करनेवाली रचनात्मक शक्ति वह मूल आदिम मनोभाव हैं जिन्हें मिथक कहकर ही व्यक्त किया जा सकता है। मिथक वस्तुतः उस सामूहिक मानव की भाव-निर्मात्री शक्ति की अभिव्यक्ति है जिसे कुछ मनोविज्ञानी आर्किटाइपल इमेज (आदिम बिम्ब) कहकर सन्तोष कर लेते हैं। युंग कहते हैं कि "जब कभी सर्जनात्मिका शक्ति प्रबल होती है, प्रधान हो उठती है, तभी मानव-जीवन सक्रिय इच्छा-शक्ति के विरुद्ध अवचेतन से शासित और रूपायित होता है और चेतन अहं उस वेगवान प्रवाह में ऐसा बह जाता है कि असहाय हो जाता है" (ब्रूस्टर गिजोलेन द्वारा सम्पादित 'द क्रिएटिव प्रोसेस', पृ० 222)। यह उसी मूल मिथकीय शक्ति की महिमा का उद्घोष है। चेतन अहं वहिर्जगत की तर्क-संगत व्यवस्था का कायल है। कलाकार के हृदय में जो मिथकीय सिसृक्षा उदित होती

है, वह अवचेतन चित्त की वेगवती शक्ति है। वह समष्टि-चित्त की ऐसी अनुभूति है जो विविक्तवर्णा भाषा के प्रादुर्भाव के पहले की है। उसे आर्किटाइप कहिए, समष्टि-चेतना कहिए, या तांत्रिकों की भाषा में 'सर्वात्मिका संवित्' कहिए, बात एक ही है। भाषा जब कुछ अधिक अग्रसर हो जाती है तो वह भी मूल मिथक भावनाओं पर अपना दबाव डालती रहती है। इसलिए परवर्त्ती काल की मिथक-परम्परा पुराण-कथा या माइथोलाजी के रूप में विकसित होती है। एक बात ध्यान देने की है कि शब्द-रचना के आरम्भिक स्तर पर मनुष्यजाति की बिम्ब-ग्राहिका शक्ति एक सामान्य समष्टि-चित्त की कल्पना की ओर प्रवृत्त करती है। आरम्भिक स्तर पर भी मनुष्य का मस्तिष्क हर व्यक्ति में लगभग एक ही प्रकार की प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करता है। एक आदमी जिसे लाल देखता है, उसे पूरी मानवमंडली लाल ही अनुभव करती है। इसी प्रकार छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा, सुगन्ध-दुर्गन्ध और शीतल-उष्ण आदि की अनुभूतियाँ सामान्य रूप से होती हैं—जो यह सिद्ध करता है कि एक समष्टि-चित्त है जो औसत बिम्बों को सामान्य भाव से ग्रहण करता है। व्यक्तिगत अनुभूतियाँ इस औसत अनुभूति से कुछ मात्रा में भिन्न हो सकती हैं, लेकिन एकदम विपरीत नहीं होतीं। यदि एकदम विपरीत हों तो व्यक्ति-विशेष के दिमाग़ या मन की कोई कमज़ोरी प्रकट होती है। उसे चिकित्स्य समझा जाता है। अगर यह बात शब्द-रचना के विषय में सत्य है तो मिथकतत्त्व के बारे में और भी सत्य है। संसार-भर के मनुष्यों में आरम्भिक मिथक सामान्य रूप से काम करते हैं, परन्तु विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के आवरण में लिपटकर भिन्न दिखायी देते हैं। जिन लोगों ने इस विषय का मनन नहीं किया है वे मूल मिथकीय भावनाओं को समझने में समर्थ भी नहीं हुए हैं।

आधुनिक विचारकों ने इसकी कल्पना नृतत्त्व-विज्ञान और मनोविज्ञान की बढ़ती हुई जानकारियों के भीतर से की है। एक अन्य दिशा से आगमशास्त्रियों ने इसका सन्धान पाया था। दिशा दूसरी होने पर भी मूल बात वही है। सुप्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने बताया है कि सर्वात्मिका संवित् देह-भेद से संकुचित हो गयी है। नृत्य-गीत आदि के आयोजनों में वह अनेक व्यक्तियों के चित्त में एक साथ स्फुरित होती है और सर्वतन्मयी भाव को उद्बुद्ध करती है। यह भाव विशुद्ध आनन्द है। वह किसी एक का नहीं होता, इसलिए आनन्दनिर्भरा यह सर्वात्मिका संवित् ईर्ष्या, असूया आदि संकुचित भावों को दबाकर, नृत्य-गीत आदि के द्वारा स्फुरित होकर सच्चिदानन्द से जोड़ देती है। ('तंत्रालोक', 38/5)

प्रश्न यहाँ यह नहीं है कि यह सर्वात्मिका संवित् सचमुच ही 'सच्चिदानन्द योगिनी' होती है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर हम फिर पायेंगे। यहाँ केवल इतना ही द्रष्टव्य है कि अभिनवगुप्तपाद ने नाट्य, नृत्य, गीत

आदि को संकुचित अहं की सीमा तोड़कर एक प्रकार की विश्वजनीन चेतना के उद्‌वोधक रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार विविक्तीकरणवाली भाषा के साथ मिथुनीभूत मिथकतत्त्व निरन्तर काम करते रहते हैं। अर्थप्रधान गद्यात्मक भाषा का प्रचुर प्रभुत्व स्थापित हो जाने के वाद भी मनुष्य के अन्तरतर में विद्यमान यह व्याकुल वेदना प्रकट होती रहती है और जो लोग भाषा के रूढ़, एकांग आवरण को भेदकर मानवचित्त की गहराई में जाने का प्रयास करते हैं, उनके रचनात्मक प्रयासों में निरन्तर सहायता पहुँचाती रहती है। परवर्त्ती काल के काव्य, नाटक और उपन्यास मिथकतत्त्व की सहायता से ही कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को पा लेते हैं। जिन लोगों की पहुँच इस क्षेत्र तक नहीं होती, ऐसे कवि, नाटककार और उपन्यासकार रूढ़ शब्दावली की लकीर पीटते रहते हैं।

अब तक मैंने जो-कुछ कहा है वह भाषा के साथ उत्पन्न किन्तु बहिर्जगत की तर्क-संगत व्यवस्था से स्वतंत्र मिथकतत्त्वों का महत्त्व बताने के उद्देश्य से। भाषा को समृद्ध करने और भाषा द्वारा समृद्ध होने में वे एक-दूसरे के पूरक हैं—मिथः पूरक, अतएव मिथक। लेकिन ध्वनि-प्रवाह के विविक्तीकरण की कहानी इतनी ही नहीं है। जैसाकि पहले ही कहा गया है—छन्द, लय और राग भी छूट गये हैं।

विविक्तवर्णोंवाली भाषा के शब्द एक प्रकार के प्रतीक होते हैं। अर्थ उनका बाह्य जगत में होता है, अन्तर्जगत में भी हो सकता है। पर शब्द इन दोनों प्रकार के अर्थों की सूचना-भर देता है, स्वयं उनसे असम्पृक्त रहता है। इसलिए इसे आधुनिक विचारक शब्दप्रतीकात्मिका भाषा कहना पसन्द करते हैं।

आधुनिक काल के महान भाषा-दार्शनिक अर्न्स्ट कैसिरर ने शब्द-प्रतीकात्मिका भाषा और मिथकतत्त्व पर नये विचार दिये हैं। दर्शनशास्त्रीय सिद्धान्तों में वे बहुत-कुछ कांट के ही अनुयायी थे, और कांट की ही भाँति मानते थे कि मानव-चित्त केवल बाह्य-यथार्थ का बिम्ब ग्रहण करनेवाला निष्क्रिय दर्पण मात्र नहीं है, बल्कि क्रियात्मक या सर्जनात्मक शक्ति से सम्पन्न है; वह बिम्ब रूप में गृहीत यथार्थ को प्रभावित करता है और नया रूप भी देता है। परन्तु प्रतीकात्मिका भाषा के उद्‌भव और विकास में वे कांट के समकालीन तत्त्ववेत्ता जे०सी० हर्डर के प्रशंसक थे। उन्हें वे 'इतिहास का कोपर्निकस' कह गये हैं। प्रसिद्ध लालित्य-शास्त्री क्रोचे भी हर्डर से सीधे प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने भाषा-विषयक उनके विचारों की कोई खास चर्चा नहीं की। कहना चाहिए कि और वातों में हर्डर से प्रभावित होकर भी उन्होंने उनके प्रतीकात्मक भाषा-विषयक विचारों की उपेक्षा की थी। हर्डर मानते थे कि भाषा की उत्पत्ति मिथकीय प्रक्रिया के भीतर से हुई है। कविता में मिथकीय तत्त्व ही हमें प्रभावित करते हैं, क्योंकि हर्डर मानते थे कि मिथकतत्त्व की गतिशील विशिष्टता कविता में आज

भी सुरक्षित है। यद्यपि कैसिरर के मन में हर्डर के प्रति बहुत मान था और वे उन्हें अपना मार्गदर्शक भी मानते थे, फिर भी कैसिरर ने इस बात का ज़ोरदार विरोध किया है कि भाषा मिथकीय प्रक्रिया से उद्भूत हुई है। वे भाषा और मिथकतत्त्व को एक ही मूल से निकली हुई दो अलग-अलग शाखाएँ मानते हैं। प्रतीकात्मक रूपायन के संवेग या इम्पल्स से ही दोनों का उद्भव हुआ है। इन संवेगों को वे साधारण ऐन्द्रिय अनुभूतियों का तीव्र और सान्द्रीभूत रूप मानते थे। कैसिरर ने इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए बहुत विचारपूर्ण युक्तियाँ दी हैं। वे आधुनिक ज्ञान के आलोक में ग्राह्य लगते हैं। अनेक तथ्यों और युक्तियों के बल पर उन्होंने जो कुछ कहा है वह प्राचीन भारतीय विचारधारा के प्रतिकूल नहीं है। उनका कहना है कि आदिम मनुष्य के लिए भाषा के प्रतीक यथार्थ के सूचक नहीं थे, बल्कि यथार्थ ही थे। वे मानते हैं कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जो प्रतीकों का निर्माण करता है। वस्तुतः मनुष्य एकमात्र प्रतीक-निर्माता जन्तु है। कैसिरर का यह तर्क बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। कई मनीषियों ने उस पुराने सूत्र-वाक्य को, जिसमें कहा जाता था कि 'मनुष्य सोचने-समझने वाला जन्तु' या 'रैशनल एनिमल' है, बदल दिया है और अब ऐसा कहना ठीक समझा जाने लगा है कि 'मनुष्य प्रतीक-निर्माता जन्तु' है। इस परिवर्तन के मूल में बहुत क्रान्तिकारी भावना है। हम जिसे तर्कसम्मत विचार कहते रहे हैं, वह वस्तुतः भाषा-प्रतीकों का तर्कसंगत रूप ही है, वास्तविकता का तर्कसंगत रूप कठिनाई से सिद्ध किया जा सकता है। तर्कसंगत समझी जानेवाली व्यवस्था वास्तविकता का केवल बाहरी रूप है। उसका अन्तर्वर्त्ती रूप काव्य में, निजन्धरी कथाओं और परियों की अतर्कसंगत लगनेवाली बातों में मिलता है।

परन्तु मनुष्य को प्रतीक-निर्माता कहने का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि मनुष्य का चित्त विवेकदक्ष है। वह एक प्रकार की ध्वनि को दूसरे प्रकार की ध्वनि से, एक प्रकार के गीतस्वर को दूसरे प्रकार के गीतस्वर से और एक प्रकार की भावना को दूसरे प्रकार की भावना से विवेकपूर्वक अलग कर सकता है, उसे प्रतीकात्मक भाषा में अभिव्यक्त कर सकता है, उनको जोड़-घटाकर नये-नये शब्द-प्रतीकों की उद्भावना कर सकता है। यह विविक्तीकरण और यथेष्ट सर्जनात्मक उद्भावना ही मनुष्य की वास्तविक विशेषता है। न तो उसे 'रैशनल' कहना चाहिए, न 'सिम्बल-मेकर' (प्रतीक-निर्माता), बल्कि उसे 'विवेकी स्रष्टा' ही कहा जाना चाहिए।

मनुष्य को जो भाषा मिली है उसमें विवेक का हाथ है, विविक्तीकरण की शक्ति की महिमा है। भाषा शब्द-प्रतीकों से बनी है। जैसे-जैसे मनुष्य इस महिमामयी शक्ति के विकास में अग्रसर होता गया, वैसे-वैसे वह बाह्य पदार्थों की अभिव्यक्ति की ओर भागता गया। उसने अन्तरतर के भावों को भी नाम दिया,

उसे विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा गृहीत बिम्बों में अनुवाद करके। फिर वे भी रूढ़ होते गये। शास्त्र की तर्कसम्मत भाषा का मोह बढ़ता गया, अन्तर्जगत की भावानुभूति भी प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करने की आसक्ति की ओर बढ़ती गयी। बाह्य यथार्थ के इन्द्रियग्राह्य बिम्बों द्वारा भावाभिव्यक्ति का प्रयास भाषा को रूढ़ बनाता गया और बाह्य यथार्थ की तर्कसम्मत व्यवस्था के अतिरिक्त एक अपनी अन्तर्निहित व्यवस्था व्याकरण से बँधती गयी। अन्तर्जगत को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति देनेवाला मिथकतत्त्व छूट गया। एकदम छूट गया, यह भी नहीं कह सकते। भाषा के माध्यम से व्यक्त होने के कारण उसे बाह्य यथार्थ की तर्कसंगत व्यवस्था की तुलना में कम सम्मान मिलने लगा। मूल मिथकतत्त्व को प्रतीकात्मक भाषा ने और भी नया रूप दिया। हर नये रूप में उसकी मूल रचयित्री शक्ति क्षीण होती गयी। गद्यात्मक भाषा केवल दो ही अनुशासनों को मानती है: बाह्य यथार्थ की तर्कसम्मत व्यवस्था और अपनी अन्तर्निहित व्याकरण-व्यवस्था। सभ्यता के साथ-साथ मनुष्य भूलने लगा कि अन्तर्जगत की एक और व्यवस्था है जो बाह्य यथार्थ द्वारा गृहीत बिम्बों के प्रतीकों के अनुशासन से कुछ भिन्न श्रेणी का अनुशासन चाहती है। कुछ नये विचारक तो यह भी मानने को तैयार नहीं कि वह किसी प्रकार के अनुशासन को मानती है। पर मैं उसे एकदम अनानुशासित नहीं मानता। वह अनुशासन आन्तरिक अनुभूति का होता है। जहाँ भी रूप है, वहाँ कोई-न-कोई अनुशासन भी अवश्य है। बिना अनुशासन के रूप नहीं बन सकता।

परन्तु उपेक्षित होकर भी वह जीवित है। दिन-भर बाह्य यथार्थ की समंजस और तर्कसम्मत व्यवस्था के चमत्कारों में व्यस्त रहने के बाद भी मनुष्य रात को सोते समय उससे अभिभूत हो जाता है। वह स्वप्न में प्रकट है और मनुष्य को अपने-आपकी अतर्कसम्मत व्यवस्था से कभी-कभी बुरी तरह अभिभूत कर देती है। बाह्य यथार्थ की प्रतीकात्मिका भाषा उसे प्रकट करने का प्रयास करके असफल हो जाती है। यह प्रच्छन्न मिथकतत्त्व उसे छोड़ नहीं पाता, वह उससे अपना पिंड नहीं छुड़ा पाता। मनुष्य अगर अन्तर्जगत की इस प्रभावकारी शक्ति की उपेक्षा करता है तो मानना पड़ेगा कि उसका संवेदन एकदम भोथा हो गया है, उसका विवेक बहुत एकांगी है, उसकी रचनात्मक शक्ति बात-की-बात है।

परन्तु ऐसा हुआ नहीं। मनुष्य ने मिथकतत्त्व को भुलाया नहीं है। कविता उसका प्रमाण है, निजन्धरी कथाएँ इसकी गवाही देती हैं, चित्र और मूर्ति-शिल्प उसके साक्षी हैं।

ऐसा न समझें कि मैं स्वप्न और कविता में अन्तर नहीं करता। बहुत-से लोग सचमुच ही अन्तर नहीं करते। उन्हें कविता को 'ड्रीम वर्क' कहने में रस मिलता है। कविता और स्वप्न में अन्तर है, निजन्धरी कथा और दिवा-स्वप्न में भी अन्तर है, स्वप्नगृहीत बिम्बों और चित्र या मूर्ति-शिल्प में प्रयुक्त प्रतीकों में

भी अन्तर है। मैं सारी समस्या को इतने हलके ढंग से कह देने में कोई तुक नहीं देखता। भाषा की कुहुकिनी शक्ति को भुला देना अनुचित समझता हूँ और मानव-विवेक की अपार सम्भावनाओं की उपेक्षा करने को ग़लत समझता हूँ। कविता निस्सन्देह उस उपेक्षित मिथक-परम्परा की देन है, अवश्य ही भाषा की कुहुकिनी शक्ति से अभिभूत देन। और भी बातें हैं। स्वप्न मानव-चित्त की प्रयत्न-पूर्वक निर्मित वस्तु नहीं है। अधिक-से-अधिक वह मनुष्य-चित्त की प्रयत्न-निरपेक्ष सर्जनात्मक शक्ति की सूचना देता है। कविता प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का परिणाम या फल है। वह मिथक तत्त्वों का सहारा लेती है, पर स्वयं मिथक नहीं है। वह भाषा को छोड़कर नहीं जा सकती। भाषा का आधार ही वह नहीं ग्रहण करती, उससे प्रभावित होती है और उसे अपने ढंग से प्रभावित भी करती है। स्वप्न के विषय में मैं अन्यत्र अपना मत प्रकट कर चुका हूँ। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि कविता सिर्फ 'ड्रीम वर्क' नहीं है। प्रतीकात्मिका भाषा आगे चलकर उन वस्त्रों की भाँति हो जाती है जो वास्तविकता को छिपा भी सकते हैं, उसे नयी शोभा से समृद्ध भी कर सकते हैं और व्यक्तित्व देने में समर्थ भी हो सकते हैं। फिर भी वे स्वयं वास्तविकता नहीं हैं। भाषा ने वास्तविकता को ढँका भी, उजागर भी किया है और व्यक्तित्व-सम्पन्न भी बनाया है। मनुष्य के किसी भी प्रयत्न के अध्ययन में भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान भुलाया नहीं जा सकता; न तो उसकी आच्छादिका शक्ति को और न उद्बोधिनी शक्ति को।

भाषा का सहारा पाने के बाद काव्यार्थ बहिर्जगत से एकदम असम्पृक्त नहीं रहता, यद्यपि वह हू-ब-हू वही नहीं होता। उसे मनुष्य कवि के रूप में, शिल्पी के रूप में, नवीन वेश में गढ़ता है। कवि द्वारा निर्मित यही नयी मूर्त्ति नये सिरे से सहृदय पाठक या द्रष्टा के चित्त की वासनाओं के मिश्रण से नया रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार, तथ्य की प्राकृतिक या निसर्गसिद्ध सत्ता का जो हिल्लोल कवि-चित्त में उत्पन्न करती है, वह दूसरी बार नवीन रूप ग्रहण करके पाठक के चित्त को हिल्लोलित करती है। उपमा, रूपक आदि अलंकार कवि के अन्तरतर से ही उत्थित होते हैं। ये भी वासना की ही देन हैं। कुछ भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने अलंकारों को कटक, कुंडल आदि के समान बाहर से आरोपित बताया है, किन्तु अलंकार वस्तुतः बहिर्निर्देश्य नहीं हैं, कवि के अन्तरतर से ही उत्थित होते हैं। बहिर्निर्देश्य बनकर अलंकार मूल मिथक-अनुभूति को आच्छादित करते हैं, उसके प्रभाव को क्षीण करते हैं।

भाषा भावमूर्त्ति को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होती। इसी सामर्थ्य के अन्तराल को कवि उपमा, रूपक आदि अलंकारों से भरता है। हर समय ये भी काम नहीं करते। कवि 'मानो ऐसा, मानो वैसा' कहकर चित्रों पर चित्र बनाता जाता है। जो सामने उपस्थित है, प्रस्तुत है, उसे उन स्मृति-चित्रों से, जो

प्रस्तुत नहीं हैं, भरता रहता है। इस अप्रस्तुत योजना को वह मिथकतत्त्व से पूरित करता है, 'जो नहीं है', उसके परे 'जो है', उसे बताने का प्रयत्न करता है। भाषा की यह चित्र-निर्माण-शक्ति वस्तुतः मिथक-कल्पनाओं से बनती है। लेकिन, उपमा और रूपक क्षण-चित्रों के सहारे उन सारी बातों को कहने में असमर्थ होते हैं। भाषा का चित्र-धर्म अलंकारों में व्यक्त होता है—अर्थालंकारों में। परन्तु उसमें गति ले आने का कार्य छन्द-तत्त्व करता है। पद-गुम्फन से, अनुप्रास से वह चित्र को गतिमय बनाता है। ये दोनों तत्त्व अर्थ में गरिमा भरते हैं, गति देते हैं, उपभोग्यता और अर्थ में यथार्थता लाते हैं। इन्हीं के द्वारा साधारण प्रत्यय 'यथार्थ' बनता है। अर्थ-तत्त्व, मिथक और छन्दतत्त्व का पूर्ण सामंजस्य ही यह यथार्थ है।

ऊपर-ऊपर से भाषा शब्दमयी है। शब्दों के अर्थ—पदार्थ—तो बहिर्जगत में होते हैं या अन्तर्जगत में भावरूप में विद्यमान होते हैं। परन्तु मानव-चित्त की सर्जनात्मिका मिथक-निर्मात्री शक्ति अर्थ को भी नये सिरे से 'भाषा' का रूप देती है; जिस प्रकार शब्द अर्थों के संकेतदाता हैं, उसी प्रकार अर्थ भी नये अर्थों के संकेत दे रहे हैं, ऐसा सोचने को प्रवृत्त करती है। काव्य में, चित्र में, मूर्ति में पदार्थ भी शब्दों की भाँति नये अर्थों का संकेत देने लगते हैं।

शास्त्रकार और योगी कहते हैं कि यह समूचा चराचर जगत अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है। पर, अर्थ क्या केवल अर्थ है, वह अपने-आप में क्या भाषा नहीं है? यह जो प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती हैं, चन्द्रकिरणें शाम को रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती हैं, ये क्या केवल अर्थ हैं? ये क्या कुछ कह नहीं जातीं? किसके लिए यह आयोजन है? इतना रंग, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता जो जगत में प्रतिक्षण उद्भाषित हो रही है, वह क्या विविक्तवर्णा भाषा द्वारा आदृत अर्थमात्र है? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलता रहता? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उसमें नहीं सुनायी पड़ती? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागलपन का विकल्पमात्र है? जो लोग अपने को विशिष्ट विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं, वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते हैं? कौन बतायेगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सकी भाव क्यों आ जाता है? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, वह क्या व्यर्थ है? व्यर्थ, अर्थात अर्थशून्य, निरर्थक! नहीं! इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। भाषा व्यापक रूप ग्रहण करती

रहती है। शास्त्रकार या योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह परमशक्ति की किस विलासलीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है; हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते। कहीं-न-कहीं अनुराग-योग का भी व्याकुल कम्पन और आत्म-निवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विकसित हो रहा है। उस छूटे हुए तत्त्व का सन्धान शिल्पी करता है। वह अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति ही यथार्थ है और अनुभूति ही सत्य है। भाषा का यह व्यापक रूप मनुष्य के अन्तरतर में निहित सर्जनात्मक मिथकतत्त्व की देन है। हर क्षेत्र में, यहाँ तक कि निर्वैयक्तिक वस्तुपरक विज्ञानशास्त्रों में भी यह सर्जनात्मक मिथकतत्त्व मनुष्य की कल्पना-वृत्ति को उकसाता रहता है। वह प्रच्छन्न भाव से सदा सक्रिय रहता है।

पहले ही कहा गया है कि विविक्तवर्णोंवाली भाषा के अधिगत होने के पूर्व मनुष्य की भाषा संगीतात्मक थी। उसकी ध्वनियाँ एक-दूसरे से इस प्रकार मिली हुई थीं कि उसमें एक अविरल प्रवाह-सा रहा करता था। मानव-पूर्व प्राणियों में ऐसी भाषा अब भी मिलती है। यह उल्लास, अवसाद, भय, हर्ष आदि आन्तरिक भावों की सहज अभिव्यक्ति थी। उसका अर्थ अन्तर्जगत के भाव थे; उद्देश्य था व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण करके, समानशीलों के उन्हीं भावों को जाग्रत करके एक प्रकार के एकत्व की अभिव्यंजना। वह भीतरी स्नायु-मंडल और पेशियों की सहज गति से प्रेरित होती थी। नृत्य भी ऐसी ही अभिव्यक्ति था। नृत्य की चर्चा आज हम नहीं करेंगे। परन्तु इतना कहने की आवश्यकता है कि नृत्य भी मानसिक भावों की सहज अभिव्यक्ति था और रक्त, स्नायुमंडल और पेशियों की सहज प्रतिक्रिया से ही स्फूर्त्त होता था। नृत्य चक्षुर्गोचर सहज कला था और गान भी वैसा ही श्रुतिग्राह्य सहज कला था। दोनों ही सहज छन्द के आश्रित थे। दोनों में आदिमानव और मानव-पूर्व जन्तुओं का आन्तरिक छन्द अभिव्यक्ति पाता था। बहिर्जगत के दिन-रात, सर्दी-गर्मी और ऋतु-परिवर्तन आदि का सहज नियंत्रण दोनों में ही था। भाषा की अधिगति के साथ-साथ दोनों में विविक्तीकरण द्वारा नवीन विधाओं का विकास होता गया और लालित्य-सर्जन के नये प्रयासों का आरम्भ हुआ।

छन्द सामान्य शब्द है। विविक्तवर्णा भाषा का प्रयोग इसे जटिल रूप देने लगा। जिस प्रकार विविक्तवर्णोंवाली भाषा से मिथकतत्त्व क्रमशः छूटता गया, उसी प्रकार छन्द भी छूटता गया। छन्द गति है, अर्थ स्थिति है। अर्थ से असम्पृक्त छन्द ही राग है और अर्थ से असम्पृक्त छन्द वृत्त है। कविता को वृत्त का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि अर्थ को छोड़कर वह नहीं रह सकती। विशुद्ध संगीत बिना अर्थ से सम्पर्क बनाये रह सकता है। वृत्त अर्थ-सम्पर्क को एकदम नहीं छोड़

सकता। वृत्त उस स्थिति में आविर्भूत हुआ जब मनुष्य केवल वर्णों का ही नहीं, बल्कि उनके उच्चारण की मात्राओं का भी विवेक कर चुका होता है। छन्द, संगीत में विभिन्न ध्वनियों के आरोह-अवरोहजन्य अर्थसम्पृक्त स्वरमात्र के विविक्तीकरण द्वारा वृत्त का रूप ग्रहण करता है। अर्थप्रधान विविक्तवर्णात्मिका भाषा का सहारा लेकर छन्द, वृत्त बनता है और अर्थनिरपेक्षा अविविक्तवर्णात्मिका भाषा का आश्रय ग्रहण करके राग बनता है। इस प्रकार छन्द दो रूपों में प्रकट हुआ, राग के रूप में और वृत्त के रूप में। राग के रूप में वह संगीत है और वृत्त के रूप में काव्य। राग के रूप में वह बहिर्जगत के अर्थ से असम्पृक्त होता है और वृत्त के रूप में वह बहिर्जगत के अर्थ से सम्पर्क बनाये रहता है। राग आदिम है, वृत्त बाद की परिणति। वृत्त भाषा के योग से छन्द को नियत सीमा में बाँधता है, उसे किसी एक अर्थ-बिन्दु का चक्कर दिलवाता है। इसीलिए वह वृत्त है। राग का केन्द्र सीमा नहीं है, बहुत-कुछ परवलय की भाँति।

बहिर्जगत के अनेक पदार्थों की ध्वनियों के विविक्तीकरण और प्रस्तार-विस्तार द्वारा मनुष्य ने राग के सहायक और पोषक वाद्ययंत्रों का आविष्कार किया। चार प्रकार की ध्वनियों के विविक्तीकरण से इन बाजों का आविष्कार हुआ। प्राचीन शास्त्रों में इनके आतोद्य, सुषिर आदि भेद गिनाये गये हैं।

परन्तु आगे चलकर वृत्त और राग विशुद्ध रूप में नहीं रह सके। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे। वृत्तबद्ध काव्य भी गाये जाने लगे। इस प्रकार के मिश्रण से अनेक प्रकार के शब्दाश्रित लालित्य-प्रयास उत्पन्न हुए हैं। इस जटिल प्रक्रिया को थोड़े में समझाना कठिन है। केवल इतना कह देना काफ़ी है कि ये सभी ध्वनिमूलक अधिगतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित-परिमार्जित और समृद्ध करती हुई अनेक शास्त्रों और विचारों को रूप देने में समर्थ हुई हैं।

विविक्तीकरण की शक्ति के मूल में मनुष्य की रचनात्मक मानस-शक्ति है। कई पश्चिमी विचारकों ने इसे सम्मूर्त्तन शक्ति (पावर ऑफ़ इमेजिनेशन) कहा है। वस्तुतः यह एक प्रकार की इच्छा-शक्ति है जिसे भारतीय मनीषी 'सिसृक्षा' कहते हैं। यह मानव-मस्तिष्क में क्रमशः विकसित हुई है। जब तक जन्तुओं में रीढ़ का विकास नहीं हुआ था तब तक उनके पास मानव-मस्तिष्क जैसे जटिल क्रियाशील मस्तिष्क को सम्हालने की शक्ति नहीं थी। कई कीटों और मक्खियों में मस्तिष्क विकसित तो हुआ, पर रीढ़ के अभाव में अधिक विकसित नहीं हो पाया। सर्वाधिक विकसित मस्तिष्क का प्राणी, ज्ञात सृष्टि में मनुष्य ही है। यदि कोई और जन्तु हो जिसका मस्तिष्क मनुष्य से अधिक विकसित हो तो उसका हमें ज्ञान नहीं है। विकसित मस्तिष्क में ही सिसृक्षा या सर्जनेच्छा नामक इच्छा-

शक्ति का सर्वोत्तम विकास होता है। यही विविक्तीकरण की शक्ति सिसृक्षा का आरम्भिक रूप है। इसने पदार्थ-जगत में और शब्द-जगत में नयी-नयी उद्भावनाओं की विपुल सम्भावना उत्पन्न कर दी है। यह अपने-आप में अन्त नहीं है। इसका भी कोई लक्ष्य है।

—'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली'
से साभार

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास

रामविलास शर्मा

सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है। साधारणतः सौन्दर्यशास्त्र के विद्वान जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। प्रकृति और मानव-जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन करना संभव नहीं है। इसलिए वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव-जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है। सौन्दर्यशास्त्र दर्शन का एक अंग है। ज्ञान को कर्म से पृथक करके देखने वाले दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र को भी निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु बना लेते हैं; उनकी समझ में सौन्दर्य की अनुभूति अथवा सुन्दर वस्तुओं की रचना से सौन्दर्य-शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, ई० ऐफ़० कैरिट ने 'सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका' (E. F. Carritt : An Introduction to Aesthetics) में लिखा है, "तब सौन्दर्य-शास्त्र हमारे लिए क्या कर सकता है? वह हमारे सौन्दर्य से प्राप्त आनन्द को बढ़ा नहीं सकता और मेरी समझ में उसे इस बात की छूट न देनी चाहिए कि वह हमारे इस आनन्द को विभिन्न वस्तुओं की ओर प्रेरित करे, किन्तु उन्हें समझने में वह हमारी सहायता कर सकता है। शेष सभी दर्शनों के समान उसका उद्देश्य उत्सुकता को शान्त करना है और यदि ऐसे विषयों के प्रति हमारी उत्सुकता नहीं है तो उससे हमें कुछ भी सन्तोष न मिलेगा।" उत्सुकता के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु मानव-कर्म से ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं कि कर्म के बिना ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है, यह भी सत्य है कि ज्ञान की परिणति मानव-कर्म में होती है। अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों का सम्बन्ध ललित कलाओं से नहीं के बराबर होता है; इसलिए सुन्दर कृतियों से बहिष्कृत उनका सौन्दर्य-शास्त्र महा असुन्दर होता है। कलाकारों से भिन्न सौन्दर्यशास्त्री दार्शनिकों के

बारे में कौलिंगवुड ने 'कला के सिद्धान्त' (R. G. Collingwood : The Principles of Art) में लिखा है, "वे बेसिर-पैर की बातें न करें, इससे तो सुरक्षित रहते हैं, लेकिन इसका निश्चय नहीं है कि वे जिसके बारे में बातें करेंगे, उसे जानेंगे भी। इसलिए उनकी सिद्धान्त-चर्चा, अपने में चाहे जितनी योग्यतापूर्ण हो, वस्तुस्थिति का आधार कमज़ोर होने से दूषित हो सकती है।" इस दोष की सम्भावना सौन्दर्यशास्त्रियों में ही नहीं, उन सभी दार्शनिकों में रहती है जो कर्म-मय जीवन से दूर रहते हैं और दर्शन को उससे अलग करके देखते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि सौन्दर्यशास्त्र और मानव-जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्य-शास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव-जीवन का सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का विवेचन उत्सुकता की शान्ति के लिए ही नहीं है; उसका उद्देश्य हमारी सौन्दर्य-चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना, मानव-जीवन और उसके सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश को और भी सुन्दर बनाना है।

सौन्दर्य किसे कहते हैं? प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्द-दायक गुण का नाम सौन्दर्य है। इस स्थापना पर आपत्ति यह की जाती है कि कला में कुरूप और असुन्दर को भी स्थान मिलता है; दुखांत नाटक देखकर हमें वास्तव में दुख होता है; साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है—उसे सुन्दर कैसे कहा जा सकता है? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखारते हैं। वीभत्स का चित्रण देखकर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते; हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। वीभत्स से घृणा करना सुन्दर कार्य है या असुन्दर? जिसे हम कुरूप, असुन्दर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौन्दर्य में होती है। दुखान्त नाटकों में हम दूसरों का दुख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक, अथवा परिवार और मित्रों तक सीमित न रहकर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुन्दर कहेंगे या असुन्दर? सहानुभूति की इस व्यापकता से हमें प्रसन्न होना चाहिए या अप्रसन्न? दुखान्त नाटकों अथवा करुण रस के साहित्य से हमें दुख की अनुभूति होती है, किन्तु यह दुख अमिश्रित और निरपेक्ष नहीं होता। उस दुख में वह आनन्द निहित होता है जो करुणा के प्रसार से हमें प्राप्त होता है। इसके सिवा इस तरह के साहित्य में हम बहुधा मनुष्य को विषम परिस्थितियों से वीरतापूर्ण संघर्ष करते हुए पाते हैं। संघर्ष का यह उदात्त भाव दुख की अनुभूति को सीमित कर देता है। वीर मनुष्यों का यह संघर्ष हमें अपनी परिस्थितियों के प्रति सजग करता है, उनकी पराजय भी प्रबुद्ध दर्शकों तथा पाठकों के लिए चुनौती का काम करती है। उनकी वेदना हमारे लिए प्रेरणा बन जाती है। आनन्द को इस व्यापक रूप में लें,

उसे इन्द्रियजन्य सुख का पर्यायवाची ही न मान लें तो हमें करुण और वीभत्स के चित्रण में सौन्दर्य के अभाव की प्रतीति न होगी।

सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न जुड़ा हुआ है, सौन्दर्य कहाँ है, दर्शक, श्रोता या पाठक के मन में अथवा उससे भिन्न सुन्दर वस्तु में ? कैरिट का कहना है कि मनुष्य उस वस्तु को सुन्दर कहता है जो उसके लिए उन भावनाओं को व्यक्त करती है जिनके योग्य वह अपने स्वभाव और पिछले इतिहास से बना है। उसके मत से "सौन्दर्य गोचर वस्तुओं में नहीं होता, वरन् उनके महत्त्व पर निर्भर होता है और भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए उनका महत्त्व भी भिन्न होगा, सम्भवत: बहुत ही भिन्न कोटि के लोगों के लिए यह महत्त्व भिन्न कोटि का होगा।" भाववादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिकों के तर्क इस स्थापना के अनुरूप होते हैं। उनके लिए सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर, आत्मगत होती है। इस तरह के दार्शनिकों को लक्ष्य करके स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, "सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गयी है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।" शुक्लजी ने इन वाक्यों में भाववादी और वस्तुवादी दर्शनों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है; उन्होंने भाववादी मान्यता का खंडन किया है, वस्तुवादी मान्यता का समर्थन किया है।

प्रचलित धारणा यह है कि यूरोप भौतिकवादी है और भारत अध्यात्मवादी। भारत और यूरोप के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह धारणा खंडित हो जाती है। न तो अध्यात्मवाद पर भारत का एकाधिकार है, न भौतिकवाद पर यूरोप का। कुल मिलाकर यूरोप के विचारकों पर भाववादी दर्शन का प्रभाव यहाँ की अपेक्षा गहरा है। प्लैटो से लेकर हेगल तक यूरोप के अनेक प्रमुख दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सौन्दर्य की सत्ता सुन्दर वस्तु से पृथक है। प्लैटो के लिए संसार की सुन्दर वस्तुएँ परोक्ष सौन्दर्यसत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; कला इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब है, इसलिए दार्शनिक सत्य की तुलना में क्षुद्र है और आदर्श समाज-व्यवस्था से कलाकारों को बहिष्कृत रखना चाहिए। प्लैटो के समान ही हेगल के लिए कला एक निरपेक्ष विचार व्यंजित करती है। महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने 'यूरोपीय दर्शन' में दिखलाया है कि हेगल ने कला को ज्ञान और धर्म से निम्न स्तर का माना है। निरपेक्ष सत्ता की प्राप्ति में कला पहली सीढ़ी है; उसके बाद धर्म मनुष्य की सहायता करता है। "जिसकी छायामात्र कला और धर्म ने दिखलायी थी, वह साक्षात ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत, स्वप्रमितिक

ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है।" रामावतार शास्त्री की इस व्याख्या से पाठक देखेंगे कि हेगल की विचारधारा और भारतीय भाववाद में कितना साम्य है।

आधुनिक काल में यूरोप और अमरीका में प्रमुख विचारधारा उन लोगों की है जो सौन्दर्य का उद्भव, विकास और परिणति, सब-कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं। इन्हीं का एक प्रतिनिधि आचार्य क्रोचे था, जिसकी विस्तृत आलोचना शुक्लजी ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नाम के निबन्ध में की थी। इस तरह के विचारकों के लिए व्यक्ति का मन एक निरपेक्ष सत्ता बन जाता है। हेगल के लिए इस भौतिक जगत से निरपेक्ष विचार का सम्बन्ध भी था, इनके लिए व्यक्ति का मन भौतिक जगत से विच्छिन्न हो जाता है। कला के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त जगत के रूपों को किसी-न-किसी प्रकार अपनाये बिना वे सौन्दर्य की अभिव्यंजना कर नहीं पाते। कला-शास्त्रियों के एक गिरोह का कहना है कि कलाकार के लिए सामाजिक जीवन अथवा संसार के अन्य रूपों को चित्रों आदि में अंकित करना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य की सूक्ष्म आत्मा मूर्त्त रूपों से परे है। इसलिए चित्रकला के नाम पर वे ज्यामिति की रेखाएँ प्रस्तुत करते हैं और उन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अपने निरपेक्ष मन का सौन्दर्य व्यंजित करते हैं। कलाकार के कर्म और उसकी विचारधारा—कला और सौन्दर्य-शास्त्र—का घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट दिखायी देता है। यूरोप और अमरीका का चरम व्यक्तिवाद अनेक कलाकारों को उस सीमा तक खींच ले गया है जहाँ कला अपनी सारी विशेषताएँ खो बैठती है। इसी व्यक्तिवाद से प्रभावित हिन्दी के अनेक कवि हैं जिनका मन सभी तरह की सामाजिकता से मुक्त हो गया है; छिन्न लय, प्रच्छन्न अर्थ, विच्छिन्न शब्दावली से अलंकृत रचनाओं में अपनी कुंठा, घुटन और व्यक्तित्व के विघटन के चित्रण में ही इन्हें कला और सौन्दर्य की इति दिखलायी पड़ती है। इस कविकर्म के मूल में यह धारणा है कि सौन्दर्य, रस, भावना आदि का एकमात्र और निरपेक्ष स्रोत व्यक्ति का मन है।

व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की सत्ता मानने वालों का मुख्य तर्क यह है: एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं; दूसरों के लिए वे साधारण पर्वत मात्र हैं। माँ को अपना बच्चा बहुत सुन्दर लगता है; दूसरों के लिए वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौन्दर्य की अनुभति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्सपियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक-सी नहीं हो सकती है।

इस तरह के तर्कों में पहला दोप यह है कि उनमें इन्द्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोप यह है कि भावों और इन्द्रियबोध की व्यापकता को अस्वीकार किया गया है। यदि हमें अपने ही देश के पर्वत

अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुन्दर न कहें। यदि किसी को ऐल्प्स और हिमालय दोनों सुन्दर लगते हैं, तो इससे यही सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त भी सौन्दर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है। यदि पर्वतों का रूप साधारणत: लोगों को प्रिय हो, यदि वे अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य पर भी मुग्ध हो सकते हों; और वे मुग्ध होते हैं, तो इससे इन्द्रियबोध की सार्वजनीनता सिद्ध होती है। इस इन्द्रियबोध के के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक के मन में मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से उत्पन्न अनेक प्रकार के भाव भी उदय हो सकते हैं। इन भावों की सत्ता मनुष्य के मन में होगी, किन्तु जिस गोचर सौन्दर्य से ये भाव उत्पन्न होते है, उनकी सत्ता तो प्रकृति में ही है।

सब से पहले इस गोचर सौन्दर्य की बाह्य सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य के इन्द्रियबोध का संसार बहुत विशाल है; उसमें एक से अधिक वर्गों और देशों के लोग भाग लेते हैं। ललित कलाओं की सार्वजनीन लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण इन्द्रियबोध की व्यापकता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति में मनुष्य एक-दूसरे से उतने पृथक नहीं हैं जितने भावों और विचारों के संसार में। यह इन्द्रियबोध एक बाह्य, प्रत्यक्ष जगत का अनुभव है; इंद्रियों से इस जगत का बोध होता है; इंद्रियाँ उसकी सृष्टि नहीं करतीं। इसलिए इंद्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत में उसकी वस्तुगत सत्ता है। इन्द्रियाँ सौन्दर्य की परख का साधन हैं, उसका कारण नहीं—जहाँ तक बाह्य जगत के इन्द्रियबोध का सम्बन्ध है।

इस इन्द्रियबोध के साथ मनुष्य का भावजगत है। अपने सामाजिक विकास के साथ मनुष्य ने इस भावजगत को परिष्कृत और समृद्ध किया है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं; व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, समाज के बिना व्यक्ति—एक सामाजिक प्राणी के रूप में—असम्भव है। भावजगत व्यक्ति के मन में ही होता है, किन्तु उसका परिष्कृत और समृद्ध रूप सामाजिक विकास और सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है। भावजगत का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों ही कोटि की अनुभूतियाँ हैं। इन दोनों ही कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक-दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं; भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण हम एक-दूसरे के निकट आते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इस भावजगत की सामान्य अनुभूति-भूमि की ओर संकेत किया, यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। शुक्लजी ने उस प्राचीन स्थापना को नवीन रूप देते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा था, "सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो,

जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"

यूरोप के व्यक्तिवादी विचारक और उनका अनुकरण करने वाले भारतीय लेखक इस सामान्य हृदय की स्थापना को अस्वीकार करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस से व्यक्तिवादियों ने अपने मन में गहरे पैठ कर जो हीरे-मोती निकाले थे, उन्हीं की आभा रूस और इंग्लैंड के पतनशील कवियों और कलाकारों में देखी गयी। आज टी० एस० इलियट और उनके भारतीय शिष्यों में गहरी समानता दिखायी देती है। परम्परा के पालन का नारा पुराना पड़ गया है, उसकी जगह प्रयोग और व्यक्ति की स्वाधीनता ने ले ली है। नारे बदल गये हैं लेकिन जिस कुंठा, घुटन और विघटन के गीत इलियट ने गाये थे, वे अनेक प्रयोगशील कवियों को आज भी प्रिय हैं। व्यक्ति के निरपेक्ष मन से एक ही तरह के हीरे-मोती क्यों निकलते हैं? इन चरम व्यक्तिवादियों, शुद्ध कलावादियों, सामाजिक दायित्व को बार-बार अस्वीकार करने वाले इन कवियों की अनुभूति में मौलिक अन्तर क्यों नहीं होता? इसलिए नहीं होता कि व्यक्ति की स्वाधीनता की निरन्तर घोषणा करने पर भी इन कलाकारों का मन नितान्त पराधीन है। वे एक सामाजिक परिवेश, उससे भी अधिक सांस्कृतिक परिवेश के दास बन गये हैं। वह सामाजिक दायित्व से अलग रह कर, मुक्ति पाने की आकांक्षा करके भी, मुक्त नहीं हो पाये। उन्होंने दायित्व और मुक्ति का परस्पर सम्बन्ध नहीं समझा; सामाजिक दायित्व के निर्वाह द्वारा ही उनका विकास, अतः मुक्ति, संभव है, यह न मानकर वे एक समाज-विरोधी भावधारा के दास बने हुए हैं। यह मार्ग उनके आत्मघात का मार्ग है।

चरम व्यक्तिवादी भी अपने कर्म से व्यक्ति के मन की निरपेक्षता सिद्ध नहीं कर पाते। इसका कारण, शुक्लजी के शब्दों में, यह है, "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है।" इस लोक में अनेक वर्ग, देश, जाति के भेद हैं; ये भेद भी कालक्रम में परवर्तित होते रहते हैं। लोक स्थायी और जड़ इकाई नहीं है; वह गतिशील और विकास-मान है। इसलिए मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति में समानता के साथ भिन्नता भी होती है; यह अनुभूति सापेक्ष रूप में स्थायी होने के साथ परिष्कृत और विकसित भी होती है।

मनुष्य अपने भावजगत की रचना स्वयं करता है, किन्तु वह इस कार्य को देशकाल की किन्हीं परिस्थितियों में ही संपन्न करता है और ये परिस्थितियाँ उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होतीं। भावों की व्यक्तिगत अनुभूतिके कारण उसके लिए उनकी वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करना कठिन होता है। वाह्य जगत का इन्द्रियबोध और मनुष्य के मन का भावजगत एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं, जो

एक-दूसरे से पूर्णत: स्वतंत्र न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव-चेतना के बारे में जो भी खोज की है, उससे भी यह परिणाम निकलता है कि यह चेतना जितने स्तरों पर अथवा जितने रूपों में कार्य करती है और जिन नियमों से परिचालित होती है, उन्हें बहुधा मनुष्य स्वयं नहीं जानता। कलाकृति का वस्तुगत सौन्दर्य और भी असन्दिग्ध है। कवि घोषित करता है एक उद्देश्य, उसकी रचना का आन्तरिक तत्त्व कुछ दूसरा ही बन जाता है। मिल्टन ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'पैरेडाइज़ लौस्ट' इस घोषित उद्देश्य से लिखा कि वह आदम और हव्वा की कहानी में ईश्वर के व्यवहार को न्यायपूर्ण ठहरायेगा। महाकाव्य का आन्तरिक तत्त्व मिल्टन के संघर्षमय जीवन और इंगलैंड के नव-जागरण युग का प्रतिबिम्ब बन गया; यह कार्य मिल्टन के न चाहने पर भी कार्य-रचना के वस्तुगत कारणों द्वारा संभव हुआ। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुधा मनुष्य करना कुछ चाहता है, होता कुछ और है। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी वह परिस्थितियों, कला के उपकरणों पर पूरी तरह हावी नहीं हो पाता, उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और कलात्मक सृष्टि के वस्तुगत नियमों में सदा मेल नहीं हो पाता। इसलिए उसके कार्य का फल उसकी इच्छाओं से भिन्न अथवा उनसे विपरीत भी होता है।

मनुष्य के ज्ञान से उसकी भावानुभूति का गहरा सम्बन्ध है। जिन वस्तुओं से उसका परिचय ही न होगा, उनसे प्रभावित होना उसके लिए संभव न होगा। विज्ञान और कलात्मक सौन्दर्य एक-दूसरे के विरोधी न होकर, परस्पर सहायक हैं। विश्व से मनुष्य का परिचय निरन्तर बढ़ रहा है। परिचय का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, साथ ही उस विस्तार की गम्भीरता भी बढ़ रही है। मनुष्य वस्तुगत संसार का अंग है, उस संसार का मानवीय ज्ञान निरन्तर बढ़ रहा है और इस प्रगति की कोई सीमा नहीं है। इस ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ, यांत्रिक रूप से, मनुष्य के भावजगत का प्रसार नहीं होता, किन्तु उस प्रसार की संभावना अवश्य उत्पन्न होती है।

कलाकृति से जो सौन्दर्यबोध उत्पन्न होता है, वह भी दर्शक, पाठक या श्रोता के ज्ञान पर निर्भर होता है। कलाकृति का सम्यक ज्ञान न होने पर वह उस पर अपने भाव आरोपित करता है और समझता है कि सौन्दर्य कलाकृति में नहीं, उसके मन में है। इससे सिद्ध होता है कि उसकी सौन्दर्यानुभूति में अवास्तविकता का अंश मिला हुआ है। इससे कलाकृति के सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता असिद्ध नहीं होती। इटली के कवि दान्ते पर अपने निबन्ध में इलियट ने इटालियन भाषा के न समझ पाने पर या कम समझ पाने पर भी दान्ते की कविता पढ़कर प्रसन्न होने की बात लिखी है। इसका कारण दान्ते की रचना में इलियट के अपने भावों का आरोपण हो सकता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता

कि काव्य-सौन्दर्य इलियट के मन में है, न कि दान्ते के काव्य में।

इंगलैंड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक कौडवल ने 'सौन्दर्य' पर अपने निबन्ध में सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न के सिलसिले में लिखा है, "सब से सीधा उत्तर यह है कि सभी वस्तुओं [कौडवेल का तात्पर्य सुन्दर वस्तुओं से है] से मनुष्य के सामान्य सम्बन्ध हैं; इसलिए सौन्दर्य मनुष्य में है। मनुष्य की एक दशा का नाम सौन्दर्य है। पूंजीवादी सौन्दर्यशास्त्री के लिए समस्या का यह बहुत सीधा समाधान इतना स्पष्ट मालूम होता है कि अन्य व्यक्ति कुछ और सोचे तो उसका धैर्य छूट जाता है।" कौडवेल ने इस तरह के सौन्दर्य-शास्त्रियों में इंगलैंड के विचारक आई० ए० रिचार्ड्स और सी० के० ऑग्डेन की गणना की है और उनके आत्मगत सौन्दर्य की आलोचना की है। किन्तु कौडवेल के लिए सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता भी नहीं है; वे उसे वस्तु और मानव-मन का परस्पर सम्बन्ध मानते हैं। मानव-मन से स्वतंत्र सौन्दर्य को वह भाववादी दार्शनिकों की कल्पना, सौन्दर्य-सम्बन्धी निराकार भावना मानते हैं।

वास्तव में निराकार आदर्श सौन्दर्य की कल्पना करने वाले भाववादी दार्शनिक वास्तविक जगत में उसकी वस्तुगत सत्ता से इनकार करते हैं। वे वस्तु के गुण को वस्तु से अलग करके देखते हैं। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता का अर्थ है, सौन्दर्य नाम के गुण को वस्तु से अलग करके न देखना। कौडवेल ने आगे लिखा है, "सौन्दर्य सामाजिक है। वह वस्तुगत है, क्योंकि उसका अस्तित्व मुझ से अलग समाज में है।" जहाँ तक मनुष्य के भावजगत का सम्बन्ध है, उसका सौन्दर्य सामाजिक है। किन्तु प्रकृति का सौन्दर्य ? उसकी अनुभूति सामाजिक है, किन्तु वह सौन्दर्य, जहाँ तक वह वास्तव में प्रकृति का सौन्दर्य है, सामाजिक न होकर प्राकृतिक है। कौडवेल के चिन्तन में वस्तुगत सौन्दर्य और उसकी सामाजिक अनुभूति को मिला दिया गया है।

क्या मनुष्य से पहले भी प्रकृति सुन्दर थी ? क्या जिस प्रकृति को मनुष्य ने नहीं देखा, वह भी सुन्दर हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सुन्दर से हमारा तात्पर्य प्रकृति के गुणों से है अथवा उस पर आरोपित अपने भावों से। यदि तात्पर्य गुणों से है तो उनकी सृष्टि मनुष्य नहीं करता; वह अपने विकासक्रम में केवल उन्हें पहचानना सीखता है। प्रकृति का यह सौन्दर्य अर्थात उसके गुण मनुष्य के अभाव में भी विद्यमान रहते हैं। यदि तात्पर्य भावारोपण से है तो मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य न देखकर अपने स्वभाव और इच्छाओं के अनुसार सौन्दर्य की कल्पना मात्र करता है; प्राकृतिक सौन्दर्य से इस कल्पना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सामाजिक विकास के सन्दर्भ में सौन्दर्यबोध की परीक्षा करने पर एक समस्या यह उत्पन्न होती है: क्या मनुष्य नामधारी जीव ने अपना मानवीय

सामाजिक जीवन आरम्भ करने से पहले भी कोई सौन्दर्य-सम्बन्धी संस्कार अर्जित किये थे ? क्या सौन्दर्यबोध का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से भिन्न मनुष्य के प्राणिगत जीवन से भी अथवा सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान से भी है ?

सौन्दर्य के सम्बन्ध में डार्विन ने लिखा था कि सुन्दर पंखों वाले नर पक्षी अपने रंगीन पंखों के प्रदर्शन से मादा पक्षियों को रिझाते हैं। इसी तरह ऋतु-विशेष में वे अपने संगीत से उन्हें आकर्षित करते हैं। इन तथ्यों की ओर संकेत करके डार्विन ने लिखा था, "यदि मादा पक्षी अपने नर साथियों के सुन्दर रंगों, आभूषणों और स्वर के आकर्षण को पहचानने में असमर्थ हों तो उनके सामने अपने आकर्षण प्रदर्शित करने में उनकी जो चिन्ता और श्रम प्रकट होते हैं, वे सब व्यर्थ जायें; और यह स्वीकार करना असम्भव है। मेरी समझ में कुछ चमकीले रंग और कुछ स्वर, संगति (harmony) होने पर, क्यों आनन्द देते हैं, इसकी व्याख्या वैसे ही नहीं हो सकती जैसे इस बात की कि कुछ गन्ध और रस (flavours) रुचिकर होते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि उन्हीं रंगों और उन्हीं स्वरों को हम पसन्द करते हैं और बहुत-से निम्न जीव भी।"

मनुष्य का सौन्दर्यबोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं है, उससे भी पहले वह उसके प्राग्मानवीय विकास का परिणाम है। पक्षियों में कुछ तो रंगों और स्वरों के आकर्षण से परिचित होते हैं, कुछ नहीं। जो परिचित होते हैं, वे सौन्दर्यबोध की दृष्टि से इतर पक्षियों की तुलना में अधिक विकसित स्तर के प्राणी हैं। मार्क्सवादी साहित्य में कभी-कभी सौन्दर्य-बोध को आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब मान लिया जाता है। सौन्दर्यबोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है, किन्तु वह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है।

डार्विन के उपर्युक्त कोटि के वाक्य उद्धृत करने के बाद रूसी विचारक प्लेखानोव ने 'कला और सामाजिक जीवन' में लिखा था, "और इस तरह डार्विन द्वारा उद्धृत तथ्यों से जैसे निम्न जीवों की, वैसे मनुष्य की भी, सौन्दर्यानुभूति की क्षमता प्रमाणित होती है और यह तथ्य प्रमाणित होता है कि कभी-कभी हमारी सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि से मेल खाती है। लेकिन समस्या रुचि के उद्गम की है; उसकी व्याख्या इन तथ्यों से नहीं होती।" यदि मनुष्य की सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि निम्न जीवों की रुचि से मेल खाती है, यदि निम्न जीवों में भी इस रुचि का अस्तित्व प्रमाणित होता है, तो यह स्वीकार करना होगा कि इस रुचि का उद्गम सामाजिक जीवन में होना अनिवार्य नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध, इस इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के साथ उसके भावजगत का उद्भव और उसका सौन्दर्यबोध—इन सबके मूल उपकरण सामाजिक जीवन आरम्भ होने से पहले उसके पास प्रस्तुत रहते हैं। समाजशास्त्र सौन्दर्यबोध के विकास,

भिन्न वर्गों, जातियों और युगों में उसकी भिन्नता की व्याख्या कर सकता है, पर वह उसके उद्गम की व्याख्या नहीं कर सकता। उद्गम की व्याख्या के लिए समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता आवश्यक है। उद्गम ही नहीं, एक ही समाज, एक ही वर्ग, एक ही वातावरण में रहने वाले लोगों की सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि की भिन्नता की व्याख्या करने के लिए समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता लेनी पड़ेगी।

मार्क्सवादी साहित्य में आर्थिक व्यवस्था को आधार तथा कला, साहित्य, संस्कृति आदि को उस पर निर्मित इमारत माना जाता है। आर्थिक व्यवस्था बदलने पर ऊपर की इमारत भी बदल जाती है। 'अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन' में मार्क्स ने विचारधारा के अन्तर्गत मनुष्य के सौन्दर्यबोध को भी गिना है। मार्क्सवादी साहित्य में कला, साहित्य और संस्कृति को मनुष्य की विचारधारा के रूपों (ideological forms) में गिना जाता है।

कला का सम्बन्ध विचारों के साथ मनुष्य के इन्द्रियबोध और उसके भावों से भी है। विचारों की व्यंजना भाषा के बिना नहीं हो सकती। तब वे ललित कलाएँ, जिनमें भाषा का प्रयोग नहीं होता, विचारधारा के रूपों में कैसे गिनी जा सकती हैं? साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है; उसका भावों और इन्द्रियबोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि ललित कलाओं को विचारधारा के रूपों में गिनना सही नहीं है।

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में मनुष्य के विचारों को उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब कहा गया है। विचार प्रतिबिम्ब हों तो मानव-मस्तिष्क दर्पण मात्र सिद्ध होगा। किन्तु क्या मनुष्य की चेतना दर्पण मात्र है?

मनुष्य के विचार उसकी सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्ब करते हैं, इसीलिए वर्गों के भिन्न दृष्टिकोण, उनकी भिन्न विचारधाराएँ होती हैं। किन्तु मानव-चेतना में यह क्षमता है कि वह इस सामाजिक स्थिति से ऊपर उठ सके, चिन्तन की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठकर अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्तर पर विकसित हो सके। सम्पत्तिशाली वर्गों में उत्पन्न होने वाले, किन्तु सम्पत्तिहीन श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का जीवन मानव-चेतना की इस क्षमता को सिद्ध करता है। 'प्रकृति का द्वन्द्ववाद' पुस्तक में एंगेल्स ने पूंजीवाद के अभ्युदय और यूरोप के नवजागरण युग के बारे में लिखा था, "जिन लोगों ने पूंजीपतियों के आधुनिक शासन की नींव डाली थी, उनमें पूंजीवादी सीमाओं जैसी कोई चीज़ नहीं थी।" (The men who founded the modern rule of the bourgeoisie had anything but burgeois limitations.) या तो पूंजीवादी शासन की नींव डालने वाले स्वयं पूंजीवादी नहीं थे, या पूंजीवादी होते हुए भी वे अपने आर्थिक जीवन की सीमाओं से ऊपर

उठ सके। एंगेल्स के वाक्य से इस धारणा का खंडन होता है कि मनुष्य के विचार उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; इसके विपरीत इस वाक्य से तथा यूरोप के नवजागरण-युग के एंगेल्स द्वारा दिये हुए विवरण से मानव-चेतना की रचनात्मक क्षमता के बारे में धारणा पुष्ट होती है। 'अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन' में मार्क्स ने प्राचीन यूनान की कला के बारे में लिखा था, "यह एक जानी-मानी बात है कि समाज के साधारण विकास से कला के उच्चतम विकास के कुछ युगों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, न उसके [समाज के] संगठन के मूल ढांचे और भौतिक आधार से उनका प्रत्यक्ष संबंध है। आधुनिक जातियों की, अथवा शेक्सपियर की भी तुलना में, यूनानियों का उदाहरण देखिए।" यदि यूनान की कला के भौतिक परिवेश से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है तो हम कला को भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब कैसे कह सकते हैं ?

इससे कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती; भौतिक जीवन से उसकी सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। कला की विषयवस्तु न वेदान्तियों का ब्रह्म है, न हेगल का निरपेक्ष विचार। मनुष्य का इन्द्रियबोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्यबोध कला की विषयवस्तु हैं। सामाजिक विकास की परिस्थितियों से कला की विषयवस्तु प्रभावित होती है, एक सीमा तक नियमित होती है किन्तु वह आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसलिए विभिन्न युगों, विभिन्न जातियों और विभिन्न वर्गों के सौन्दर्यबोध में भिन्नता के साथ समानता भी होती है, इसीलिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उच्च कोटि की कला का निर्माण भी हो जाये।

मार्क्सवादी विचारक रैल्फ़ फ़ौक्स का मत था कि कला को भौतिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब मानना मार्क्सवाद की स्थापना है ही नहीं। उनके अनुसार मार्क्स यह न मानते थे कि जब पूंजीवाद सामन्तवाद की जगह ले लेता है, तब पूंजीवादी कला तुरन्त सामन्तवादी कला की जगह ले लेती है, न वह यह मानते थे कि "चूंकि उत्पादन का पूंजीवादी तरीक़ा सामन्ती तरीक़े से अधिक प्रगतिशील है, इसलिए पूंजीवादी कला सामंती कला से सदा ऊँचे स्तर की होनी चाहिए।" पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के सामंती पद्धति से अधिक प्रगतिशील होने पर भी यदि पूंजीवादी कला सामंती कला से अनिवार्यतः ऊँचे स्तर की नहीं होती, तो इससे कला की सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। मूल समस्या फिर सामने आती है; मनुष्य की चेतना और उसके विचार सामाजिक परिवेश का प्रतिबिम्ब हैं, या उस परिवेश से अपेक्षाकृत स्वतंत्र होने की क्षमता भी उनमें है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अपेक्षाकृत स्वतंत्र भी हैं।

व्यवहार में मार्क्सवादी विचारक साहित्य और कला के राजनीतिक उद्देश्य

पर ज़ोर देते है। यह ज़ोर अंशतः सही है, किन्तु साहित्य और कला के सभी रूपों से हम एक ही माँग नहीं कर सकते। गोर्की का 'माँ' जैसा उपन्यास राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति करे, यह उचित है; किन्तु 'मृत्यु और लड़की' पर उसकी प्रेम-सम्बन्धी कविता भी उसी उद्देश्य की पूर्ति करे, यह आवश्यक नहीं है। गोर्की की कविता से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-विहीन होना चाहिए, उतना ही ग़लत है, जितना उनके उपन्यास से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-युक्त होना चाहिए। साहित्य के रूपों की विविधता को ध्यान में रखकर ही उनकी विषयवस्तु के औचित्य के बारे में मत स्थिर किया जा सकता है।

अस्तु, सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है, मानव-जीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौन्दर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, उसकी सत्ता मनुष्य के भावजगत और उसके विचारों में भी है। कला के माध्यम के अनुरूप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है। साहित्य से भिन्न चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं में इन्द्रियबोध और भाव होंगे, विचार नहीं। कोई भी ललित कला शुद्ध विचारधारा के अन्तर्गत नहीं आती, साहित्य भी नहीं आता। साहित्य विचारशून्य नहीं होता, किन्तु शुद्ध विचारों से साहित्य का निर्माण नहीं होता। विचारों के साथ इन्द्रियबोध और भाव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। विभिन्न वर्गों के विचारों में ही नहीं, उनके भावों और इन्द्रियबोध में भी अन्तर होता है। हिन्दी के अनेक प्रयोगशील कवियों के उपमान उनके अस्वस्थ इन्द्रियबोध और भावों की ओर संकेत करते हैं। फिर भी कला का सार्वजनीन आधार मनुष्य का इन्द्रियबोध और उसके भाव हैं। इनका उद्गम मनुष्य के सामाजिक जीवन से भी पहले है। स्वर और रंगों के प्रति आकर्षण तथा प्रेम, घृणा आदि के भाव पशु-पक्षियों में भी मिलते हैं। सामाजिक विकास-क्रम मे इन्द्रियबोध और भाव परिष्कृत और समृद्ध होते हैं, नये प्रकार के भावों और इन्द्रियबोध का जन्म भी होता है, किन्तु मनुष्य का सौन्दर्यबोध मूल रूप में सामाजिक विकास की देन नहीं है।

सौन्दर्यबोध एक संश्लिष्ट इकाई है। सौन्दर्य प्रकृति में है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है, इसीलिए न तो समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है, न समाज-निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूति की सम्भावना होती है। कला के विभिन्न रूपों में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का भिन्न अनुपात रहता है। सामाजिक विकास से संबद्ध कला के अनेक तत्त्व जहाँ आर्थिक जीवन पर निर्भर होते हैं, उनका एक स्पष्ट वर्ग-आधार होता है, वे आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर या कुछ समय बाद परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ अनेक तत्त्व अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं, वर्गों से परे और

बहुत-कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं। इन अपेक्षाकृत स्थायी तत्त्वों का सम्बन्ध मनुष्य के भावों और उसके इन्द्रियबोध से अधिक होता है। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता होती है, इसलिए शुद्ध सौन्दर्य नाम की कोई चीज़ नहीं होती। शुक्ल जी के शब्दों में सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य की इस वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष सम्बन्ध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषयवस्तु की विविधता को ध्यान में रख कर ही हम सौन्दर्यशास्त्र का सही विवेचन कर सकते हैं और सौन्दर्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

आलोचक का दायित्व

शिवदानसिंह चौहान

आज़ादी के इस युग में दायित्वों की चर्चा असंगत लगती है। दरअसल यह अधिकारों की माँग का युग है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही दुनिया में दायित्वों की जगह अधिकारों की चर्चा होती आयी है। पुराने सामंती समाज में अधिकारों और दायित्वों का बँटवारा कुछ इस तरह था कि अधिकार तो मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में थे, किन्तु दायित्वों का असह्य भार सारी जनता को ढोना पड़ता था, जिससे समाज का सन्तुलन हमेशा गड़बड़ रहता था। योरप में जब नव-सांस्कृतिक जागरण की लहर फैली तो पहली बार लोग अधिकारों और दायित्वों के इस विषम सन्तुलन के बारे में सचेत हुए। फ्रांसीसी क्रांति इस चेतना का परिणाम थी। अधिकारों की सत्ता समाज के एक छोर पर है तो दायित्वों का सारा भार दूसरे छोर पर ही क्यों एकत्र रहे, समाज के सभी अंगों में दोनों का समान बँटवारा क्यों न हो—इस विचार ने ही क्रान्ति का व्यावहारिक रूप धारण किया। विश्व में तब से अधिकार पाने के लिए आन्दोलनों, संघर्षों, क्रान्तियों का सिलसिला अभी तक जारी है और तब तक जारी रहेगा जब तक अधिकारों का उपभोग समान रूप से प्रत्येक व्यक्ति नहीं करने लगेगा। इसीलिए अधिकारों की माँग बड़े-बड़े विप्लवों, क्रान्तियों और परिवर्तनों की जननी है। मनुष्य हर प्रकार के बन्धन से मुक्ति चाहता है। लेकिन अधिकारों की माँग कहीं-कहीं समाज-हित का भी अतिक्रमण करते देखी गयी है। कुछ राष्ट्र हैं जो मानव-संहार के लिए अणु-अस्त्रों के उत्पादन की स्वतंत्रता चाहते हैं। जब देश में अकाल और महँगाई हो, उस समय कुछ व्यापारी चोरबाजारी की खुली छूट चाहते हैं। जो फ़िल्म प्रोड्यूसर हैं, उन्हें अश्लील नृत्यों और गानों पर कोई प्रतिबन्ध गवारा नहीं होता। पहले कवि हुआ करते थे, किन्तु अब 'नये कवि' पैदा हो गये हैं, जो कविता न लिखकर 'नयी कविता' लिखते हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपनी कविता में लय और छन्द के बन्धनों की तो बात दूर, किसी भी प्रकार के [illegible] बर्दाश्त नहीं करते। उनकी 'नयी कविता' में रस और सौन्दर्य की [illegible] उसमें

किसी भी स्पष्ट विचार, सामाजिक प्रयोजन, व्यापक मानवीय मूल्य आदि की माँग करते ही वे बिगड़ उठते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा करना उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर प्रहार है। वे किसी सामाजिक दायित्व को भी नहीं मानना चाहते। ठीक तो है, दायित्व किसे प्रिय है? दायित्व एक प्रतिबन्ध है, अनुशासन है और यदि अधिकारों और दायित्वों का बँटवारा अनुचित न हो तो दायित्व अपनी कार्य-सीमा के भीतर नैतिक आचरण की सचेत स्वीकृति है। किन्तु अभी ऐसी अवस्था नहीं आयी कि लोग अधिकारों के साथ दायित्वों को भी खुशी-खुशी अपनाना चाहें। फिर बताइये कि एक आलोचक किसी दायित्व में क्यों बँधना चाहेगा? 'अधिकारों की माँग' के इस वातावरण में यदि आप इस बात पर बहस करते कि आलोचक के क्या अधिकार हैं तो मैं बड़ी खुशी से एक लम्बी सूची तैयार कर देता। लेकिन लगता है कि आप आलोचक को कोई अधिकार नहीं देना चाहते, उस पर दायित्वों का बोझ ही लादना चाहते हैं। कैसी भयानक विडंबना है कि आप मुझसे ही पूछ रहे हैं कि मेरे दायित्वों की सूची कितनी लम्बी है यानी मैं अपने ऊपर कितने बन्धन क़बूल करने को तैयार हूँ! मैं जानता हूँ कि यह सूचीअगर संक्षिप्त हुई तो आप अप्रसन्न होंगे, क्योंकि आपकी प्रसन्नता इस सूची की लम्बाई के अनुपात पर ही निर्भर करेगी।

मैं सचमुच एक बड़े धर्म-संकट में पड़ गया हूँ, क्योंकि हमारे साहित्य में सम्प्रति जैसी अवस्था है, उसमें एक आलोचक के लिए अपने सब अधिकार त्यागकर केवल अपने दायित्वों और कर्तव्यों को निभाना भी बड़ी जोखिम का काम बन गया है। पहले जब नगर नहीं थे, तब नगरपालिका कमेटियाँ भी नहीं थीं और गाँवों में स्त्रियाँ अपने घर का कूड़ा-कचरा बटोरकर स्वयं घूरे पर डाल आती थीं, लेकिन आज नगरों और अधिकारों की माँग के युग में हम अपने घर का कूड़ा खिड़की में से सड़क पर डाल दें तो कोई रोकने वाला नहीं है। उसे उठाकर फेंकने का दायित्व नगरपालिका कमेटी के जमादारों पर है। वे बेचारे रोज़ कूड़ा उठाकर ले जाते हैं और सड़क की सफ़ाई करते हैं। फिर भी हमारे बहुत-से संभ्रान्त नागरिक जमादार पर लाल-पीले हो उठते हैं—तुमने सफ़ाई ठीक से नहीं की, तुम बड़े लापरवाह हो, दुर्गन्धि से नाक मड़ी जाती है, आदि! प्रेम की स्वतंत्रता और 'नयी कविता' के युग में (ख़ैरियत है कि अभी तक नये उपन्यास, नयी कहानी, नये नाटक लिखने वाले पैदा नहीं हुए) आलोचकों की स्थिति इन ग़रीब जमादारों से भी अधिक दयनीय हो गयी है। अगर आलोचक अपने को साहित्य-जगत का नीचातिनीच प्राणी मानकर भी चलना चाहे तो नहीं चल सकता। वह अगर अपने सिर पर यह दायित्व उठा ले कि हमारे साहित्य-जगत की सड़कों पर लेखक नामधारी नागरिक लिखकर और प्रकाशक नामधारी नागरिक छापेखानों से छपाकर पुस्तकों के रूप में जो ढेर-का-ढेर कूड़-कचरा रोज़ फेंक देते हैं, उसे ठीक-

ठिकाने लगाना ही उसका काम है, तो भी उसकी जैसी दुर्गति बनेगी, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकते। यह सभी जानते हैं कि वर्ष में अगर पाँच हज़ार पुस्तकें छपती हैं तो उनमें अधिक-से-अधिक पाँच ही पठनीय तथा संग्रहणीय होती हैं—बाक़ी इसलिए छपती हैं कि जो अपने को लेखक मान ले उसे लिखने का अधिकार है और जो थोड़ी-सी पूँजी लगाकर प्रकाशक बन जाये, उसे छापने का अधिकार है। लेकिन क्या आलोचक को साहित्य-जगत के सफ़ाई विभाग का जमादार बनने का अधिकार है? क्या वह अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए इन चार हज़ार नौ सौ पिचानवे को रद्दी की टोकरी में फेंक सकता है, ताकि साहित्य-जगत में व्यर्थ का कूड़ा-कचरा न जमा हो जाये?

प्रश्न पूछने पर तो इन चार हज़ार नौ सौ पिचानवे पुस्तकों के सारे लेखक भी एक स्वर से हामी भर देंगे, क्योंकि ऐसे प्रश्न का कोई नकारात्मक उत्तर नहीं देना चाहता। इसके अतिरिक्त हर लेखक सोचता है कि उसकी कृति ही श्रेष्ठ है, एक शाहपारा है, 'क्लासिक' बनने की क्षमता रखती है, और बाक़ी सब कृतियाँ हेच हैं। इसलिए उसकी हामी उदारता और वस्तून्मुखी दृष्टिकोण का प्रमाण नहीं होती, बल्कि अपने बारे में एक भ्रामक धारणा का परिणाम होती है। अस्तु जो भी हो, आलोचक यदि सारे लेखकों की स्वीकृति पाकर अपने इस दायित्व को निभाने लगता है तो पाँच तो खुश होते हैं और चार हज़ार नौ सौ पिचानवे लेखक नाखुश हो जाते हैं। इस समाज में इतने लोगों को नाखुश करके जीना क्या सम्भव है?

मैं यह नहीं कह रहा कि आलोचक का मत या निर्णय हमेशा सत्य ही होता है। इतिहास में ऐसे असंख्य प्रमाण मौजूद हैं जब आलोचकों ने श्रेष्ठ कृतियों को किसी विशेष पूर्वग्रह, मतवाद या रूढ़ दृष्टिकोण की झोंक में बुरा कहा है और बुरी रचनाओं को महान साबित करना चाहा है। इस तरह की सर्वथा ग़लत आलोचनाओं द्वारा शेक्सपियर और इब्सन, सरवान्ते और दोस्तोव्स्की तथा अनेक दूसरे महान प्रतिभा के लेखकों को तत्सामयिक आलोचकों ने कितना कुछ बुरा नहीं कहा? रचनाकारों की प्रतिभा-क्षमता की तरह आलोचकों की प्रतिभा-क्षमता का प्रश्न उठाना भी असंगत नहीं है। जिस तरह हर लेखक श्रेष्ठ रचनाकार नहीं बन सकता, उसी तरह हर समीक्षक श्रेष्ठ आलोचक नहीं बन सकता। पुराने आचार्यों ने 'नीर-क्षीर-विवेचन' का दायित्व आलोचक को सौंपा था। एक क्षण के लिए मान लीजिए कि इतिहास, दर्शन और विश्व-साहित्य के गम्भीर अध्ययन, परिष्कृत कला-रुचि और वस्तून्मुखी दृष्टिकोण के कारण एक आलोचक 'नीर-क्षीर-विवेचन' की पूरी क्षमता रखता है, और किसी व्यक्तिगत सम्बन्ध या स्वार्थ से प्रभावित और प्रेरित हुए बिना ही ईमानदारी से अपनी समीक्षाएँ लिखता है। आज के वातावरण में क्या उसे

'नीर-क्षीर-विवेचन' का भी अधिकार है, जो वास्तव में अधिकार कम और दायित्व ही अधिक है ? मैं इस प्रश्न को बार-बार उठा रहा हूँ, क्योंकि अक्सर आलोचकों को लेखकों के आक्रोश का शिकार होना पड़ता है, जिससे आलोचक के कर्तव्य-पालन में अप्रत्याशित बाधाएँ उठ खड़ी होती हैं। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से एक मिसाल देना चाहता हूँ। कई वर्ष पहले जब मेरे मित्र श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' प्रकाशित हुआ तो मैंने रेडियो पर उसकी समीक्षा करते हुए उसकी काफ़ी प्रशंसा की। अश्क जी को, स्वाभाभाविक है कि वह प्रशंसा बहुत पसन्द आयी और उन्होंने मेरे पीछे, जब मैं कश्मीर में था, रेडियो से पांडुलिपि मँगाकर वह लेख 'प्रतीक' में छपाया और बाद में 'गिरती दीवारें' के नये संस्करण में परिशिष्ट के रूप में भी छापा। जिस समय मैंने 'गिरती दीवारें' की आलोचना लिखी थी उस समय तक मैंने हिन्दी कथा-साहित्य में प्रकृतवाद या नेचुरलिज़्म के बढ़ते प्रभाव की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया था और न इस प्रवृत्ति के कला-विरोधी दुष्परिणामों पर ही सोचा था। इसे आप मेरी 'अयोग्यता' के खाते में डाल सकते हैं। लेकिन सच तो यह है कि 'प्रकृतवाद' की प्रवृत्ति उस समय तक इतने भयंकर रूप से व्यापक नहीं हुई थी कि मैं भविष्य के बारे में आशंकित होता। इसके अतिरिक्त 'गिरती दीवारें' अपने ढंग की सशक्त रचना है और प्रकृतवादी ढंग से ही सही, उसमें हमारे सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं का व्यापक चित्रण हुआ है। इसलिए मैंने उसकी प्रकृतवादी सीमाओं और संकीर्णताओं को न देखकर यही देखा कि वह एक प्रकार से प्रेमचन्द की परम्परा का श्रेष्ठ उपन्यास है। लेकिन जब अश्क जी का अगला उपन्यास 'गर्म राख' निकला, उस समय तक मैं हिन्दी-कथा-साहित्य में बढ़ती हुई प्रकृतिवादी प्रवृत्ति के उस भोंडे और कलाहीन प्रदर्शन से भी परिचित हो चुका था जो डॉ० देवराज के बृहद् उपन्यास 'पथ की खोज' में तथा पिछले आठ-सात वर्षों के अधिकांश उपन्यासों में हिन्दी-पाठकों ने देखा था। 'गर्म राख' इस कोटि के उपन्यासों से भिन्न नहीं था। इसलिए जिस अन्दाज में मैंने 'पथ की खोज' की आलोचना की थी, 'गर्म राख' की आलोचना उससे भिन्न अन्दाज़ में करके मैं लेखक के प्रति अपना पक्षपात ही व्यक्त कर सकता था, ईमानदारी से सत्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता था। इसलिए मैंने 'गर्म राख' को जैसा पाया वैसा बताया, लेकिन इस सत्य-कथन की लेखक पर जैसी प्रतिक्रिया हुई, वह मेरे लिए एक नया अनुभव था। किसी बुरी रचना को भी बुरा कहने से उसका लेखक बुरा ही मनायेगा, यह तो मैं अनेक बार अनुभव कर चुका था, लेकिन वह आलोचक की नीयत पर सन्देह करेगा, यह मैं नहीं जानता था। दुर्भाग्य से ऐसा हुआ और यद्यपि 'अश्क' आज भी मेरे मित्र हैं, फिर भी वे इस बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं हैं कि मैंने बिना किसी दुर्भावना के, ईमानदारी

से ही वह सब लिखा था। ज़रा सोचिए तो कैसी विचित्र स्थिति है! आलोचक जब आपकी प्रशंसा करता है, तब तो आप उसे ईमानदार और सत्य का अवतार मान लेते हैं, लेकिन जब आपकी कृति को बुरा बताता है तो आप उसे ईमानदार और सच्चा नहीं समझते! लेखकों का अपनी रचना के प्रति मोह अकसर इतना अन्धा होता है कि उनकी तुच्छ रचना को भी कोई अगर शेक्सपियर के मुक़ाबले की कृति कह दे तो वे उस पर विश्वास करके उसको अपना सबसे बड़ा हितैषी, मित्र और सच्चा आलोचक मानने लगते हैं, लेकिन अगर कोई साहस करके तुच्छ रचना को तुच्छ कह दे तो उस पर विश्वास करना तो दूर, उसे हर प्रकार से लांछित करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। आलोचक का धर्म-संकट ऐसी विषम स्थितियों से ही पैदा होता है, जिससे अपना दायित्व निभाना भी उसके लिए दुष्कर हो गया है।

'आलोचक सहानुभूतिपूर्ण नहीं है, आलोचक नयी प्रतिभाओं को प्रकाश में नहीं आने देते', ऐसे अनेक आरोप हम सुनते आये हैं। मेरा अनुरोध केवल इतना है कि आप आलोचक के दायित्व पर विचार करते समय यह भी देखें कि रचनाकार स्वयं कहाँ तक आलोचकों को अपने कर्तव्य-पालन से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं, और इस तरह पाठकों को भी गुमराह करते हैं। अपनी पहली रचना पर किसी प्रसिद्ध आलोचक से भूमिका लिखाने की प्रथा चल पड़ी है। इस भूमिका में आलोचक जब तक लेखक की अपरिपक्व रचना की भी भूरि-भूरि प्रशंसा न करे तब तक लेखक को संतोष नहीं होता, और अगर वह भूमिका लिखने से इनकार कर दे तो लेखक तुरन्त दुर्वासा का रूप धारण कर लेता है। ज़रा-सी बात पर वैमनस्य और कटुता कोई आलोचक पसन्द नहीं करता। इसलिए अपने अन्तःकरण को इस तर्क से संतोष देकर कि वह एक नवोदित लेखक को प्रोत्साहन दे रहा है, आलोचक अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में प्रशंसात्मक भूमिका लिखकर अपना पिंड छुड़ा लेता है, और इस प्रकार आरम्भ से ही असत्य का प्रचार शुरू हो जाता है। जब लेखक थोड़ी-सी भी प्रसिद्धि पा जाते हैं, तब वे भूमिका के लिए आलोचक का मुँह नहीं जोहते, स्वयं ही अपनी भूमिका लिखते हैं और अपनी कृति को विश्व-साहित्य की महानतम कृतियों से भी महान होने का दावा करते हैं और इस प्रकार आलोचक को अपनी कृति जाँचने-परखने का मौक़ा भी नहीं देना चाहते। और जब आलोचक इन दावों की परवाह न करके ऐसी कृतियों का सही मूल्यांकन करते हैं; अर्थात उन्हें निरर्थक और कला-हीन रचनाएं बताते हैं तो लेखक आलोचकों को बड़ी-बड़ी चुनौतियाँ देते हैं। 'पथ की खोज' हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में भी एक निम्नकोटि की अपठनीय रचना है, इसमें सन्देह नहीं। अपने ऊपर जब्र करके उसके आठ-सौ पृष्ठों को पढ़कर मुझे यह बात लिखनी पड़ी। लेकिन लेखक आज भी चुनौती देता जाता

है कि हिन्दी उपन्यासों से तुलना न करके उसको योरोपीय उपन्यासों के मुक़ाबले में रखकर देखना चाहिए ! 'नदी के द्वीप' के लेखक को भी अपने आलोचकों से यही शिकायत है कि वे हिन्दी-चेतना से ही उनकी कृतियों को जाँचते हैं !' यह एक विचित्र और गुमराह करने वाला तर्क है। जो कृति हिन्दी में अपने बल पर खड़ी नहीं हो सकती, वह विश्वसाहित्य में खड़ी हो सकेगी, ऐसी प्रवंचना का स्रोत कहाँ है, मैं नहीं जानता, क्योंकि विश्व-साहित्य का अध्येता होने के नाते मुझे मालूम है कि विश्व के सौ प्रथम कोटि के उपन्यासों में अभी हिन्दी का शायद एक भी उपन्यास स्थान पाने योग्य नहीं है। 'गोदान', 'बाणभट्ट की आत्म-क़था', 'सुखदा', 'मैला आँचल' और 'शेखर' को दृष्टि में रखकर ही मैं यह बात कह रहा हूँ। फिर भी तॉलस्तॉय, तुर्गनेव, दोस्तोव्स्की, गोर्की, बाल्ज़क, ह्यूगो, डिकेन्स, स्कॉट, जेम्स ज्वायस, रोम्याँ रोलाँ या टैगोर और शरत की महानता के दावेदार हिन्दी में बढ़ते जा रहे हैं। अभी तक उपन्यास-क्षेत्र में ही ऐसे दावे किये जाते थे, किन्तु अब नाटकों के क्षेत्र में भी ऐसे दावे किये जाने लगे हैं—स्वयं लेखकों की ओर से। अश्क के एकांकियों को विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ एकांकियों के साथ रखकर देखने की माँग हाल ही में हमारे सामने आयी है। आलोचक क्या करे ? क्या इन दावों का खंडन ही करता फिरे, क्योंकि वे अकसर ग़लत और हास्यास्यद होते हैं ? लेकिन अगर वह ऐसा करता है तो उस पर हीन-भावना से आक्रान्त होने का आरोप लगाया जाता है जबकि सत्य यह है, कि ये दावे स्वयं एक भयंकर हीनभावना के परिणाम हैं। एक और प्रवृत्ति है जिसकी ओर संकेत करना ज़रूरी है। जिस लेखक ने भी एक उपन्यास या नाटक लिखा है या कहानी, कविता, या एकांकी का कोई संग्रह छपा लिया है या जिसकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी हैं—चाहे वे किसी कोटि की भी क्यों न हों—वह चाहता है, चाहता ही नहीं बल्कि अपना अधिकार जताकर माँग करता है कि आलोचक अगर हिन्दी कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी या एकांकी पर कभी, कहीं कोई लेख लिखे तो उसका नाम सम्मानपूर्वक ज़रूर गिनाया जाये, अर्थात लब्ध-प्रतिष्ठित, ख्यातिनामा, प्रगल्भ, होनहार, नवोदित, तरुण, नये जैसे किसी-न-किसी विशेषण के साथ। शुक्ल जी तक को इस माँग के आगे झुकना पड़ा, औरों की तो बात ही क्या ! लेकिन दुनिया में आपने कहीं ऐसी बात सुनी है ? अंग्रेज़ी साहित्य में, जिससे हम सब न्यूनाधिक परिचित हैं, क्या आपने ऐसी बात देखी है ? अंग्रेज़ी साहित्य के आलोचक सामरसेट माम और ए० जे० क्रोनिक जैसे विश्व-विख्यात उपन्यासकारों तक की चर्चा अपने लेखों में बहुत कम करते हैं और आलोचनात्मक पुस्तकों में तो उनका ज़िक्र ही कहीं आता है। क्यों ? क्योंकि केवल बहुत लिखना या ख्याति पा जाना ही उन आलोचकों के निकट चर्चा का विषय बन जाने के लिए पर्याप्त नहीं है। किसी लेखक ने

से ही वह सब लिखा था। ज़रा सोचिए तो कैसी विचित्र स्थिति है! आलोचक जब आपकी प्रशंसा करता है, तब तो आप उसे ईमानदार और सत्य का अवतार मान लेते हैं, लेकिन जब आपकी कृति को बुरा बताता है तो आप उसे ईमानदार और सच्चा नहीं समझते! लेखकों का अपनी रचना के प्रति मोह अकसर इतना अन्धा होता है कि उनकी तुच्छ रचना को भी कोई अगर शेक्सपियर के मुक़ाबले की कृति कह दे तो वे उस पर विश्वास करके उसको अपना सबसे बड़ा हितैषी, मित्र और सच्चा आलोचक मानने लगते हैं, लेकिन अगर कोई साहस करके तुच्छ रचना को तुच्छ कह दे तो उस पर विश्वास करना तो दूर, उसे हर प्रकार से लांछित करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। आलोचक का धर्म-संकट ऐसी विषम स्थितियों से ही पैदा होता है, जिससे अपना दायित्व निभाना भी उसके लिए दुष्कर हो गया है।

'आलोचक सहानुभूतिपूर्ण नहीं है, आलोचक नयी प्रतिभाओं को प्रकाश में नहीं आने देते', ऐसे अनेक आरोप हम सुनते आये हैं। मेरा अनुरोध केवल इतना है कि आप आलोचक के दायित्व पर विचार करते समय यह भी देखें कि रचना-कार स्वयं कहाँ तक आलोचकों को अपने कर्तव्य-पालन से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं, और इस तरह पाठकों को भी गुमराह करते हैं। अपनी पहली रचना पर किसी प्रसिद्ध आलोचक से भूमिका लिखाने की प्रथा चल पड़ी है। इस भूमिका में आलोचक जब तक लेखक की अपरिपक्व रचना की भी भूरि-भूरि प्रशंसा न करे तब तक लेखक को संतोष नहीं होता, और अगर वह भूमिका लिखने से इनकार कर दे तो लेखक तुरन्त दुर्वासा का रूप धारण कर लेता है। ज़रा-सी बात पर वैमनस्य और कटुता कोई आलोचक पसन्द नहीं करता। इसलिए अपने अन्तःकरण को इस तर्क से संतोष देकर कि वह एक नवोदित लेखक को प्रोत्साहन दे रहा है, आलोचक अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में प्रशंसात्मक भूमिका लिखकर अपना पिंड छुड़ा लेता है, और इस प्रकार आरम्भ से ही असत्य का प्रचार शुरू हो जाता है। जब लेखक थोड़ी-सी भी प्रसिद्धि पा जाते हैं, तब वे भूमिका के लिए आलोचक का मुँह नहीं जोहते, स्वयं ही अपनी भूमिका लिखते हैं और अपनी कृति को विश्व-साहित्य की महानतम कृतियों से भी महान होने का दावा करते हैं और इस प्रकार आलोचक को अपनी कृति जांचने-परखने का मौक़ा भी नहीं देना चाहते। और जब आलोचक इन दावों की परवाह न करके ऐसी कृतियों का सही मूल्यांकन करते हैं; अर्थात उन्हें निरर्थक और कला-हीन रचनाएं बताते हैं तो लेखक आलोचकों को बड़ी-बड़ी चुनौतियां देते हैं। 'पथ की खोज' हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में भी एक निम्नकोटि की अपठनीय रचना है, इसमें सन्देह नहीं। अपने ऊपर जब्र करके उसके आठ-सौ पृष्ठों को पढ़कर मुझे यह बात लिखनी पड़ी। लेकिन लेखक आज भी चुनौती देता जाता

है कि हिन्दी उपन्यासों से तुलना न करके उसको योरोपीय उपन्यासों के मुक़ाबले में रखकर देखना चाहिए ! 'नदी के द्वीप' के लेखक को भी अपने आलोचकों से यही शिकायत है कि वे हिन्दी-चेतना से ही उनकी कृतियों को जाँचते हैं !' यह एक विचित्र और गुमराह करने वाला तर्क है। जो कृति हिन्दी में अपने बल पर खड़ी नहीं हो सकती, वह विश्वसाहित्य में खड़ी हो सकेगी, ऐसी प्रवंचना का स्रोत कहाँ है, मैं नहीं जानता, क्योंकि विश्व-साहित्य का अध्येता होने के नाते मुझे मालूम है कि विश्व के सौ प्रथम कोटि के उपन्यासों में अभी हिन्दी का शायद एक भी उपन्यास स्थान पाने योग्य नहीं है। 'गोदान', 'बाणभट्ट की आत्म-कथा', 'सुखदा', 'मैला आँचल' और 'शेखर' को दृष्टि में रखकर ही मैं यह बात कह रहा हूँ। फिर भी तॉलस्तॉय, तुर्गनेव, दोस्तोव्स्की, गोर्की, बाल्ज़ाक, ह्यूगो, डिकेन्स, स्कॉट, जेम्स ज्वायस, रोम्याँ रोलाँ या टैगोर और शरत की महानता के दावेदार हिन्दी में बढ़ते जा रहे हैं। अभी तक उपन्यास-क्षेत्र में ही ऐसे दावे किये जाते थे, किन्तु अब नाटकों के क्षेत्र में भी ऐसे दावे किये जाने लगे हैं—स्वयं लेखकों की ओर से। अश्क के एकांकियों को विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ एकांकियों के साथ रखकर देखने की माँग हाल ही में हमारे सामने आयी है। आलोचक क्या करे ? क्या इन दावों का खंडन ही करता फिरे, क्योंकि वे अकसर ग़लत और हास्यास्पद होते हैं ? लेकिन अगर वह ऐसा करता है तो उस पर हीन-भावना से आक्रान्त होने का आरोप लगाया जाता है जबकि सत्य यह है, कि ये दावे स्वयं एक भयंकर हीनभावना के परिणाम हैं। एक और प्रवृत्ति है जिसकी ओर संकेत करना ज़रूरी है। जिस लेखक ने भी एक उपन्यास या नाटक लिखा है या कहानी, कविता, या एकांकी का कोई संग्रह छपा लिया है या जिसकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी हैं—चाहे वे किसी कोटि की भी क्यों न हों—वह चाहता है, चाहता ही नहीं बल्कि अपना अधिकार जताकर माँग करता है कि आलोचक अगर हिन्दी कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी या एकांकी पर कभी, कहीं कोई लेख लिखे तो उसका नाम सम्मानपूर्वक ज़रूर गिनाया जाये, अर्थात लब्ध-प्रतिष्ठित, ख्यातिनामा, प्रगल्भ, होनहार, नवोदित, तरुण, नये जैसे किसी-न-किसी विशेषण के साथ। शुक्ल जी तक को इस माँग के आगे झुकना पड़ा, औरों की तो बात ही क्या ! लेकिन दुनिया में आपने कहीं ऐसी बात सुनी है ? अंग्रेज़ी साहित्य में, जिससे हम सब न्यूनाधिक परिचित हैं, क्या आपने ऐसी बात देखी है ? अंग्रेज़ी साहित्य के आलोचक सामरसेट माम और ए० जे० क्रोनिक जैसे विश्व-विख्यात उपन्यासकारों तक की चर्चा अपने लेखों में बहुत कम करते हैं और आलोचनात्मक पुस्तकों में तो उनका जिक्र ही कहीं आता है। क्यों ? क्योंकि केवल बहुत लिखना या ख्याति पा जाना ही उन आलोचकों के निकट चर्चा का विषय बन जाने के लिए पर्याप्त नहीं है। किसी लेखक ने

अगर अपनी कला से जीवन को प्रतिबिंबित करने के नये सीमान्त नहीं खोले हैं, तो वह विवेचनीय नहीं बनता, कुछ ऐसी धारणा अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ आलोचकों की लगती है। इसी कारण जहां अंग्रेज़ी में हिन्दी उपन्यासों के स्तर को ध्यान में रखते हुए आज भी कई सौ श्रेष्ठ लेखक हैं, वहाँ अंग्रेज़ी तथा पाश्चात्य उपन्यासों की परम्परा को दृष्टि में रखते हुए एक दर्जन उपन्यासकार भी श्रेष्ठ नहीं हैं—प्रथम कोटि का तो कोई है ही नहीं—इसलिए आलोचना-पुस्तकों में चर्चा लगभग एक दर्जन उपन्यासकारों की ही होती है। लेकिन हमारे कवि, उपन्यासकार और नाटककार हिन्दी आलोचक से अपेक्षा रखते हैं कि वह अपने दायित्व को भूलकर बस लेखकों की नामावली तैयार करने वाला एक क्लर्क बन जाये।

हमारे 'नये कवि' चाहते हैं कि आलोचक अपने अनुभव, अध्ययन और जीवन-बोध से प्राप्त किसी आधुनिक या प्राचीन कसौटी पर उनकी रचनाओं को न परखे—मूल्यांकन करे ही न, क्योंकि मूल्य सामाजिक अनुभव और आचरण से बनते हैं। वे आदेश देते हैं कि आलोचक सिर्फ़ रचना के वैशिष्ट्य को ही बताये, क्योंकि वैशिष्ट्य ही उसका सबसे बड़ा मूल्य है। किन्तु यह वैशिष्ट्य शिव है या अशिव, सुन्दर है या असुन्दर, सत्य को अभिव्यक्ति देने में समर्थ है या असमर्थ—इन सभी तथा अन्य कसौटियों का प्रयोग न करे, क्योंकि तब इस वैशिष्ट्य की सार्थकता साहित्य और जीवन की परम्परा की अपेक्षा में रखकर उद्घाटित करनी पड़ जायेगी। उनका आदेश होता है कि आलोचक को सिर्फ यही देखना चाहिए कि लेखक के मन में वास्तविकता की प्रतिक्रिया जिस रूप में हुई उस रूप में ही उसे वह व्यक्त कर सका है या नहीं। यह आदेश आलोचक के हाथ बाँध देता है। उसे लेखक के मानसिक जगत की प्रतिक्रियाओं का 'बैरोमीटर' बनने के लिए विवश करता है, जो केवल यह रिकार्ड करता चले कि वहाँ कुंठा, अनास्था, मानव-द्रोही भावनाओं और निराशा की ठंडी आँधियों का तापमान कितना है! स्वस्थ मानस वाले पुराने महान लेखक अपने आलोचक से इस तरह की माँग नहीं करते थे, इसी कारण उनकी कृतियों में व्यक्त जीवन-सत्य को इतिहास और समाज-जीवन के व्यापक सन्दर्भ में रखकर जाँचना संभव होता था। लेकिन अब हमारे तथाकथित 'नये कवियों' का आदेश है कि उनकी कुंठित चेतना के अनुरूप ही आलोचना का क्षेत्र भी संकुचित और कुंठित कर दिया जाये! मिसाल के लिए, अगर हमारे मित्र प्रभाकर माचवे नयी कविता की बानगी के रूप में तिब्बत के किसी बौद्ध-भिक्षु को चीनी भाषा में रूसी चित्र-पत्रिका को पढ़ते देखकर लिखें कि—

> 'मैंने मन में कहा, 'तुम्हारी मुक्ति' अभी होना है बाक़ी
> तार कँटीले, बम, टैंकों के काले धब्बे खाकी—

जब यह माला छीन तुम्हारी, देंगे वे बन्दूक नुकीली
(शान्ति सुरक्षा !) चीवर के बदले में वर्दी लाल व पीली !"

तब आलोचक को माचवे जी के मन की प्रतिक्रिया के वैशिष्ट्य का निस्संग विवेचन करके उनकी शैली की व्यंजना-शक्ति पर खूब सिर धुनना चाहिए। लेकिन इस कविता में जो विचार व्यक्त हुआ है वह राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से कितना दूषित है, 'मुक्ति' शब्द की आड़ में कितना मानवद्रोही है, इसकी जाँच-परख आलोचक को नहीं करनी चाहिए। मज़े की बात यह है कि माचवे जी के मन की यह प्रतिक्रिया विशिष्ट भी नहीं है—अगर हमारी राष्ट्रीय नीति और राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध होना ही विशिष्टता की कसौटी न हो तो—क्योंकि रूस-चीन और भारत की मैत्री के विरोधियों की संख्या अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली आदि पुराने साम्राज्यवादी देशों में पर्याप्त है। उन सबकी ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है। प्रश्न यह है कि जब आप किसी राजनीतिक, सामाजिक या ऐतिहासिक तथ्य के बारे में अपनी प्रतिक्रिया को विचार के रूप में व्यक्त करते हैं तो राजनीतिक, समाजशास्त्र या इतिहास के संदर्भ में रखकर आलोचक को उसे जाँचने की आज़ादी क्यों नहीं देना चाहते? हमारे नये कवि नवीनता, वैशिष्ट्य और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के नाम पर पाठकों को गुमराह करने और उनकी मानवीय भावनाओं को कुंठित करने की पूरी आज़ादी चाहते हैं, लेकिन आलोचक को यह अधिकार नहीं देना चाहते कि वह उनकी रचना के पूरे अर्थों को पाठक के सामने खोलकर रखे, उसे सही मार्ग दिखाये और उसकी मानवीय सहानुभूतियों और संवेदनाओं को कुंठित न होने दे। ऐसा करते ही आलोचक को सीख दी जाती है कि तुम कविता से उन मूल्यों को पाने की चेष्टा करते हो, जो उसका उद्देश्य ही नहीं है। साथ ही एक धमकी भी दी जाती है कि नया कवि अपनी नयी कविता को जिस दृष्टि से देखता है उस दृष्टि से आलोचक यदि नहीं देखेगा तो उसे याद रखना चाहिए कि यह एक सैलाब है जो अपने विरोधियों को तिनके की तरह बहा ले जायेगा। मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि यह सैलाब है, उसी तरह का सैलाब जैसे बरसात में अकसर हमारे देश में आते रहते हैं और मनुष्य की खेती-बाड़ी और घर-द्वार को उजाड़ करके अपने-आप हट जाते हैं। जीवन में तो हम सब इन सैलाबों के अभ्यस्त हो गये हैं, साहित्य में भी हो जायेंगे। कुंठा और मानव-द्रोही भावनाओं का यह सैलाब भी क्षणस्थायी ही सिद्ध होगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। पानी का सैलाब विध्वंस के साथ जैसे भूमि को उर्वर बना जाता है, मेरी यह भी धारणा है कि साहित्य-जगत का यह सैलाब मानव-मूल्यों को अस्थायी क्षति पहुँचाकर भी भाषा की व्यंजना-शक्ति को शायद बढ़ा ही जायेगा। इसलिए किसी आलोचक को इन धमकियों से विचलित होने की जरूरत नहीं है।

आपको लगेगा कि लेखकों के प्रति मेरे मन में कटुता का सागर खौल रहा है, जो मैं आलोचक के दायित्व का प्रश्न छोड़कर लेखकों पर पिल पड़ा हूँ। दर-असल बात ऐसी नहीं है। मैं तो सिर्फ़ उस परिस्थिति से आपको परिचित कराना चाहता हूँ जिसके भीतर रहकर आलोचक को आज अपना कर्तव्य-पालन करना पड़ता है। आग्रह-दुराग्रह, धमकी-चेतावनी, लांछन, आदेश, आत्मश्लाघा और अमरत्व पाने की उतावली के इस वातावरण में किसी भी ईमानदार आलोचक के लिए साँस लेना दूभर हो गया है। इसलिए दो-तीन बातें स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। ईमानदार आलोचक न किसी लेखक का दोस्त होता है न दुश्मन—उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध किसी से चाहे जैसे हों। वह अगर दोस्त है तो अच्छे साहित्य या अच्छी रचना का, और दुश्मन है तो बुरे साहित्य या बुरी रचना का—उसका लेखक प्रसिद्ध हो या अप्रसिद्ध, पुराना हो या नया। आलोचक न तो लेखकों की नामावली तैयार करने वाला क्लर्क है, न लेखक के अवचेतन मन की प्रतिक्रियाओं को अंकित करने वाला बैरोमीटर ही। और सबसे बड़ी बात यह है कि आलोचक साहित्य-जगत का भाग्य-विधाता भी नहीं है, जो चाहे तो खुले हाथों 'अमरत्व' बाँट सकता हो। किसी आलोचक में यह शक्ति नहीं कि वह बुरी रचना को अपनी मुक्त प्रशंसा से अमरत्व दिला सके या अपने कठोर वाक-प्रहारों से किसी महान रचना को अमर होने से रोक सके! इसलिए लेखक यदि महान कृतित्व के बिना ही महानता और अमरत्व पाने की महत्वाकांक्षा पर थोड़ा-सा संयम रखकर आलोचक को अपने दायित्वों का पालन करने का अवसर दें, तो सम्भव है कि आलोचना के क्षेत्र में वैसी अराजकता न रहे, जैसी कि आज दिखायी देती है।

आलोचक अधिकारों की माँग नहीं करता, किन्तु उसे अपने कर्तव्य-पालन का अधिकार तो कम-से-कम मिलना ही चाहिए। यदि आप आलोचक के इस प्राथमिक अधिकार को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं तो 'आलोचक के दायित्व' के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना सम्भव हो सकेगा।

साहित्य का हर पाठक एक प्रकार से आलोचक होता है। वह किसी कहानी या कविता को पढ़ते ही तुरन्त अपना मत प्रकट कर देता है कि वह अच्छी है, बुरी है या असुन्दर है। लेकिन इन विशेषणों का प्रयोग वह अनायास अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए करता है, जिससे आप केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि किसी रचना का उस पर पढ़ते ही कैसा प्रभाव पड़ा है—वह उसे रोचक लगी और वह उसमें बह गया है या वह उसे अरोचक लगी और वह उसमें बह नहीं सका है। लेकिन वह कृति किस कोटि की है, कितनी मूल्यवान है, इसका निर्णय करने के लिए वह नहीं रुकता। वह यदि रचना से प्रभावित हुआ है, तो उसे अच्छा समझने का उसके निकट यह पर्याप्त कारण है। वस्तुपरक विवेचन के झमेले में वह नहीं पड़ता। इसीलिए प्रत्येक पाठक को हम

आलोचक नहीं कहते। आलोचक हम उसे ही कहते हैं जिसमें अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को वस्तुपरक निर्णय के साथ समन्वित करने की क्षमता हो, और जो रचना के विवेचन द्वारा अपने अनुभव-समन्वित निर्णय को स्पष्ट अभिव्यक्ति देकर साधारण पाठकों की दृष्टि को भी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के तल से उठाकर व्यापक और वस्तुपरक बना सके, ताकि वे रचना से उन सारे चेतना-विकासी मूल्यों को प्राप्त कर सकें जो उसमें निहित हैं।

लेकिन आप जानते हैं कि आलोचकों में भी कई श्रेणियाँ हैं। एक आलोचक तो वह हैं, जो केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रति मास या प्रति सप्ताह नयी प्रकाशित पुस्तकों की 'रिव्यू' लिखा करते हैं। इन आलोचकों की संख्या पर्याप्त है, क्योंकि हर लेखक या प्रकाशक की इच्छा होती है कि उसकी लिखी या प्रकाशित हर पुस्तक की रिव्यू उसके छपते ही अधिक-से-अधिक पत्र-पत्रिकाओं में हो जाये। इससे पुस्तक की बिक्री पर असर पड़ता है—इसलिए इस प्रकार की समीक्षाएँ एक प्रकार से व्यावसायिक प्रक्रिया का ही अंग होती हैं। इन्हें आप समीक्षा-रूप में लिखे विज्ञापन कह सकते हैं। इनके लेखक अकसर साधारण पाठकों की कोटि के ही आलोचक होते हैं, जो केवल सुन्दर या असुन्दर जैसे विशेषणों द्वारा पुस्तक के बारे में अपनी प्रतिक्रिया को ही व्यक्त करते हैं, साथ में यह भी सूचित कर देते हैं कि पुस्तक में क्या-क्या है, कहानियाँ और कविताएँ किस विषय की हैं, या उपन्यास की कहानी क्या है, नायक-नायिका का नाम क्या है, पृष्ठ कितने हैं और छपाई-सफ़ाई कैसी है। जिन परिस्थितियों में और जितनी जल्दी में उन्हें अपनी समीक्षाएँ लिखनी पड़ती हैं, उसे देखते हुए उन पर साहित्य के गंभीर मूल्यांकन का भार डालना उचित नहीं लगता। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में उनका कार्य विवेचनीय नहीं है।

जब से हमारे विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के विद्यार्थियों में बताशों की तरह साहित्य के डॉक्टर की उपाधि बाँटनी शुरू कर दी है, तब से आलोचकों का एक और वर्ग पैदा हो गया है। प्राचीन साहित्य और संस्कृति के विस्मृत तत्त्वों की खोज और अनुसंधान का कार्य अपने-आप में एक महत और रचनात्मक कार्य हो सकता है यदि उन तत्वों को विकासमान राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति के साथ समन्वित किया जाये, यदि आधुनिक चेतना के साथ ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियों तथा वस्तुओं को एक रचनात्मक सम्बन्ध में रखकर देखा जाये। किन्तु दुर्भाग्य से विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय परम्परा और रीतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मोह इतना जबर्दस्त है कि यह सारा अनुसंधान-कार्य एक रूढ़ और मुर्दा परिपाटी के अनुसार ही चलाया जाता है, जिसके कारण बड़े परिश्रम से संग्रह और सम्पादन करके हमारे विद्यार्थी जो थीसिसें तैयार करते हैं, वे प्राचीन ज्ञान और अनुभव की राशि से हमारे वर्तमान अनुभव को आलोकित करके समृद्ध नहीं बनातीं, बल्कि

अकसर कोशिश यह होती है कि आज के दृष्टिकोण में रँगकर प्राचीन को देखा जाये। डॉक्टर की उपाधि पाने की दीर्घ साधना में प्राचीन ग्रन्थों की सूचियों और तिथियों का संग्रह करते-करते साहित्य के इन डॉक्टरों का दृष्टिकोण और उनकी रुचि अकसर इतनी संकीर्ण और रूढ़ि-रीतिवादी हो जाती है कि वे प्राचीन की तिथियों में ही जीने लगते हैं और वर्तमान साहित्य की गतिविधि और उसकी समस्याओं में उनकी विशेष दिलचस्पी नहीं रहती। इसलिए जब वे विद्यार्थियों के उपयोग के लिए साहित्य के इतिहास, साहित्य-सिद्धान्त की पुस्तकें या दूसरे आलोचना-ग्रन्थ लिखते हैं तो वे भी उनकी थीसिसों की तरह संग्रह मात्र ही होते हैं, उनमें साहित्य का गम्भीर और मौलिक विवेचन नहीं रहता. यद्यपि शैली में अवश्य अध्यापकीय तत्सम-प्रियता का पूरा आडम्बर रहता है, ताकि उनकी भाषा पर प्रचलित और सजीव मुहावरे की छाया न पड़ जाये। प्रस्तुत प्रसंग में ये आलोचक भी विवेचनीय नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने विद्यार्थियोपयोगी आलोचना तक ही अपने दायित्व का क्षेत्र सीमित कर रखा है। साधारणतः उनसे यही आशा की जाती है कि वे अपने पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों में किसी लेखक का नाम, जन्म-तिथि और रचनाओं की सूची में से कुछ भी छूटने नहीं देंगे, ताकि विद्यार्थियों को यदि साहित्य का मूल्य आँकने की समझ न मिले तो कम-से-कम उसके बारे में सूचनाएँ तो सही मिल जायें!

आलोचक के दायित्व का प्रश्न केवल उनके लिए ही उठता है जो इन दोनों श्रेणियों से भिन्न श्रेणी के आलोचक हैं, अर्थात जो वास्तव में साहित्य के आलोचक हैं। यह कोई ऐसी भिन्न श्रेणी नहीं है जिसका पहली और दूसरी श्रेणी के आलो-चकों से कोई नाता-रिश्ता न हो। तीसरी श्रेणी के अनेक आलोचक ऐसे हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में रिव्यू भी लिखते है और साहित्य के डॉक्टर भी हैं। सच तो यह है कि आलोचक और लेखक भी सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं, अनेक रचना-कार समर्थ आलोचक हैं और अनेक आलोचक समर्थ रचनाकार हैं। इसलिए इसे आप शास्त्रीय वर्गीकरण की तरह अमिट और अलंघ्य न मान लें। अस्तु! अब प्रश्न उठता है कि इस वास्तविक आलोचक के दायित्व क्या हैं? आलोचक रसज्ञ हो, शब्दों में निहित अर्थ-ध्वनि-लय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं का मर्मज्ञ हो, साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अन्य क्षेत्रों के ज्ञान का पंडित हो, साहित्य के साथ-साथ यथासम्भव अन्य कला-रूपों के ऐतिहासिक विकास और परस्पर-सम्बन्धों को समझता हो; साहित्य के विभिन्न रूप-प्रकारों—कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, आदि की अनेकविधि रूप-गत समस्याओं और विशेषताओं से भली भाँति परि-चित हो तथा शैली, शिल्प और टेकनीक के इतिहास का ज्ञाता हो और उनके सूक्ष्म भेदों को समझता हो—ऐसी अनेक बातों की अपेक्षा हम आलोचक से करते

हैं, क्योंकि कवि, उपन्यासकार और नाटककार यद्यपि जीवन और जगत सम्बन्धी अपने अनुभव को ही प्रेषित करते हैं, लेकिन उनके प्रेषण के माध्यम, ढंग और और उपकरण भिन्न होते हैं। जीवन की वास्तविकता को मूर्त्त और कलात्मक ढंग से प्रतिबिम्बित करने के लिए वे भाषा के साथ भिन्न-भिन्न ढंगों से प्रयोग करते हैं और उनके शिल्प, टेकनीक और रूप में अन्तर होता है। फिर प्रत्येक माध्यम के अन्दर भी देश-काल जनित विशिष्टताओं के साथ-साथ लेखक-दर-लेखक शैली और शिल्प का सूक्ष्म भेद रहता है, जो लेखक के विशिष्ट व्यक्तित्व, उसके जीवन-बोध, दृष्टिकोण और सर्जन-शक्ति का सूचक होता है। साहित्य-निर्माण की प्रतिक्रिया के इस वैविध्यपूर्ण इतिहास की पूरी जानकारी आलोचक को होनी चाहिए। साहित्य क्या है, समाज से उसका क्या सम्बन्ध है, मानव-क्रिया के रूप में विज्ञान तथा अन्य कलाओं से भिन्न साहित्य का विशिष्ट प्रयोजन तथा कार्य क्या है, इन सब व्यापक प्रश्नों की समझ भी उसमें पर्याप्त होनी चाहिए—इस बारे में दो मत नहीं हैं। लेकिन इन सब बातों का ताल्लुक़ आलोचक की योग्यता से है, उसके दायित्व से नहीं। आलोचक से इन सब बातों की अपेक्षा रखने का मतलब है कि वह निरा अनाड़ी न हो। अनाड़ी होने से वह अपने दायित्व का समुचित निर्वाह नहीं कर सकता।

मान लीजिए कि आलोचक अनाड़ी नहीं है, उसमें आलोचक बनने की पूरी योग्यता है। तब फिर उसका दायित्व क्या है? आलोचक निर्णेता है और किसी रचना का मूल्य आँकना ही उसका मुख्य काम है। अपने मुख्य काम से ही हरेक का दायित्व पैदा होता है, वैज्ञानिक, कवि, कलाकार, बढ़ई, इंजीनियर या आलोचक—इन सभी का। मूल्य आँकना ही आलोचक का मुख्य काम है और यह काम वह समुचित ढंग से पूरा करे, सहानुभूतिपूर्वक किन्तु निष्पक्ष भाव से, हर रचना के वैशिष्ट्य का जाँच-परखकर किन्तु जीवन और इतिहास के व्यापक संदर्भ में रखके, अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं को वस्तुपरक विवेचन से समन्वित करके—यही आलोचक का दायित्व है। मूल्यांकन एक बड़ा व्यापक शब्द है। एक ही चीज़ में अनेक मूल्य निहित रहते हैं। जब हम बाज़ार में जूते या कपड़ा ख़रीदने जाते हैं तो हमें दस किस्म के जूतों और इतनी ही किस्म या डिज़ाइन के कपड़ों में से चुनाव करना पड़ता है। सब अपनी-अपनी रुचि से चुनाव करते हैं, किसी को कोई रंग या डिज़ाइन पसन्द होता है, किसी को कोई। यह तत्सामयिक फैशन और ख़रीदार के सांस्कृतिक स्तर की आवश्यकताओं से प्रभावित रहती है। फिर भी ख़रीदार जान-बूझकर घटिया जूता या कपड़ा नहीं ख़रीदना चाहता—घटिया से मतलब यहाँ सस्ते से नहीं है, बल्कि ऐसे से है जो टिकाऊ न हो। यह एक मूल्य है जो सभी पाना चाहते हैं। अपनी-अपनी समझ के अनुसार वे कपड़े को देखते ही कल्पना से उसके टिकाऊपन का अन्दाज़ भी लगाने लगते हैं।

इसी तरह आलोचकों की रुचियाँ और दृष्टिकोण चाहे भिन्न हों, किसी कविता, उपन्यास या नाटक को पढ़कर हर आलोचक को अध्ययन और अनुभव से विकसित अपनी विवेचन-बुद्धि से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या यह वास्तव में अच्छी रचना है, और साहित्य में जीवित रह सकेगी ? मूल्यांकन के लिए यह प्रश्न ज़रूरी है, क्योंकि इसका अर्थ है अच्छी और बुरी रचनाओं में फ़र्क निकालकर बताना कि वह कविता क्यों काव्य-साहित्य के इतिहास में एक नया और महत्त्वपूर्ण योगदान है और वह उपन्यास क्यों घटिया और रद्दी है। दरअसल इसका अर्थ है, ऐतिहासिक दृष्टि से किसी आधुनिक कृति को जाँचकर यह देखने की चेष्टा करना कि क्या आगामी युगों के प्रबुद्ध पाठक भी उसे महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ समझेंगे या उसका महत्त्व केवल सामयिक और अस्थायी ही है।

लेकिन यह समस्या आसान नहीं है। मैं पहले कह चुका हूँ कि मूल्यांकन बड़ा व्यापक शब्द है, क्योंकि हर रचना में अनेक और अकसर परस्पर-विरोधी मूल्य निहित रहते हैं। मानव-समाज का बाह्य और आन्तरिक संघर्ष उसकी चेतना में मूल्यों के संघर्ष के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इस संघर्ष में ही मूल्यों का निर्माण होता है और चूँकि मानव-समाज में स्वामी भी रहे हैं और दास भी, साम्राज्यवादी भी हैं और ग़ुलाम जातियाँ भी, पूँजीपति भी हैं और मज़दूर भी—यानी समाज अब तक परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों के लोगों में बँटा रहा है, इसलिए मनुष्य के विचार-जगत में भी परस्पर-विरोधी मूल्यों का संघर्ष अनवरत चलता आया है। गोरी जातियों को सभ्य और काली जातियों को असभ्य समझने वाले व्यक्ति और मनुष्य-मात्र को बराबर समझने वाले व्यक्ति के विश्व-बोध और मूल्यों में निश्चय ही अन्तर है और यदि दोनों ही लेखक बन जायें और जीवन-वास्तव को अपने-अपने दृष्टिकोणों से प्रतिबिम्बित करने लगें तो निश्चय ही उनकी रचनाओं में मूल्यों के संघर्ष का रूप भी भिन्न होगा। एक वास्तविकता के चित्र को अपनी ईमानदारी के बावजूद विकृत बनायेगा, दूसरा उसे सही रूप में अंकित करेगा। काली जातियों को असभ्य समझने वाले लेखक का विश्व-बोध संकीर्ण और परिस्थिति-जन्य है—मनुष्य की ऐतिहासिक प्रगति से परिचित होने के कारण आलोचक के लिए यह दिखाना सम्भव होना चाहिए। 'नये कवि' और 'नये आलोचक' इस बात को शायद नहीं मानते। जो शुद्ध कलावादी हैं, वे भी आलोचक को मूल्यों के आधार पर निर्णेता नहीं स्वीकार करना चाहते। लेकिन व्यक्ति लेखक को जो मन में आये लिखने की स्वतंत्रता देने का समर्थन करके भी मैं इस हक़ीक़त से आँखें कैसे छुपा सकता हूँ कि आप जो लिखते हैं वह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के साथ-साथ एक सामाजिक दस्तावेज़ भी है, जिसे आज के पाठक ही नहीं, बल्कि भावी पीढ़ियों के पाठक भी आपकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में ही ग्रहण करेंगे, क्योंकि

उसमें जीवन और जगत के सम्बन्ध में आपके विचार व्यक्त हुए हैं, मानव-संबंधों और मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है और आपने इन अभिव्यक्तियों द्वारा मनुष्य के विश्व-बोध और उसकी भाव-चेतना को उदात्त और मानवीय बनाया है या संकीर्ण या कुंठित किया है ! इसी प्रकार किसी रचना को पढ़कर तत्काल आनन्द पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। मज़ाक का उद्देश्य हँसाना होता है, लेकिन एक मज़ाक ऐसा होता है जिसे सुनकर हम हँसते तो हैं, किन्तु जो हमारी रुचि को अश्लील और भद्दा बनाता है, और एक मज़ाक ऐसा होता है जो हँसाने के साथ-साथ रुचि का परिष्कार करके सूक्ष्म बनाता है। इसलिए हँसाने की क्षमता ही मज़ाक के अच्छे-बुरे होने की कसौटी नहीं है। जो समझदार हैं, वे दोनों के भेद को तुरंत भाँप लेते हैं। इसी तरह साहित्यिक कृति रोचक हो, अपने साथ पाठक को बहा ले जा सके, यह सब तो अनिवार्यत: हम सभी चाहते हैं, लेकिन इतने से ही वह अच्छी नहीं बन जाती। साहित्य के इतिहास में स्थायी महत्व पाने की शक्ति भी उसमें होनी चाहिए, तभी उसे श्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है। किसी रचना में यह शक्ति कहाँ से आती है ? यह शक्ति तभी आती है जब लेखक किसी महत्त्वपूर्ण विचार-वस्तु या अनुभव को कलात्मक ढंग से प्रेषित करने में सफल हो जाता है, ऐसी कृति मनुष्य के विश्व-बोध और उसकी भाव-चेतना में अभिवृद्धि करने में समर्थ होती है, अर्थात साहित्य की धारा में उसका विशिष्ट योगदान होता है और उसमें अपने युग की सबसे अधिक जागरूक प्रवृत्तियों, केन्द्रीय समस्याओं और सर्वोच्च मानव-मूल्यों की चेतनाविकासी अभिव्यक्ति मिलती है। आलोचक मानव-इतिहास की प्रगति-दिशा की गहरी चेतना से साहित्य की कृतियों और प्रवृत्तियों तथा उनमें व्यक्त विचारों और भावनाओं का मूल्य आँकता है और विवेचन से यह देखने की चेष्टा करता है कि उनमें जीवन-वास्तव कितनी कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित हुआ है। सत्य को अभिव्यक्ति देने के संघर्ष में आलोचक लेखक का सहयोगी है, क्योंकि मूल्यांकन द्वारा वह लेखक की कृति के सम्पूर्ण अर्थ को हर प्रबुद्ध पाठक की उपलब्धि बनाने में योग देता है।

इस प्रकार आलोचक का दायित्व बड़ा और रचनात्मक है। इस दायित्व का पालन यदि वह ईमानदारी से करे तो श्रेष्ठ-साहित्य के निर्माण को सही दिशा और स्फूर्ति मिलती है, यदि ईमानदारी से न करे तो साहित्य की रचनात्मक शक्तियाँ पथ-भ्रष्ट हो सकती हैं। लेखक का कर्त्तव्य है कि वे आलोचक को अपने दायित्व का पालन करने का अवसर दें, और आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह विपरीत परिस्थितियों के प्रभावों से अविचलित रहकर साहित्य का सही मूल्यांकन करे। एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में हमारा देश अपनी ऐतिहासिक महानता और गौरव के अनुरूप ही युद्ध और उपनिवेशवाद से आतंकित विश्व-राजनीति में शान्ति और स्वतंत्रता के सर्वोच्च मानववादी मूल्यों की स्वीकृति

के लिए संघर्ष कर रहा है। एक स्वतंत्र राष्ट्र के ज़िम्मेदार लेखक होने के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि 'मूल्यों के विघटन' के इस संक्रान्ति-युग में हम साहित्य में भी मनुष्य के सर्वोच्च जीवनमूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सचेत संघर्ष करें। आलोचक का दायित्व है कि वह अपने गम्भीर विवेचन से साहित्य की इन प्रवृत्तियों और साहित्यकारों की इन चेष्टाओं को निरंतर बल प्रदान करे, क्योंकि स्थायी मूल्य की रचनाओं से ही किसी साहित्य या साहित्यकार की महानता और परिपक्वता कूती जाती है। हम आलोचक यही चाहते हैं कि हमारा साहित्य विश्व की अन्य बड़ी भाषाओं के साहित्यों में अग्रणी बने। इसी-लिए मूल्यांकन के मानदंडों को ऊँचा रखने का दायित्व आज हम पर है।

—**'साहित्य की समस्याएँ'** से साभार

आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि

गजानन माधव मुक्तिबोध

साहित्य में दार्शनिक तत्त्व दो प्रकार से पाये जाते हैं। एक वे, जो लेखक की विश्व-दृष्टि का अंग बनकर भाव-दृष्टि का रूप धारण करते हुए, लेखक के आभ्यन्तर मनस्तत्त्वों का अपने अनुसार संघटन-विघटन करते हुए, उन्हें (उन अन्तर्तत्त्वों को) नयी व्यवस्था प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य में प्रकट भाव-दृष्टि उस ज्ञान-धारा या विचार-धारा से अनुप्राणित और अनुशासित होती है, कि जिस धारा को हम उस लेखक की विश्व-दृष्टि कह सकते हैं। हाँ, ऐसे भी लेखक होते हैं जो केवल वातावरण से प्रभाव या संस्कार ग्रहण करते हैं। फलत: उनकी भाव-दृष्टि, उस विश्व-दृष्टि या ज्ञान-धारा से किंचित स्वाधीन होते हुए भी, अन्ततः उसी विश्व-दृष्टि का अंग बन जाती है। संक्षेप में, लेखक की विश्व-दृष्टि (भले ही वह संगठित विचारात्मक व्यवस्था के रूप में स्पष्ट, मूर्त्त और सुलक्षित न हो) और उसकी भाव-दृष्टि, दोनों मूलबद्ध एकता में जहाँ पायी जायें, वहाँ हम यह कह सकते हैं [कि] लेखक के पास अपनी एक दार्शनिक धारा है।

साहित्य में दार्शनिक तत्त्व प्रकट होने का एक अन्य रूप भी है। वह यह कि एक ओर, भाव-दृष्टि और विश्व-दृष्टि, इन दोनों के बीच या तो खूब फ़ासला होता है, या विश्व-दृष्टि का एकदम अभाव होता है। चूँकि लेखक एक जीवन्त; चेतना-सम्पन्न प्राणी है, संवेदनशील आत्मा है, इसलिए जीवन-जगत् के प्रति की गयी उसकी संवेदनात्मक और ज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओं में, बहुधा, किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-मूल्य या तो परम्परा-प्राप्त होने से, अथवा नवीन परिस्थितिगत उपलब्धि के रूप में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, स्पष्टार्थों अथवा गर्भितार्थों में; प्रकट होते हैं। साथ ही, कभी-कभी वह अपने काव्य में जीवन-आलोचना भी करता है। इस प्रकार के साहित्य में प्राप्त भावनाओं में प्रकट होनेवाले जीवन-मूल्यों और दृष्टियों का खींच-खाँचकर अर्थ ग्रहण करने से, उन सबको मिलाकर सम्भवतः कोई दार्शनिक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

हिन्दी साहित्य में सुनिश्चित दार्शनिक आधार पर खड़े हुए भाव-गम्भीर

साहित्य की कभी कमी नहीं रही। भक्तिकाल में वह आधार-भूमि सुस्पष्ट थी। आधुनिक युग के छायावादी काल में वह काफ़ी पीछे ढकेल दी गयी। छायावादी भावना में आस्था की जगह व्यक्ति मन ही प्रधान रहा। अत्याधुनिक नयी कविता में सर्वमान्य दार्शनिक भूमि लगभग विलुप्त है। इसके पूर्व एक सुस्पष्ट और सांगोपांग विचारणा थी प्रगतिवादियों के पास।

प्रगतिवादियों ने साहित्य की आध्यात्मिक व्याख्या का विरोध किया। बड़ा ही कठोर युद्ध रहा। उस काल के अनन्तर, आध्यात्मिक व्याख्या का प्रभाव दुर्बल होता गया। आज वह विचार-सरणि केवल विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जाती है। नयी कविता के द्वितीय उत्थान-काल में, नयी कविता के कुछ क्षेत्रों से प्रगतिवादी विचार-धारा पर ज़ोरदार हमला किया गया। निःसन्देह, प्रगतिवादी विचारणा के भारतीय व्याख्याता पर्याप्त अपरिपक्व थे, और उनमें खूब मतभेद भी था। अन्त-र्बाह्य कारणों से प्रगतिवाद का प्रभाव, वैसे ही, क्षीण हो रहा था। नयी कविता के कुछ क्षेत्रों द्वारा किये गये हमले के बाद, उसका प्रभाव अत्यन्त अल्प हो गया। लेकिन इस पूरे इतिहास का परिणाम क्या हुआ ?

नयी कविता को उत्तराधिकार के रूप मे न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई, न भौतिकवादी। विश्व-दृष्टि को—चाहे वह जो भी हो—विकसित करने का प्रयत्न भी नहीं हुआ। कुछ कलाकारों ने आपस में बैठकर भले ही अपने विश्वास एकत्रित कर लिये हों, किन्तु वे विश्वास उनके साहित्य की पार्श्वभूमि नहीं बन पाते। दूसरे शब्दों में, उनके पास ऐसी कोई केन्द्रीय दृष्टि नहीं है जो उनकी भाव-दृष्टि का अनुशासन कर सके।

क्या यह वांछनीय है ? इस प्रश्न का उत्तर अलग ढंग से दिया जायेगा। मेरे अपने मतानुसार, यह अच्छा नहीं हुआ। यह अच्छा नहीं है, हानिप्रद है, देश के लिए भी, साहित्य के लिए भी, स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी।

आज बहुत-से कवियों के अन्तःकरण में जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है, उसका एक कारण (अन्य कई कारण हैं) उनमें एक ऐसी विश्व-दृष्टि का अभाव है, कि जो विश्व-दृष्टि उन्हें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति प्रदान कर सके, उन्हें मनोबल दे सके, और उनकी पीड़ाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके। ऐसी विश्व-दृष्टि अपेक्षित है, जो भाव-दृष्टि का, भावना का, भावात्मक जीवन का अनुशासन कर सके।

मेरे उक्त निवेदन के उत्तर में यह कहा जायेगा कि विश्व-दृष्टि का विकास बुद्धि का कार्य है। तो इसलिए क्या आप कवियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे अपना एक स्वतंत्र दर्शन तैयार करें ? यह तो दार्शनिकों का काम है, हमारा नहीं। इस प्रकार का उत्तर दिया जायेगा। किन्तु यह एक मानी हुई बात है कि प्रत्येक युग में जीवन के कुछ ऐसे बुनियादी तथ्य होते हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यही नहीं, वे मूलभूत जीवन-तथ्य न केवल हमारी निजी ज़िन्दगी पर गहरा असर डालते हैं, वरन् देश के वर्तमान और भविष्य का भी निर्माण करते हैं। [पर] उन बुनियादी जीवन-तथ्यों के जो तर्कसंगत निष्कर्ष और परिणाम निकलते हैं, हम उनकी तरफ़ भी नहीं जाते। यह नहीं कहा जा सकता कि वे हमारे जीवन-अनुभव के बाहर हैं, अथवा उनके संवेदनात्मक आघात हम पर नहीं हुए हैं, नहीं हो रहे हैं या नहीं होंगे। सच तो यह है कि वे मूलभूत जीवन-तथ्य इतने विस्तृत होते हैं कि उनके चंगुल से, प्रभाव से, उनके संवेदनात्मक अनुभव से, बचा नहीं जा सकता। फिर भी हमारे पास शिक्षा तथा संस्कृति द्वारा प्राप्त जो संचित ज्ञान है, उसके प्रकाश में भी हम उन जीवन-तथ्यों का विश्लेषण नहीं करते। आज की बहुत-सी कविताओं में दुख, वैकल्य व पीड़ा तथा विरक्ति का स्वर है। उसके मूल में उसको घटित करनेवाले जो कारक तथ्य हैं, उनका विश्लेषण करके उनके तर्कसंगत निष्कर्षों तथा परिणामों के आधार पर हम अपनी ज्ञान-व्यवस्था, तथा उस ज्ञान-व्यवस्था के आधार पर अपनी भाव-व्यवस्था, विकसित नहीं करते। संक्षेप में, हम व्यक्तित्व के विकास की बात तो करते हैं, किन्तु व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते।

व्यक्ति-स्वतंत्रता की बात तो करते हैं, लेकिन वह स्वातंत्र्य जिस मानवीय लक्ष्य-आदर्श के लिए होता है, या होना चाहिए, वह अपनी शून्य रिक्तता के धुएँ में खो जाता है। आज के जीवन के जो बुनियादी तथ्य हैं, उनके वास्तविक तर्क-संगत निष्कर्षों और परिणामों की ओर जाने में हमें डर मालूम होता है। कहीं हमें कोई राजनैतिक न कह दे, कहीं कोई हमारी कविता को गद्यात्मक न कह दे। संक्षेप में, कवियों में कहीं सौन्दर्यवाद के नाम पर, तो कहीं अन्य किसी नाम पर, यह भय समाया रहता है कि अगर हम जीवन के बुनियादी तथ्य को ही गद्यात्मक संवेदना में प्रस्तुत करें, तो लोग हमारी कृति को कलाहीन कह देंगे, अथवा लोग हमें कम्यूनिस्ट कह देंगे, अथवा वामपक्षी कह देंगे, आध्यात्मिक कह देंगे। तरह-तरह के इन आत्म-निषेधों के फलस्वरूप अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था को हम विकसित नहीं कर पाते—ऐसी ज्ञान-व्यवस्था को, जो स्वानुभूत जीवन-तथ्यों की मूल पीठिका पर खड़ी हुई हो।

इस साहसहीनता का मूल कारण है वह चरित्रहीनता, जिसे हम अवसरवाद कहते हैं। यह अवसरवाद अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र रूप धारण कर अन्तःकरण में पैदा हुआ है। वह हमें सच-सच और साफ़-साफ़ नहीं कहने देता। 'साफ़-साफ़' का अर्थ कलाहीन होना या गद्यात्मक होना नहीं है।

इससे एक दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष भी निकलता है। वह यह कि बाह्य कारकों से जो संवेदनात्मक प्रतिक्रिया, अनुभव रूप में, हमारे मन में होती भी है, वह हमारे व्यक्तित्व के उस गहरे स्तर का अंग नहीं हो पाती, कि जिस गहरे स्तर

में संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, आदि से संशोधित हमारी आत्म-सम्पदा हमारी अनुभव-सम्पदा है। जीवनानुभवों को हम आत्मसात करते नहीं जान पड़ते। इसलिए हम विकास नहीं कर पाते। ज़िन्दगी की मंज़िलें पार करते हुए, सामान्य अनुभवों को आत्मसात करते हुए, हम अपने-आपको परिणत, संशोधित और विकसित कर नहीं पाते। हमारा अन्तर्मन उन जीवनानुभवों का समन्वय करके, उनके आधार पर अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाता। ऐसी ज्ञान-व्यवस्था, जो जीवनानुभवों और तर्कसंगत निष्कर्षों और परिणामों के आधार पर होती है, निःसन्देह संवेदनात्मक हो जाया करती है। वह सिर्फ़ किताबी नहीं होती। यह संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था ही समन्वयकारिणी शक्ति हुआ करती है। किन्तु उसके अभाव में जो भी संवेदनात्मक अनुभव हमें होते हैं, वे उस शिशु के अनुभवों के समान हैं, कि जो शिशु उन अनुभवों को अभी अपनी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में ग्रथित और गुम्फित नहीं कर पाता। वह बाहरी कारक शक्तियों की प्रेरणा से तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो करता है, किन्तु उनके अनुभव उसके भीतर के निज से पूर्णतः समन्वित नहीं हो पाते।

यही कारण है कि कविता में संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो दिखायी देती है, किन्तु वह प्रतिक्रिया किसी अन्तर्निहित अनुभवप्रसूत ज्ञान-व्यवस्था का अंग प्रतीत नहीं होती। वह प्रतिक्रिया जो कविता में चित्रित हुई है, किसी अन्तर्निहित सागर की लहर नहीं है, वरन् वाह्य से प्राप्त संवेदनात्मक आघात की ऐसी लघु विम्ब-माला है, जिसने अन्तर्मन के केवल छिछले तल को छुआ है, जिसने अपने आघात से भीतर के सारे व्यक्तित्व को नहीं जगाया है, जिसने अन्तःसन्निहित भाव-सम्पदा में भूचाल पैदा नहीं किया है।

इस प्रकार के कवि का आत्म-प्रकटीकरण केवल आंशिक और विकृत होता है। केवल क्षण के द्रवीभवन में सारे व्यक्तित्व का योग न होने से, उस क्षण का चित्र उस व्यक्तित्व का वास्तविक चित्र नहीं हो सकता। व्यक्तित्व अथवा आत्म-सत्ता जिस संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था का नाम है, उसकी आत्मसात्कारिणी-समन्वयकारिणी शक्ति के प्रति गहरे उपेक्षा-भाव के कारण, कवि क्षण की संवेदना को चित्रित भले ही कर ले, वह संवेदना उसके अन्तर्जीवन की अनु[illegible] [illegible]न-व्यवस्था का अंग नहीं वन पाती। फलतः (1) एक ओर, वास्[illegible] और निज का व्यक्तित्व तथा, दूसरी ओर, वाह्य से पुनः-पुनः [illegible] इन दो के बीच फ़ासला वढ़ता जाता है; एक डबल [illegible] होता जाता है। (2) कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व [illegible] के सबब से, वह साहित्यिक चिन्तन-धारा [illegible] जिसे [illegible] और वास्तविक जीवनानुभव की समानान्त[illegible] [illegible] (3) ऐसा काव्य-साहित्य निर्मित होता है [illegible] कुछ

फन, मात्र कुछ मनोदशाओं का धूम, सिर्फ कुछ ख़यालों का गुब्बार, प्रकट किया जाता है, किन्तु उन मन:स्थितियों, मनोदशाओं और ख़यालों को जगानेवाली मूल कारक शक्तियों की, मूल जीवन-तथ्यों की, उपेक्षा की जाती है। उन मूल जीवन-तथ्यों के स्वरूप में कोई महत्त्वपूर्ण आक़र्षण नहीं देखा जाता, कि जिस आकर्षण के कारण वे काव्य-विषय बन सकें। उन मूल जीवन-तथ्यों का भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री, हमारी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के अंग बन जायें तो क्या बात है! लेकिन, सच बात तो [यह] है कि उनके उस भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री को आत्मसात करने का काम संवेदनशील कवि का नहीं है, यह माना जाता है। उन मूल जीवन-तथ्यों द्वारा पैदा होनेवाली मन:स्थितियों और मनोदशाओं के भीतर जो फेन और धूम या धुन्ध उत्पन्न होती है, उनमें डूबकर, उनके पर्दे में से, हम उन मन:स्थितियों और मनोदशाओं को देखेंगे तथा उनके संकेतों की खिड़की में से, सम्भव हुआ तो, हम मूल कारक शक्तिवाले उन जीवन-तथ्यों की सूचना प्राप्त करेंगे। किन्तु स्वतंत्र रूप से हम उन मूल जीवन-तथ्यों का भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री, नहीं पायेंगे, उन्हें अपनी निहित संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था का अंग नहीं बनायेंगे। आधुनिक विज्ञान-युग में कवियों द्वारा जीवन-ज्ञान का बॉयकॉट सचमुच दर्शनीय और शोचनीय है। वह उनके आत्मिक ह्रास और ह्रास की विद्रूपता का सूचक है।

यही कारण है कि कविता में आज जो नित्य समस्या अंकित होती है, वह वास्तविक संदर्भों से हीन होने से मानव-समस्या का रूप धारण नहीं कर पाती। यह आध्यात्मिक ह्रास के फलस्वरूप उत्पन्न उस अन्धदृष्टि के कारण है, कि जो दृष्टि जीवन-जगत के बदलते हुए कैनवास पर, उसकी पार्श्वभूमि में, निज-समस्या को नहीं रख पाती, उस निज-समस्या को व्यापक महत्त्व और व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान नहीं कर पाती कि जिससे वह, वस्तुत:, एक जीवन्त मानव-समस्या के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत हो, कि पाठकों की दृष्टि, उस निज-समस्या को मानव-समस्या के रूप में देखे, और उस मानव-समस्या की खिड़की में से जीवन-जगत का पर्यवलोकन करे। पाठकों की दृष्टि केवल शैली में, बिम्बमाला में, या ऐसी ही किन्हीं बातों में अटककर रह जाती है। अभी इस आत्मिक ह्रास का एक नमूना यह भी है कि सरल गद्यात्मक शैली में लिखी हुई ऐसी नयी कविताएँ वहुत थोड़ी हैं कि जिनमें चित्रित अनुभव, वस्तुत:, पाठकों में संवेदनाघात करते हों। वहुत-से कवियों ने अपनी-अपनी क़विताओं के ऐसे पैटर्न और ऐसी शब्दावली विकसित की है कि जो पाठकों को तो क्या, अन्य सहचर कवियों की भी समझ में नहीं आती। संक्षेप में, निज-समस्या को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखकर रखने के बजाय, उसे ऐसे ढंग से घनीभूत किया जाता है कि मानो वह आज के युग के सामान्य मानव-अनुभव के परे की कोई चीज़ हो। निज-समस्या को व्यापक मानव-समस्या के रूप में न रख

पाने की इस महान असफलता के आधार पर, काव्य के क्षेत्र में जो भी नित्य-नवीन के प्रयोग किये जायेंगे, वे मूलभूत जीवन-तथ्यों के संवेदनात्मक ज्ञान की पूर्वपीठिका की अनवरत उपेक्षा के फलस्वरूप, महत्त्वहीनता ही रहेंगे।

आज के युग के मूलभूत जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत तथा अनुभवसिद्ध निष्कर्षों और परिणामों की ओर न जा सकने के कारण, आज का कवि वर्तमान मानव-समस्याओं के प्रति भी उदासीन है। सम्भव है कि इस बात में अतिरंजना हो। यह मैं जानता हूँ कि बहुत-से कवि, निर्मित कठघरों और घेरों को तोड़ना भी चाहते हैं। किन्तु, एक ओर, उनकी अभिव्यक्ति के ढांचे ऐसे हैं जो नवीन अनुभव-ज्ञानात्मक तत्त्वों को पूर्णतः और पूरे सौन्दर्य के साथ प्रकट नहीं होने देते, तो दूसरी ओर, उन कठघरों और घेरों को तोड़ने की प्रेरणा भी इतनी दुर्बल और अस्थायी है कि वे कठघरे उस प्रेरणा के हलके स्पर्शों से टूट भी नहीं सकते। सच बात तो यह है कि निज-समस्या को वही व्यक्ति मानव-समस्या का रूप दे सकेगा, कि जिस व्यक्ति को वर्तमान युग में प्राप्त मानव-समस्याओं से दुख होता है, करुणा उत्पन्न होती है, क्षोभ उत्पन्न होता है, क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु इतनी और ऐसी जीवन-शक्ति शायद आज के कवियों के पास नहीं है। क्यों नहीं है? कारण यह है [कि] आज शिक्षित मध्यवर्ग में जो भयानक अवसरवाद छाया हुआ है, आत्म-स्वातंत्र्य के नाम पर जो स्व-हित, स्वार्थ, स्व-कल्याण की जो भाग-दौड़ मची हुई है, 'मारो-खाओ, हाथ मत आओ' का जो सिद्धान्त सक्रिय हो उठा है, उसके कारण कवियों का ध्यान केवल निज मन पर ही केन्द्रित हो जाता है। आज की कविता, वस्तुतः, पर्सनल सिच्युएशन की, स्व-स्थिति की, स्व-दशा की, कविता है। किन्तु, अब ज़िन्दगी का यह तक़ाज़ा है कि वह अपनी इस निज-समस्या को वर्तमान युग की मानव-समस्याओं के रूप में देखे और उन्हें वैसा चित्रित करे।

किन्तु यह तभी तक सम्भव है जब तक कवि आधुनिक युग के मूल जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत निष्कर्षों और अनुभवसिद्ध परिणामों को आत्मसात करते हुए, अपने अन्तर्मन के भीतर समायी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दे, और उनके आधार पर, बदलते हुए युग-जीवन के सन्दर्भ से, वास्तविक जीवन-मूल्यों का विकास करे, और जीवन-मूल्यों और आदर्शों की अग्नि में स्वयं को गलाते हुए वह, वस्तुतः, आचरण करे, आचरण के मार्ग पर चले, चलता रहे। वास्तविक जीवन-साधना के बिना कलात्मक साधना असम्भव है। यद्यपि कलात्मक साधना की, आपेक्षिक रूप से, अपनी स्वतंत्र क्रिया और गति हुआ करती है, किन्तु उसकी मूल प्रेरणा, उसके तत्त्व, उस आत्म-सम्पदा का अंग होते हैं, कि जो सम्पदा अपने वास्तविक जीवन में संवेदनात्मक रूप से अर्जित की जाती है, और एक जीवन-संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में परिणत की जाती है। आज के कवि को, सम्भवतः, व्यापक जीवन से डर लगता है, वह उसमें फँसना नहीं चाहता, वह मूलः

जीवन-तथ्यों के भूगोल-इतिहास, अलजेब्रा-ज्यॉमेट्री को आत्मसात नहीं करना चाहता। वह उस व्यापक जीवन की मार्मिक प्रक्रियाओं और क्रियाओं में हिस्सा नहीं लेना चाहता। वह उन सबसे अलग रहना चाहता है। उसे इस फैली हुई, बदलती हुई, चलती और मुड़ती हुई, ज़िन्दगी से डर लगता है। लेकिन ज़िन्दगी भी उससे बदला लेती है, उसने ज़िन्दगी की उपेक्षा की, इसलिए ज़िन्दगी उसकी उपेक्षा करेगी। आज के कवि का वैफल्य इस कारण ही है। ज़िन्दगी का शासक बनना होगा, न कि एक घिसटता हुआ कुत्ता जो गाड़ी से बँधा लेटा हुआ घिसट रहा हो। ज़िन्दगी ने उसकी जो उपेक्षा की है, उसके कारण ही उसकी यह दुर्दशा है। किन्तु ज़िन्दगी ने उससे यह बदला इसलिए लिया कि उसने स्वयं ज़िन्दगी की उपेक्षा की थी। अतएव वास्तविक जीवन में अपनी कायरता, साहस-हीनता, अकर्मण्यता त्यागकर समाज में फैले अवसरवाद से मोर्चा लेते हुए, मानवीय समस्याओं से दुखाभिभूत और करुणापन्न होकर, उसे वास्तविक मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों के मार्ग पर चलना ही होगा। हो सकता है कि इस स्थिति में वह मर जाये और उसके नाम से रोने वाला भी कोई न हो। लेकिन कुछ लोगों को इस तरह ज़मीन में गड़ना होगा ही। इस तैयारी के साथ, इस दम के साथ, [कि] यदि हमारा नया कवि मूल्य-व्यवस्था विकसित करते हुए मानव-समस्या चित्रित करता है, तो निःसन्देह वह युग-परिवर्तन करने का श्रेय-भागी होगा, भले ही उसे श्रेय मिल या न मिले।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त, भारत में अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग में भी उसकी ज़ोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में, नयी कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर ज़ोरदार हमले किये गये, और कुछ सिद्धान्तों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धान्त और उनके हमले, वस्तुतः, उस शीत-युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिंगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व मानववादी परम्परा से साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण न करके, उन नये व्याख्याताओं ने उसकी अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यिक विचार-धारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आस-पास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धान्तों में शीत-युद्ध की छाप है।

ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के ज़माने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है। नयी कविता को तथाकथित सौन्दर्यवाद की भूमिका देते हुए, 'सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभवों की समानान्तर गति' वाला एक कला-सिद्धान्त लाया गया। कला की ऑटोनॉमी को, कला की स्वायत्त प्रकृति को, इतना निर्विकल्पक-

पाने की इस महान असफलता के आधार पर, काव्य के क्षेत्र में जो भी नित्य-नवीन के प्रयोग किये जायेंगे, वे मूलभूत जीवन-तथ्यों के संवेदनात्मक ज्ञान की पूर्वपीठिका की अनवरत उपेक्षा के फलस्वरूप, महत्त्वहीनता ही रहेंगे।

आज के युग के मूलभूत जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत तथा अनुभवसिद्ध निष्कर्षों और परिणामों की ओर न जा सकने के कारण, आज का कवि वर्तमान मानव-समस्याओं के प्रति भी उदासीन है। सम्भव है कि इस बात में अतिरंजना हो। यह मैं जानता हूँ कि बहुत-से कवि, निर्मित कठघरों और घेरों को तोड़ना भी चाहते हैं। किन्तु, एक ओर, उनकी अभिव्यक्ति के ढाँचे ऐसे हैं जो नवीन अनुभव-ज्ञानात्मक तत्त्वों को पूर्णतः और पूरे सौन्दर्य के साथ प्रकट नहीं होने देते, तो दूसरी ओर, उन कठघरों और घेरों को तोड़ने की प्रेरणा भी इतनी दुर्बल और अस्थायी है कि वे कठघरे उस प्रेरणा के हलके स्पर्शों से टूट भी नहीं सकते। सच बात तो यह है कि निज-समस्या को वही व्यक्ति मानव-समस्या का रूप दे सकेगा, कि जिस व्यक्ति को वर्तमान युग में प्राप्त मानव-समस्याओं से दुख होता है, करुणा उत्पन्न होती है, क्षोभ उत्पन्न होता है, क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु इतनी और ऐसी जीवन-शक्ति शायद आज के कवियों के पास नहीं है। क्यों नहीं है ? कारण यह है [कि] आज शिक्षित मध्यवर्ग में जो भयानक अवसरवाद छाया हुआ है, आत्म-स्वातंत्र्य के नाम पर जो स्व-हित, स्वार्थ, स्व-कल्याण की जो भाग-दौड़ मची हुई है, 'मारो-खाओ, हाथ मत आओ' का जो सिद्धान्त सक्रिय हो उठा है, उसके कारण कवियों का ध्यान केवल निज मन पर ही केन्द्रित हो जाता है। आज की कविता, वस्तुतः, पर्सनल सिच्युएशन की, स्व-स्थिति की, स्व-दशा की, कविता है। किन्तु, अब ज़िन्दगी का यह तक़ाज़ा है कि वह अपनी इस निज-समस्या को वर्तमान युग की मानव-समस्याओं के रूप में देखे और उन्हें वैसा चित्रित करे।

किन्तु यह तभी तक सम्भव है जब तक कवि आधुनिक युग के मूल जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत निष्कर्षों और अनुभवसिद्ध परिणामों को आत्मसात करते हुए, अपने अन्तर्मन के भीतर समायी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दे, और उनके आधार पर, बदलते हुए युग-जीवन के सन्दर्भ से, वास्तविक जीवन-मूल्यों का विकास करे, और जीवन-मूल्यों और आदर्शों की अग्नि में स्वयं को गलाते हुए वह, वस्तुतः, आचरण करे, आचरण के मार्ग पर चले, चलता रहे। वास्तविक जीवन-साधना के बिना कलात्मक साधना असम्भव है। यद्यपि कलात्मक साधना की, आपेक्षिक रूप से, अपनी स्वतंत्र क्रिया और गति हुआ करती है, किन्तु उसकी मूल प्रेरणा, उसके तत्त्व, उस आत्म-सम्पदा का अंग होते हैं, कि जो सम्पदा अपने वास्तविक जीवन में संवेदनात्मक रूप से अर्जित की जाती है, और एक जीवन-संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में परिणत की जाती है। आज के कवि को, सम्भवतः, व्यापक जीवन से डर लगता है, वह उसमें फँसना नहीं चाहता, वह मूल

जीवन-तथ्यों के भूगोल-इतिहास, अलजेब्रा-ज्यॉमेट्री को आत्मसात नहीं करना चाहता। वह उस व्यापक जीवन की मार्मिक प्रक्रियाओं और क्रियाओं में हिस्सा नहीं लेना चाहता। वह उन सबसे अलग रहना चाहता है। उसे इस फैली हुई, बदलती हुई, चलती और मुड़ती हुई, ज़िन्दगी से डर लगता है। लेकिन ज़िन्दगी भी उससे बदला लेती है, उसने ज़िन्दगी की उपेक्षा की, इसलिए ज़िन्दगी उसकी उपेक्षा करेगी। आज के कवि का वैफल्य इस कारण ही है। ज़िन्दगी का शासक बनना होगा, न कि एक घिसटता हुआ कुत्ता जो गाड़ी से बँधा लेटा हुआ घिसट रहा हो। ज़िन्दगी ने उसकी जो उपेक्षा की है, उसके कारण ही उसकी यह दुर्दशा है। किन्तु ज़िन्दगी ने उससे यह बदला इसलिए लिया कि उसने स्वयं ज़िन्दगी की उपेक्षा की थी। अतएव वास्तविक जीवन में अपनी कायरता, साहस-हीनता, अकर्मण्यता त्यागकर समाज में फैले अवसरवाद से मोर्चा लेते हुए, मानवीय समस्याओं से दुखाभिभूत और करुणापन्न होकर, उसे वास्तविक मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों के मार्ग पर चलना ही होगा। हो सकता है कि इस स्थिति में वह मर जाये और उसके नाम से रोने वाला भी कोई न हो। लेकिन कुछ लोगों को इस तरह ज़मीन में गड़ना होगा ही। इस तैयारी के साथ, इस दम के साथ, [कि] यदि हमारा नया कवि मूल्य-व्यवस्था विकसित करते हुए मानव-समस्या चित्रित करता है, तो निःसन्देह वह युग-परिवर्तन करने का श्रेय-भागी होगा, भले ही उसे श्रेय मिल या न मिले।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त, भारत में अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग में भी उसकी ज़ोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में, नयी कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर ज़ोरदार हमले किये गये, और कुछ सिद्धान्तों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धान्त और उनके हमले, वस्तुतः, उस शीत-युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिंगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व मानववादी परम्परा से साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण न करके, उन नये व्याख्याताओं ने उसकी अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यिक विचार-धारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आस-पास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धान्तों में शीत-युद्ध की छाप है।

ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के ज़माने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है। नयी कविता को तथाकथित सौन्दर्यवाद की भूमिका देते हुए, 'सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभवों की समानान्तर गति' वाला एक कला-सिद्धान्त लाया गया। कला की ऑटोनॉमी को, कला की स्वायत्त प्रकृति को, इतना निर्विकल्पक

(एब्सोल्यूट) किया गया कि साक्षात ज
विशेषकर उस जीवन से और उसके ज्ञान
समस्याएँ बनकर वह हालात पैदा कर देते
की, उस समाज को कि जिसमें वह जीवन प
होता हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति से उन नये
डर लगता था कि वे परिवर्तनकारिणी प्रवृत्ति
इसलिए ऐसी प्रवृत्तियों की साहित्यिक अभिव्
शाली और सुन्दर ढंग से बनने की अगली सम्भ
सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें कला की स्वाय
की गयी, और इस प्रकार नयी कविता को जीवन
प्रयत्न किया गया। बढ़ते हुए अवसरवाद और
ठेलमठेलवाले शिक्षित मध्यवर्ग के तरुणों ने उक्त
भी ग्रहण किया। आधुनिक भाव-बोध वाले सिद्धान्त
अनुभवों, उग्र विक्षोभों और मूल उद्वेगों का बॉयक
वाला सिद्धान्त लाकर जनसाधारण की मार्मिक
भव्यताओं से आँखें फेर ली गयीं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का
के उपयोग और दिशा की समस्या से पल्ला झाड़ लिया
नाश की कल्पना को साम्यवादी बहक कहकर मोटे
सरकार के अच्छे कामों की आलोचना करते हुए, पश्चिम
करोड़पतियों के दरबारों में पहुँचने की दृश्यावली प्रस्तुत
यह सम्भव नहीं है कि उनके सिद्धान्तों का पूरा और स
उसके लिए पृथक उद्योग करना होगा। मुद्दे की बात यह
डिफ़ेंस के रूप में खड़े किये गये इन सिद्धान्तों से नयी क
यह प्रभाव सर्वथा और पूर्णतः अनुकूल हुआ है, यह नहीं कहा
हो, यह आवश्यक है कि सौन्दर्यानुभूति तथा जीवनानुभव के स
प्रस्तुत करूँ, क्योंकि उसका सम्बन्ध कलाधर्मिता और कवि-कर्म

मुख्य बात यह है कि 'सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति
दोनों की दो विभिन्न कक्षाओं पर पृथक समानान्तर गति' नहीं हो
भूति (एस्थेटिक एक्सपीरिएंस) जीवनानुभवों के गुणात्मक रीति
का नाम है। सौन्दर्यानुभव, और वास्तविक जीवन-जगत में
अनुभव, इन दो में मूलभूत एकात्मकता है। सौन्दर्यानुभव
जीवनानुभव, इन दो का सार-स्वरूप एक ही है। फिर भी, दोनों में
इन दोनों के भेद और दोनों की एकात्मकता ध्यान में रखने की वस्तु

सौन्दर्यानुभव के तत्त्व जीवन द्वारा, जीवनानुभव द्वारा, प्रद

किन्तु वे विधायक कल्पना के हाथों निराला रूप धारण कर उद्दीप्त हो उठते हैं। संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चालित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन-विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार, जीवनानुभवों के निराले तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुशासन में रहती है।

इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभव तब घटित होता है, जब मनस्पटल पर बिम्बित कल्पना रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निज-बद्धता का परित्याग करता है। वह उस निज-बद्धता से ऊपर उठकर, उसके परे जाकर, उससे सम्पूर्णतः मुक्त होकर, मनस्पटल पर उद्दीप्त उन बिम्बों में खो जाता है, उनमें तन्मय हो जाता है, कि जो बिम्ब संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित कल्पना, तथा उन्हीं उद्देश्यों द्वारा परिचालित और संकलित जीवन-अनुभव-तत्त्व के पूर्ण संयोग से वने हुए हैं। संक्षेप में, तन्मयता और तटस्थता, निज-बद्धता से मुक्ति और मनस्पटल पर अंकित बिम्बों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है। परिणति की इस क्रिया के दौरान में सौन्दर्यानुभव आरम्भ हो जाता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित विधायक कल्पना के मूर्तिमान (जीवनानुभवगर्भ) विधानों में डूबते हुए भी, हमारा मन एक तटस्थ द्रष्टा और, दूसरी ओर, निज-बद्धताहीन भोक्ता, के एकीभूत, परस्पर-सन्निविष्ट रूप में रहता है। इस एकीभूत द्वन्द्व के कारण ही आवेग में बहते हुए भी सचेत कवि-कर्म सम्भव होता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित विधायक कल्पना और उन्ही के द्वारा परिचालित, तथा उनके अपने अनुसार संकलित, जीवनानुभव-तत्त्व—इन दोनों के योग उसे मनस्पटल पर उद्दीप्त बिम्बों में यदि मन तन्मय होकर, अपनी निज-वद्ध स्थिति खो चले, तो वैसी दशा में बिम्ब-रूपों में उपस्थित वे जीवनानुभव, प्रातिनिधिक हो उठते हैं। अर्थात, निज-बद्धता के परिहार के अनन्तर, बिम्ब-रूप में उपस्थित वे जीवनानुभव, व्यक्तिगत जीवन-विशिष्ट-अनुभव-घटना के रूप का त्याग कर, तत्समान सारी अनुभव-घटनाओं का सामान्यीकृत रूप वनकर, उपस्थित होते हैं। फलतः, रूप,रंग और दीप्ति की अपनी सुविशिष्टता रखते हुए भी, वे बिम्ब सामान्यीकृत रूप में, अर्थात प्रातिनिधिक रूप में, उपस्थित होकर अत्यन्त व्यापक अर्थ रखने लगते हैं। संक्षेप में, विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्वों की इस एकीभूत स्थिति के बिना सौन्दर्यानुभव असम्भव हैं। इसलिए, कवि मनस्पटल पर उपस्थित विशिष्ट का विशिष्ट चित्रण करते हुए, व्यापक सामान्य अर्थ उपस्थित करता है, और वह उस सामान्य में अपने जीवन का विशिष्ट देखता है। इसीलिए सौन्दर्यानु-

(एब्सोल्यूट) किया गया कि साक्षात जीवन से उसके सम्बन्ध-सूत्र टूटने लगे—विशेषकर उस जीवन से और उसके ज्ञान से, कि जिसमें उपस्थित समस्याएँ मानव-समस्याएँ बनकर वह हालात पैदा कर देती हैं कि मनुष्य उस जीवन को बदल डालने की, उस समाज को कि जिसमें वह जीवन पाया जाता है बदल डालने की ओर प्रवृत्त होता हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति से उन नये व्याख्याताओं को डर लगता था। उन्हें डर लगता था कि वे परिवर्तनकारिणी प्रवृत्तियाँ कहीं नयी कविता में उभरने न लगें, इसलिए ऐसी प्रवृत्तियों की साहित्यिक अभिव्यक्तियों के और भी अधिक प्रभावशाली और सुन्दर ढंग से बनने की अगली सम्भावनाओं के विरोध में, उन्होंने वह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें कला की स्वायत्तता की निर्विकल्पता की स्थापना की गयी, और इस प्रकार नयी कविता को जीवन के मूल तथ्यों से अलग करने का प्रयत्न किया गया। बढ़ते हुए अवसरवाद और भ्रष्टाचार, छीन-झपट, भाग-दौड़; ठेलमठेलवाले शिक्षित मध्यवर्ग के तरुणों ने उक्त साहित्यिक सिद्धान्त से प्रभाव भी ग्रहण किया। आधुनिक भाव-बोध वाले सिद्धान्त में, जनसाधारण के उत्पीड़न-अनुभवों, उग्र विक्षोभों और मूल उद्वेगों का बॉयकॉट किया गया। 'लघु मानव' वाला सिद्धान्त लाकर जनसाधारण की मार्मिक आध्यात्मिक शक्तियों और भव्यताओं से आँखें फेर ली गयीं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का झगड़ा ऊँचा कर स्वातंत्र्य के उपयोग और दिशा की समस्या से पल्ला झाड़ लिया गया। पूँजीवादी समाज के नाश की कल्पना को साम्यवादी बहक कहकर मोटे सेठों से नाता जोड़ा गया। सरकार के अच्छे कामों की आलोचना करते हुए, पश्चिमी पूँजी से जुड़े भारतीय करोड़पतियों के दरबारों में पहुँचने की दृश्यावली प्रस्तुत की गयी। इस निबन्ध में यह सम्भव नहीं है कि उनके सिद्धान्तों का पूरा और समग्र खंडन किया जाये। उसके लिए पृथक उद्योग करना होगा। मुद्दे की बात यह है कि नयी कविता के डिफ़ेंस के रूप में खड़े किये गये इन सिद्धान्तों से नयी कविता पर प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सर्वथा और पूर्णतः अनुकूल हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, यह आवश्यक है कि सौन्दर्यानुभूति तथा जीवनानुभव के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य प्रस्तुत करूँ, क्योंकि उसका सम्बन्ध कलाधर्मिता और कवि-कर्म दोनों से है।

मुख्य बात यह है कि 'सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति और जीवनानुभव दोनों की दो विभिन्न कक्षाओं पर पृथक समानान्तर गति' नहीं होती है। सौन्दर्यानुभूति (एस्थेटिक एक्सपीरिएंस) जीवनानुभवों के गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप का नाम है। सौन्दर्यानुभव, और वास्तविक जीवन-जगत में प्राप्त वास्तविक अनुभव, इन दो में मूलभूत एकात्मकता है। सौन्दर्यानुभव और वास्तविक जीवनानुभव, इन दो का सार-स्वरूप एक ही है। फिर भी, दोनों में महान भेद है। इन दोनों के भेद और दोनों की एकात्मकता ध्यान में रखने की वस्तु है।

सौन्दर्यानुभव के तत्त्व जीवन द्वारा, जीवनानुभव द्वारा, प्रदत्त होते हैं।

किन्तु वे विधायक कल्पना के हाथों निराला रूप धारण कर उद्दीप्त हो उठते हैं। संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चालित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन-विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार, जीवनानुभवों के निराले तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुशासन में रहती है।

इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभव तब घटित होता है, जब मनस्पटल पर विम्वित कल्पना रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निज-बद्धता का परित्याग करता है। वह उस निज-बद्धता से ऊपर उठकर, उसके परे जाकर, उससे सम्पूर्णतः मुक्त होकर, मनस्पटल पर उद्दीप्त उन बिम्बों में खो जाता है, उनमें तन्मय हो जाता है, कि जो विम्ब संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित कल्पना, तथा उन्हीं उद्देश्यों द्वारा परिचालित और संकलित जीवन-अनुभव-तत्त्व के पूर्ण संयोग से वने हुए हैं। संक्षेप में, तन्मयता और तटस्थता, निज-बद्धता से मुक्ति और मनस्पटल पर अंकित बिम्बों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है। परिणति की इस क्रिया के दौरान में सौन्दर्यानुभव आरम्भ हो जाता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित विधायक कल्पना के मूर्तिमान (जीवनानुभवगर्भ) विधानों में डूबते हुए भी, हमारा मन एक तटस्थ द्रष्टा और, दूसरी ओर, निज-बद्धताहीन भोक्ता, के एकीभूत, परस्पर-सन्निविष्ट रूप में रहता है। इस एकीभूत द्वन्द्व के कारण ही आवेग में बहते हुए भी सचेत कवि-कर्म सम्भव होता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित विधायक कल्पना और उन्ही के द्वारा परिचालित, तथा उनके अपने अनुसार संकलित, जीवनानुभव-तत्त्व—इन दोनों के योग उसे मनस्पटल पर उद्दीप्त बिम्बों में यदि मन तन्मय होकर, अपनी निज-वद्ध स्थिति खो चले, तो वैसी दशा में बिम्व-रूपों में उपस्थित वे जीवनानुभव, प्रातिनिधिक हो उठते हैं। अर्थात, निज-बद्धता के परिहार के अनन्तर, विम्व-रूप में उपस्थित वे जीवनानुभव, व्यक्तिगत जीवन-विशिष्ट-अनुभव-घटना के रूप का त्याग कर, तत्समान सारी अनुभव-घटनाओं का सामान्यीकृत रूप वनकर, उपस्थित होते हैं। फलतः, रूप, रंग और दीप्ति की अपनी सुविशिष्टता रखते हुए भी, वे विम्व सामान्यीकृत रूप में, अर्थात प्रातिनिधिक रूप में, उपस्थित होकर अत्यन्त व्यापक अर्थ रखने लगते हैं। संक्षेप में, विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्वों की इस एकीभूत स्थिति के बिना सौन्दर्यानुभव असम्भव है। इसलिए, कवि मनस्पटल पर उपस्थित विशिष्ट का विशिष्ट चित्रण करते हुए, व्यापक सामान्य अर्थ उपस्थित करता है, और वह उस सामान्य में अपने जीवन का विशिष्ट देखता है। इसीलिए सौन्दर्यानु-

भव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है। किन्तु वह तभी प्राप्त होता है, जव मनुष्य के पास अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निज-वद्धता से मुक्त होने, के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का, मानवीय गुण और उस गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो। तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनन्द ले सकेगा। सौन्दर्यानुभव का यह स्वरूप है। वह आह्लादकारी दशा है। इन्हीं सब वातों के कारण सौन्दर्यानुभव की अपनी स्वायत्तता है।

किन्तु सौन्दर्यानुभव के अन्तर्गत, संवेदनात्मक उद्देश्य तथा अनुभव-तत्त्व वास्तविक जीवन द्वारा प्रदत्त होते हैं,—उस जीवन द्वारा, जो स्व और पर के, अन्तर और वाह्य के, क्रिया-प्रतिक्रियात्मक गुम्फन, परस्पर विलयन और योग का ही दूसरा नाम है। यह आवश्यक नियम नहीं है कि ये सौन्दर्यानुभव साहित्यिक कर्म के काल के घेरे में सीमित हों। कागज़-कलम हाथ में लेने से सौन्दर्यानुभव आप-ही-आप नहीं होते। मानसिक द्रवण का क्षण कागज़-कलम हाथ में लेने ही से उपस्थित नहीं होता। ये सौन्दर्यानुभव रास्ते चलते भी हो सकते हैं, जीवन की विभिन्न स्थिति-परिस्थितियों में होते रहते हैं। प्रश्न यह है [कि] मनुष्य में एक साथ तटस्थ और तदात्म होने, निज-मुक्त और ऊर्ध्व-वद्ध होने, का माद्दा कितना है, जीवन-तत्त्वों के पैटर्न गुम्फित करनेवाली कल्पना के मूल उत्स अर्थात संवेदनात्मक उद्देश्य में उनका अपना कितना सामर्थ्य है, अपना निज का कितना ज़ोर है, आभ्यन्तर मन कितना वैविध्यपूर्ण अनुभवों से सम्पन्न है। कलात्मक चेतना का विकास वास्तविक जीवन में होता है। सार-स्वरूप में जीवन का प्रगाढ़ अनुभव करने की, कलात्मक चेतना में शक्ति होती है। कलात्मक चेतना की पुष्टि और तुष्टि उस भाव-संवेदना के आवेगों से होती है, कि जो भाव-संवेदनाएँ उसे अपने से से परे, अपने से ऊपर ले जाती हैं, और इस तरह उसे व्यापक जीवन में डुवोकर उदात्त वना देती हैं। यह कलात्मक चेतना मानवीय सामर्थ्य का एक उदाहरण है। सौन्दर्यानुभव पशुओं में नहीं होता। यह कलात्मक चेतना प्रत्येक व्यक्ति में होती है, सौन्दर्यानुभव हर-एक को होते हैं, अपने-अपने अनुसार। समर्थ कलाकार के हृदय में विविध तथा व्यापक सौन्दर्यानुभवों की संचित राशियाँ पहले से ही तैयार होती हैं। कवि-कर्म करते समय वे सौन्दर्यानुभव, फिर से नयी-नयी रूपाकृतियाँ प्राप्त करते हुए, अपने को भावानुवादित करने का प्रयत्न करते हैं। किस कलाकार की कलात्मक चेतना ने जीवन-जगत की मूल मानव-समस्याएँ अनुभूत कर गहन अनुभव-समस्याएँ अर्जित की हैं, तथा मानवता के उद्धार-लक्ष्यों से अपने को एकाकार किया है, उस कलकार का सामर्थ्य भी उतना ही अधिक है। विभिन्न लेखकों में कलात्मक चेतना का स्तर, परिमाण तथा गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। संक्षेप में, कलात्मक चेतना केवल व्रश या क़लम लेकर चित्रित करते समय, लिखते समय

ही नहीं, वरन् ज़िन्दगी में काम करते वक्त, मेहनत करते समय, भी प्राप्त होती रहती है। सम्भव है कि आदमी फ़ौज में सिपाही हो, और उसी वातावरण में रह-कर कलात्मक चेतना का विकास करे। हो सकता है कि आदमी अख़बारनवीस हो, और अख़बारनवीसी के माहौल में रहकर ही कलात्मक चेतना का विकास करे। यह आवश्यक नहीं है कि कलाकारों, चित्रकारों, साहित्यिकों के साथ बैठ-उठकर ही कलात्मक चेतना का विकास हो।

मैंने अपने अन्य निबन्धों में कला के तीन मूल क्षणों का विशदीकरण किया है। यहाँ केवल इतनी ही बात उल्लेखनीय है कि पुष्ट और सुदृढ़ कलात्मक चेतना के विकास की इस पार्श्वभूमि के बिना, सुविकसित कलात्मक चेतना की पार्श्वभूमि के बिना, कलाकृति की रचना सम्भव नहीं है। कलाकृति की रचना के काल के पूर्व वह चेतना विकसित और पुष्ट रहती है। रचना-कार्य के समय कलात्मक चेतना की जो कुछ अर्जित सम्पत्ति है, वह ज़ोर मारती है। रचना-कार्य अभिव्यक्ति का कार्य है। किन्तु अभिव्यक्ति के लिए छटपटानेवाले तत्त्व पहले ही से कलात्मक चेतना के अंग और अंश रहते हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति हो या न हो। सच बात तो यह है कि कलात्मक चेतना वास्तविक अनुभवात्मक जीवनयापन का ही एक भाग है।

कलात्मक चेतना के भीतर समाये संवेदनात्मक उद्देश्य, भोक्तृ-मन के उस स्व-चेतन आवेग से उत्पन्न होते हैं कि जो स्व-चेतन आवेग वांछित और वांछनीय को प्राप्त करने के लिए तड़पता हुआ, अपनी निज-बद्ध स्थिति से ऊपर उठकर, अन्तर तथा बाह्य वास्तव में मानवानुकूल परिवर्तन करना चाहता है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य अन्त:संस्कृति के अंग होते हैं, उस संस्कृति के जो बाह्य के आभ्यन्तरीकृत रूप में अवस्थित है। संवेदनात्मक उद्देश्य मनोमय होते हुए भी जगन्मय हैं, इसीलिए विद्युन्मय हैं।

किन्तु होता यह है कि बहुत-से कलाकार वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन की अंगभूत कलात्मक चेतना को, वस्तुतः, पुष्ट नहीं कर पाते। वे कला की रचना को रचना-काल की स्वप्निलता से उलझाकर, उसी स्वप्निलता को कला-त्मक चेतना कहते हैं। यह ग़लत है। यह बिलकुल सही है कि पुष्ट अभिव्यक्ति ही में कलाकृति की सिद्धता है। किन्तु यह भी बिल्कुल सही है कि कलात्मक चेतना, रचना-काल के दौरान की सीमा में बँधी नहीं है, वह उसके पार और बाहर भी है। इसीलिए जो कलाकार वास्तविक जीवन में अपने मनोभावों का, व्यक्तित्व का, संस्कार करता जायेगा, अनुभवात्मक ज्ञान अर्जित करता जायेगा, निज-बद्ध स्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त कर व्यापक मानव-उद्देश्यों और लक्ष्यों से तन्मय होता जायेगा, वह, एक ओर, अधिकाधिक जीवन-तत्त्व संचित करता रहेगा, तो दूसरी ओर, अपने गूढ़ संवेदनात्मक उद्देश्यों को तीव्रतर, उदात्ततर, अनिवारणीय बनाता

उधर कोई नयी किताव निकली या किसी पत्रिका का कोई विशेष अंक निकला या किसी नयी प्रवृत्ति के दर्शन हुए और उसके महीने-बीस रोज़ के भीतर वह चोज़ या उसकी गूँज या धमक यहाँ भी पहुँच गयी और तथाकथित आवाँगार्द हल्क़ों में चर्चाएँ शुरू हो गयीं ! कोई बुराई नहीं है इसमें और न ऐसी कोई अशुभ बात। यह स्थिति का दवाव है। दुनिया के कोने-कोने में आज यही हो रहा है, क्योंकि विज्ञान ने उसके साधन उपलब्ध कर दिये हैं। अन्य एशियाई देशों की तुलना में हमारे यहाँ उसका कुछ विशेष रूप दिखायी पड़ता है, जो थोड़ा चिंताजनक है। पर वह हमारी विशेष स्थिति का दवाव है, जहाँ देश की धरती भूख उगलती है और देश अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान को गिरवी रखकर विदेशी टुकड़ों पर पलने के लिए मजवूर है। इसी आर्थिक दासता में से, जहाँ अपना सब-कुछ अपनी ही करनी से अपनी आँखों के आगे सूखा जा रहा हो, ध्वस्त हुआ जा रहा हो, मानसिक दासता का जन्म होता है और राष्ट्र का विवेक मूर्च्छित होने लगता है, भले-बुरे का निर्णय करने की शक्ति किसी के अन्दर नहीं रह जाती। जहाँ दुनिया इतनी छोटी हो गयी है, भला-बुरा सभी कुछ आ रहा है और वरावर आता रहेगा, कोई रोकना भी चाहे तो नहीं रोक सकता। ऐसी स्थिति में सारा दायित्व लेनेवाले पर आ जाता है कि वह क्या ले और क्या न ले, और जो भी ले उसको कैसे अपना वनाकर ले। यही मनुष्य का चैतन्य है और नये विचारकों की एक टोली में, जिनसे नये होने के नाते ही और भी नयी दृष्टि की अपेक्षा होती है, इस चैतन्य का अभाव ही असल चिंता का विषय है। कहीं से उधार लिये गये दर्जन-दो दर्जन शब्दों के मनके वार-वार फेरने से कभी किसी को अपने जीवन का सत्य नहीं मिला। वह जव भी मिला है और जिसको भी मिला है और जितना भी मिला है, अपने भीतर पैठने से और अपने देश-काल के भीतर पैठने से ही मिला है। मनुष्य की वहुत वड़ी निधि है उसका विवेक, किसी के हाथ वंधक रखने की चीज़ नहीं, वड़े-से-वड़े आदमी के हाथ भी नहीं। उसी पर तो खरे-खोटे की परख होनी है, जो आपकी अपनी परख है, नितांत अपनी। समझ नहीं पाता कि जहाँ 'अपने भोगे हुए' पर इतना अधिक वल दिया जाता है, वहाँ इस अपने विवेक को क्यों इतना निरर्थक जानकर और नपुंसक करके छोड़ दिया गया है। ऊपर जिन लेखकों-विचारकों के नाम दिये गये हैं, उनको और-और भी लोगों को पढ़िए, ज़रूर पढ़िए, वार-वार पढ़िए, मगर पढ़िए, सिर्फ़ नाम मत रटिए और उन्हें उनके देश-काल के संदर्भ में रखकर पढ़िए और उस पढ़े हुए को अपने देश-काल के संदर्भ में अपने अनुभव की कसौटी पर जाँचिए, तव शायद हम सभी सच्चाई के कुछ और पास पहुँच सकेंगे और इन दस-वीस नामों और शब्दों का पहेली-वुझौवल से कुछ अधिक सार्थक उपयोग हो सकेगा, अँधेरा वढ़ाने के वदले घटाने की दिशा में उन्हें नियोजित किया जा सकेगा।

अभी स्थिति यह है कि यह पूछने पर कि आधुनिक भाववोध क्या है और किस

अर्थ में, कहाँ पहुँचकर, वह पुराने भावबोध से एकदम अलग जा पड़ता है; 'ऐब्सर्ड-बोध' से आप क्या आशय ग्रहण करते हैं; टेरर या संत्रास कहकर आप ठीक-ठीक किस मन:स्थिति या किस प्राणघाती आंतरिक या बाह्य संकट का संकेत करना चाहते हैं; या कि प्रतिबद्धता की आपकी परिभाषा क्या है, अगर उसे परिभाषित किया जा सकता हो, अन्यथा उसकी कैसी रूपरेखा आपके मन में है; या कि आपको अपने 'आउटसाइडर'-पन का पहला बोध कब और कैसे, अपने जीवन के किस संदर्भ में हुआ; या कि अ-कविता और अ-कहानी से आपका क्या प्रयोजन है—अधिकतर नये लेखक, जिनसे मुझे बातें करने का अवसर मिला है और जो अपने लिखने में इन शब्दों का खूब धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं, बगलें झाँकने लगते हैं या फिर तरह-तरह से इन्हीं शब्दों की लड़ियाँ पिरोकर कुछ ऐसी संध्या-भाषा में अपनी बात कहते हैं कि उससे बात सुलझने के बजाय और भी उलझ जाती है। इसी तरह जब हर नया लेखक, नये-से-नया लेखक, 'प्रोफ़ाउंड' बात कहने के चक्कर में इसी संध्या-भाषा का प्रयोग करता है—इसको भूलकर कि बात की गुरुता या गंभीरता उलझाव में नहीं बल्कि स्वयं उस बात में होती है—तब धीरे-धीरे इस 'नये' साहित्य और 'नये' भावबोध के इर्द-गिर्द एक रहस्यमय मायालोक की सृष्टि हो जाती है, जिसके भीतर प्रवेश पाने के लिए 'खुल जा सुमसुम' के जैसा ही एक नया मंत्र ज़रूरी हो जाता है। उसके बग़ैर दरवाज़ा नहीं खुल सकता और कोई उस चौखट के भीतर पैर नहीं रख सकता!

अपना वैशिष्ट्य बनाये रखने की दृष्टि से यह पद्धति काफ़ी अच्छी है, लेकिन अपनी बात लोगों तक पहुँचाने की दृष्टि से अच्छी नहीं। जहाँ तक मैं इस जीवन-दृष्टि को समझ सका हूँ, जीवन के सम्बन्ध में उसका एक मौलिक वक्तव्य है, जो निश्चय ही बड़ा महत्त्वपूर्ण है और उस पर गंभीरता से विचार करने की ज़रूरत है।

सब जानते हैं कि इस जीवन-दृष्टि का गहरा सम्बन्ध 'एक्ज़िस्टेंशल' या 'अस्तित्ववादी' जीवन-दर्शन से है। अस्तित्ववाद का जनक डेनमार्क का द्रष्टा विचारक किर्केगार्द है। किर्केगार्द का समय वही है जो कार्ल मार्क्स का। उसकी पहली पुस्तक और मार्क्स की पहली पुस्तक एक-दो बरस के हेर-फेर से प्रकाशित हुई। यह एक सौ बीस बरस पुरानी बात है। मार्क्स और किर्केगार्द की दृष्टि में मौलिक अंतर है। मार्क्स की दृष्टि समष्टि को लेकर चलती है, किर्केगार्द की दृष्टि व्यक्ति पर है। इसीलिए मार्क्स जहाँ सामाजिक न्याय, वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा के संगठन और जन-क्रांति की बात करता है, किर्केगार्द आधुनिक मशीन-युग के उस यांत्रिक जीवन की विभीषिका की बात करता है, जिसमें व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर मशीन का एक पुर्जा-मात्र हो गया है। मार्क्स मानव-जाति की बात करता है, किर्केगार्द मानव-व्यक्ति की। मार्क्स को व्यक्ति की ओर देखने का अवकाश

नहीं है क्योंकि उसने मान लिया है कि व्यक्ति की हर समस्या का, हर दुख का, हर दुर्बलता का समाधान पूंजी पर आधारित समाज के अन्याय को मिटा देने में है और समाज ही व्यक्ति की अन्तिम नियति है, उससे अलग व्यक्ति की कोई इयत्ता नहीं है। किर्केगार्द के लिए व्यक्ति ही एकमात्र सत्य है, सार्वभौम सत्य, और हर व्यक्ति अपने-आप में एक अलग ब्रह्मांड, नितान्त विशिष्ट अपने मानस-लोक में, जैसा कोई दूसरा व्यक्ति संसार में नहीं। किर्केगार्द के लिए समाज का अस्तित्व पटभूमि से अधिक कुछ भी नहीं, जिसके निकटतर-सूक्ष्मतर परीक्षण के लिए किर्केगार्द को अवकाश भी नहीं है।

मानव-जीवन के दो अलग-अलग स्तरों या आयामों के प्रति निवेदित होते हुए भी मेरे देखने में ये दोनों ही दृष्टियाँ मूलतः मानववादी हैं, क्योंकि दोनों की चिन्ता मनुष्य के सुख-दुख, उसकी ही प्रगति और उत्कर्ष को लेकर है। इस प्रसंग में यहाँ पर इतना ही कि मेरे देखने में इन दोनों ही दृष्टियों के पास अपना-अपना सत्य है (इन अलग-अलग सत्यों को एक में जोड़कर ही एक पूर्णतर सत्य की प्रतिमा खड़ी की जा सकती है और हर व्यक्ति अपने लिए अपने ढंग से खड़ी करता है, स्वतः-सम्पूर्ण एक सत्य कभी किसी को हाथ लग भी सकेगा, कहना कठिन है) और यद्यपि काफ़ी दूर तक दोनों एक-दूसरे की उलटी दिखायी पड़ती है, मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि अन्ततः दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। इस विश्वास का आधार यही है कि दोनों एक दिशा में देख रही हैं और जिस तरह आदमी की दोनों आँखों की दृष्टिरेखा एक विन्दु पर पहुँचकर मिल जाती है, वैसी ही स्थिति इन दोनों दृष्टियों की है, जो एक उसी 'आदमी' पर निबद्ध हैं। अकसर दोनों को, दोनों पक्षों के विचारकों की ओर से, दो समानान्तर रेखाओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, पर मैं उन्हें समानान्तर रेखाएं नहीं मान पाता। वस्तुस्थिति को देखते हुए यह मेरी आत्मछलना भी हो सकती है पर निरी आत्मछलना हो, ऐसा भी मुझको नहीं लगता, क्योंकि प्रकृति के द्वंद्वात्मक विकास के सिद्धान्त से मैंने यह सीखा है, जो बात परीक्षण से सिद्ध है, कि समस्त गति का स्रोत किसी वस्तु या व्यापार के भीतर कार्यशील तत्त्वों के परस्पर घात-प्रतिघात में होता है और फिर इसी संघर्ष में से एक नयी वस्तु का उद्भव होता है। मनुष्य ही अपने इतिहास का निर्माता है और इसी तरह अन्तर्विरोधों के बीच होकर, उनसे जूझते हुए, वह अपने नये समाधानों की ओर बढ़ता रहा है। इस प्रश्न पर ही उसे कभी कोई समाधान नहीं मिलेगा, ऐसा समझने का कोई संगत कारण नहीं है।

जो हो, किर्केगार्द ने मनुष्य के यंत्रीकरण की जो समस्या उठायी है वह अत्यन्त महत्त्व की है। कलकत्ता, बम्बई जैसे महानगरों में आदमी की स्थिति को देखकर कल्पना की जा सकती है कि इस धारा की दिशा क्या है। कितनी भीड़, और उस भीड़ में कितना अकेलापन हर आदमी का! कितना शोर कि आदमी के कान फटे

जाते हैं और वह खुद अपनी आवाज नहीं सुन सकता ! कितनी भागमभाग और कितना स्नायविक तनाव हर क्षण का ! सवेरे से लेकर रात तक आदमी या तो पागलों की तरह भाग रहा है या भीड़ में खड़ा है या कहीं किसी कल-कारख़ाने में या दफ़्तर में खट रहा है। मुँह-अँधेरे जो वह उठता है तो रात को बिस्तर पर जाने तक यही परेशानी और तनाव और भागमभाग का सिलसिला है। बस में है तो भीड़ में, रेल में है तो भीड़ में, सड़क पर है तो भीड़ में और घर लौटकर आया है तो भीड़ में, क्योंकि एक छोटी-सी कोठरी में इतने सारे लोग रहते हैं। और अगले रोज़ आँख खुलते ही फिर यही सिलसिला होगा, और साल के तीन सौ पैंसठ दिन वही बात। जीविकोपार्जन में ही तन की, मन की सब शक्ति चुक जाती है। उसके पास एक मिनट का समय नहीं है कि सुस्ता सके, अपने से या किसी से बात कर सके, कुछ सोच सके, कुछ पढ़ सके, दो मिनट खुलकर हँस सके। सत्तर लाख, अस्सी लाख, एक करोड़ की आबादी वाले इन महानगरों में जहाँ एक बीसमंज़िला इमारत दूसरी पचीसमंज़िला इमारत पर गिरी पड़ती है और मकानों का भी कन्धे से कन्धा छिलता है, या छोटी-छोटी खोलियों और झुग्गियों में दो-दो, तीन-तीन परिवार रहते हैं, कब किसे खुली हवा खाने को मिलती है, खुली धूप के दर्शन होते हैं, खुले आसमान के नीचे दो घड़ी लेटने को मिलता है, जहाँ दूर-दूर तक दिशाएँ मुक्त हैं और आकाश से मौन का अनहद संगीत झर रहा है (बात सुनने में चाहे जितनी भी छायावादी लगे, पर प्रकृति का संस्पर्श अपने रहस्यमय ढंग से आदमी को क्या दे देता है और उससे कटकर आदमी क्या खो देता है, इसे पश्चिम का आदमी हमसे भी अधिक मात्रा में खो चुकने पर आज फिर समझ रहा है !), इस सबके लिए अब न तो समय है और न स्थान। फलतः मनोविनोद के दो ही साधन उसके पास बच रहते हैं, या तीन। कच्ची-पक्की शराब, ताड़ी, कुछ भी पीकर धुत हो जाना, नाच-गाने, मारकाट, कसी चोलियों और अधनंगी छातियों से भरपूर कोई उत्तेजक फ़िलम देख लेना और अपनी औरत के साथ सो रहना, कैसे भी, कहीं भी। यह आदमी का नहीं, सच्चे अर्थों में कीड़ों-मकोड़ों का जीवन है—और आधुनिक युग की यांत्रिक सभ्यता में आदमी का यह जो रूपांतर होता है, शायद, इसी की कहानी काफ़्का ने अपनी 'मेटामॉर्फ़ोसिस' में कही है। मशीन ने आदमी को जीत लिया है। जहाँ मशीन को आदमी का गुलाम होना चाहिए था, वहाँ आदमी मशीन का गुलाम हो गया है। और अभी तो यह केवल आरम्भ है। जिस तेज़ी से विज्ञान की उन्नति हो रही है, उसको देखते हुए तो इस कल्पना से ही भय मालूम होता है कि अगले पचास बरस में ही दुनिया की क्या शक्ल होगी और उसमें आदमी कहाँ होगा, उसकी कैसी-क्या सूरत होगी, क्या ज़िन्दगी होगी। अभी तो, इस अर्थ में कि आदमी के हाथ का काम मशीन करने लगी है, आदमी के हाथ का ही अवमूल्यन हुआ है, कल जब आदमी के दिमाग़ का काम भी मशीन करने

लगेगी, जिसकी शुरुआत भी हो गयी है, और 'एलेक्ट्रानिक्स' में और भी प्रगति होगी और पता नहीं क्या-क्या होगा, मशीन के आदमी, तरह-तरह के 'रोबो' सब काम करने लगेंगे और आदमी के दिमाग़ का भी अवमूल्यन हो जायेगा, और निरंतर होता चला जायेगा, तब क्या होगा ? आज जिस अर्थ में हम आदमी को आदमी कहकर जानते-पहचानते हैं, उस अर्थ में आदमी रह सकेगा ? क्या आज से भी कहीं ज्यादा उन्हीं मशीनों के रूप में न ढल गया रहेगा ? एक विशिष्ट व्यक्तित्व वाले मानव-प्राणी के रूप में और भी अपदार्थ न हो जायेगा ? फिर सवाल पैदा होता है, इससे बचने का क्या उपाय है, इतिहास के इस चक्र को कैसे रोका जा सकता है ? स्पष्ट है कि अब तक जो उन्नति विज्ञान ने कर ली है, उसको मिटाया नहीं जा सकता। यह संभव नहीं है कि आदमी अब तक की अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को छोड़कर फिर मध्ययुग में या आदिम युग में लौट आये। तो फिर क्या हम यह मान लें कि यही मनुष्य की नियति है ? ये हमारे अस्तित्व के मौलिक प्रश्न हैं और बड़े भयानक प्रश्न हैं।

इसके साथ ही अगर इस यंत्र-युग के मानव-सम्बन्धों को भी जोड़ दीजिए, तब स्थिति और भी भयावह हो जाती है। जैसा कि सभी जानते हैं, इस यंत्र-युग और पूंजीवादी-अर्थतंत्र ने एक साथ ही इतिहास के मंच पर प्रवेश किया। इसीलिए बहुत बार जाने-अनजाने दोनों को एक-दूसरे का पर्याय भी समझ लिया जाता है। और फिर स्वाभाविक ही है कि पूंजीवादी अर्थतंत्र में से निकलने वाले मानव-सम्बन्धों को यंत्र-युग की ही अनिवार्य देन मान लिया जाये। जब समाजवाद केवल एक नाम था और दुनिया में कहीं प्रयोग में नहीं आ रहा था, तब के लिए यही इस दिशा में विचारों का सीमांत था। लेकिन आज जब वह दुनिया के अनेक देशों में प्रयोग में आ रहा है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर यंत्र-युग का वैसा प्रभाव उनके सामाजिक जीवन पर या व्यक्ति के मानसलोक पर नहीं पड़ा है, जैसा कि पूंजीवादी देशों में पड़ा है। दूसरे शब्दों में, आदमी का उस प्रकार का या उतना यंत्रीकरण या अमानवीकरण नहीं हुआ है। हाँ, एक और ही समस्या या अन्तर्विरोध सामने आया है, जो समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर है, जिसके बीच होकर व्यवहारतः इस समाजवादी सिद्धांत के सत्य की परीक्षा हो रही है कि समाज के हित में व्यक्ति का हित पूर्णतः निहित है। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक की बात है, वह मोटे रूप में इस सिद्धांत से सहमत होते हुए साथ ही यह भी मानता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का, उसकी निजता अर्थात व्यक्ति के नाते अपनी सहज विशिष्टता का अपना कुछ स्वतंत्र मूल्य भी है, जो कि अत्यंत मूल्यवान और इसी नाते रक्षणीय है। जो हो, यह उस सवाल का एक दूसरा ही पहलू है, जिसके विस्तार में जाना यहाँ सम्भव नहीं है। वह एक अलग, बहुत उलझी हुई बहस है, जिसका भी कोई सरल समाधान दिखायी नहीं

पड़ता।

अभी तो हम पूँजीवादी अर्थतंत्र के अन्तर्गत यंत्रीकरण की बात कर रहे हैं और उसी प्रसंग में मैंने संकेत किया कि आज हमारे सामने अपनी दुनिया की जो तसवीर आ रही है, वह शायद अकेले यंत्रीकरण की नहीं, बल्कि उसके साथ ही पूँजीवादी अर्थतंत्र की भी देन है। इस अर्थतंत्र के भीतर से कैसी जीवन-प्रणाली और कैसे जीवन-मूल्य निकलते हैं, उनको समझने के लिए हम किसी किताब से ज़्यादा अपने ही अनुभव का सहारा ले सकते हैं। आदमी-आदमी के बीच केवल अर्थ का, स्वार्थ का सम्बन्ध रह गया है। सहज मानव-सम्बन्ध दिनों-दिन लुप्त होते जाते हैं। धन की और धनी आदमी की पूजा होती है, बिना यह पूछे कि वह धन उसने ईमानदारी मे पाया या ग़बन करके, घूस खाकर, चोरी-डाके से। संगठित श्रमिकवर्ग को छोड़कर, जो अपने अकेलेपन के दारुण अनुभव के बीच होकर अपने हितों के लिए एक होकर लड़ना सीखता है और उस सीमा तक पूँजीवादी अर्थतंत्र के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है, हर आदमी अकेला है और दूसरे का प्रतियोगी है, क्योंकि इस उत्पादन-प्रणाली का यही स्वभाव है और समाज के नियम ऊपर से नीचे को चलते हैं। और फिर जहाँ इतनी आपाधापी, आपस की इतनी छीनाझपटी है, वहाँ तनाव तो होगा ही। जहाँ आदमी शरीर से, मन से इतना ज़्यादा अपने भीतर सिमटा हुआ, दूसरे के प्रति इतना संशयालु और सतर्क होकर जी रहा है, जहाँ सत्रहवीं सदी के अंग्रेज़ दार्शनिक हॉब्स के शब्दों में आदमी और आदमी के बीच भेड़िये का सम्बन्ध है (होमो होमिनी लूपस) और उदार भावनाओं के लिए, संवेदनाओं के लिए कहीं स्थान नहीं है, वहाँ घुटन भी होगी ही। जहाँ सफलता ही एकमात्र कसौटी हो (और यह पूछना शास्त्रविरुद्ध है कि यह सफलता किस रास्ते से होकर आयी !) वहाँ किन्हीं दूसरे महान, पर असफल, मानव-मूल्यों के लिए स्थान भी कहाँ है ? परिणाम ? देवत्व से स्खलित होकर यहाँ आया हुआ यह आदमी नाम का प्राणी, हर आदमी अलग अपनी तंग अंधेरी दुनिया में अकेला कीड़ों-मकोड़ों की ज़िन्दगी जी रहा है। जहाँ अपने से बाहर वह किसी को नहीं देख पाता और उसका अपना छोटा-सा स्वार्थ ही सब-कुछ है, जहाँ उसे किसी ज्योति का स्पर्श नहीं मिलता और उसकी आत्मा दरिद्र है और होती चली जा रही है, जहाँ उसकी मानव-संवेदनाएँ भोंथरी हो गयी हैं, जहाँ किसी विराट् के दर्शन उसको नहीं होते और वह आत्मिक रूप से दिनोंदिन नाटा-बौना होता चला जाता है...।

सचमुच बड़ी भयानक तसवीर है, जिसकी सच्चाई से इनकार भी नहीं किया जा सकता और जिसको ठीक करने का कोई आसान नुस्ख़ा भी नहीं है। किर्केगार्द के सामने आदमी और उसकी समाज-रचना की कुछ ऐसी ही तसवीर है, जिसका आतंक उसके मन पर है और यही आतंक का भाव प्राणघाती निराशा का रूप ले लेता है, जब वह अपनी द्रष्टा-मनीषी की आँखों से देखता है कि इतिहास के

इस क्रम को रोकने का कोई उपाय नहीं है। तो भी अपने उस पराजय-बोध के भीतर से भी वह विद्रोह का स्वर मुखरित करता है, अपनी आत्मा के प्रति—जो कि उस परमात्मा का ही दर्पण है—हर उत्तरदायी निष्ठावान ईसाई का एकांत विद्रोह।

यह आकस्मिक बात नहीं है कि अपने जीवनकाल में किर्केगार्द को तनिक भी मान्यता नहीं मिली। पूंजीवादी अर्थतंत्र तब ऊर्ध्वमुख था और उसके भीतर निहित इन चित्य संभावनाओं को तब किसी द्रष्टा-मनीषी की आँखें ही देख सकती थीं। और न यही आकस्मिक बात है कि लगभग सौ बरस के अज्ञातवास के बाद उसका पुनरुद्धार कुछ-कुछ पहले महायुद्ध के बाद और विशेष रूप से दूसरे महायुद्ध के बाद हुआ। अस्तित्व के जिन मौलिक प्रश्नों की ओर किर्केगार्द ने संकेत किया था, वे आकाशभेदी विस्फोट के रूप में आँखों के सामने छितराये पड़े थे। लाखों हताहत लोगों के शरीर भी और कोड़ियों अच्छे-अच्छे मीठे-मीठे खोखले आदर्श भी। बीस बरस के भीतर दो-दो महायुद्धों में कितने शहर, कितने गाँव बर्बाद हुए, कितनी जानें गयीं, कितने परिवार टूटे, कितने घरों के दिये बुझे, सुन्दर-सजीले जवानों की पूरी-पूरी पीढ़ी साफ़ हो गयी—और बातें निरंतर शान्ति और विश्व-बंधुत्व की होती रहीं! सब कोरी बातें थीं, जो एक-दूसरे को ठगने के लिए की जा रही थीं। असलियत इतनी ही है कि सब देशों के प्रभुवर्ग के अपने कुछ आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ हैं और विशाल जनसमाज मूलतः पशु है, उतना ही मूर्ख और उतना ही हिंस्र, और लालची और घमंडी, जो ज़रा-सा कोई लालच देने पर, ज़रा-सा पीठ थपथपाने पर, ज़रा-सा उकसाने पर मरने-कटने के लिए मैदान में कूद पड़ता है। ज़रा भी अचरज की बात नहीं कि उस आग और खून की नदी में उसकी तमाम पहले से चली आती आस्थाएँ विश्वास, जीवन-मूल्य ध्वस्त होकर बह गये। और उसके साथ ही, इसी काल में, थोड़ा आगे-पीछे, मन को तोड़नेवाली कुछ ऐसी घटनाएँ हुई कि एक वह नयी आस्था भी जो मन में अंकुरित हो रही थी, समाजवाद के प्रयोग में, वह भी टूट गयी या कम-से-कम उसकी बुनियादें हिल गयीं। संसार-भर के जागरूक विचारकों को सोवियत देश में होनेवाले समाजवाद के प्रयोग ने अपनी ओर आकर्षित किया था और बड़ी-बड़ी आशा और उमंगें लेकर लोग उसकी तरफ़ दौड़े थे, लेकिन जब स्वतंत्र चिन्तन के अपराध में लोगों पर किये गये अत्याचारों और हत्याकांडों की कहानियां धीरे-धीरे बाहर भी पहुंचने लगीं—स्तालिन के जिन अपराधों का ब्योरा आगे चलकर ख्रुश्चेव ने दिया—तो लगा कि अब कहीं कुछ भी नहीं बचा, जो मन को सहारा दे सके, जो मनुष्य को इस अँधेरी कालरात्रि से निकालकर एक नये सूर्योदय की ओर ले जा सके। और तभी 'डार्कनेस ऐट नून', 'द गॉड दैट फ़ेल्ड', '1984', 'ऐनिमल फ़ार्म', 'द नेकेड गॉड' जैसी किताबें लिखी गयीं, जो सब खंडित आस्थाओं के घोषणापत्र थे। मैं उनकी वकालत नहीं कर

रहा हूँ, न उनके सब निष्कर्षों को ठीक मानता हूँ और न यही मानता हूँ कि जिनकी आस्थाएँ टूटीं, उनकी उस आस्था में ही कहीं कोई त्रुटि न थी जो वह टूटकर ही रह गयी। यहाँ पर मेरा उद्देश्य लोगों की उस समय की मनःस्थिति का एक चित्र देना-भर है। मनुष्य के अस्तित्व को लेकर किर्केगार्द का निराशा का स्वर, किसी अंधी गली के सिरे पर पहुँचकर भय से ठिठक जाने का स्वर, मनुष्य की विकलांगता का स्वर, मनुष्य अंधी नियति के आगे पराजय-बोध का स्वर—जहाँ प्रतीकात्मक विद्रोह से अधिक दूसरा कुछ संभव नहीं—मनुष्य के अकेलेपन और उसके उद्योग की व्यर्थता का स्वर, अस्तित्व की निस्सारता का स्वर, सब-कुछ प्रस्तुत मनःस्थिति से बहुत अच्छी तरह मेल खाता था और इस प्रकार सार्त्र और कामू ने, हाइडेगर और यास्पर्स ने युग के अपने नये संदर्भ में किर्केगार्द को फिर से उपलब्ध किया और अपनी-अपनी व्याख्या के साथ संसार के सामने नये रूप में रक्खा। इसी व्यर्थता-बोध में से कामू के ऐब्सर्ड-बोध की सृष्टि हुई, जो उसने सिसिफ़स के मिथक के माध्यम से भी प्रस्तुत की, उस अभिशप्त देवता की कहानी जिसका यही दंड और यही अभिशाप था कि वह एक भारी पत्थर को बड़ी मुश्किल से ठेलकर पहाड़ की चोटी पर ले जाये और शिखर तक पहुँचने के पहले वह पत्थर फिर लुढ़ककर नीचे आ जाये, और फिर वही...और फिर वही...जाने कितने युगों, कितनी शताब्दियों तक! कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक युग के सन्दर्भ में यह एक बहुत बड़ी सच्चाई थी, जिसको कामू ने रेखांकित किया था।

व्यक्ति के जीवन में, समाज के जीवन में कितना कुछ है, जो आदमी के जीने की, कुछ भी करने की निपट व्यर्थता को जैसे हर समय हमारे आगे रेखांकित करता रहता है—और हमारे अपने देश में तो और भी, जो असंगतियों का इतना बड़ा पिटारा है, जहाँ की धरती ढोंग और ढकोसले के लिए विशेष रूप से उपजाऊ है, जहाँ कथनी और करनी में साम्य की बात कहनेवाले पागल समझे जाते हैं, क्योंकि उसकी उलटी बात समाज की प्रचलित रीति-नीति का साधारण सर्वमान्य अंग है। अपने कुछ अति-आधुनिक लेखकों की बातें सुनकर लगता है, वो रातों-रात मध्ययुगीन बैलगाड़ी-युग से लेकर सीधे रॉकेट-युग में पहुँच गये हैं! इस पाखंड-भूमि में (या कहीं भी) 'ऐब्सर्ड' की क्या कमी! जिस आदमी ने कल देश के लिए बरसों जेल की सजा काटी थी, लाठी खायी थी, वह शासन की गद्दी पर पहुँचते ही चोर और गिरहकट बन जाता है। कचहरी में जाइए, जगह-जगह आपको लिखा मिलेगा 'घूस लेना और देना पाप है' (अपराध नहीं पाप! और पापों की बड़ी-से-बड़ी गठरी एक बार गंगा में डुबकी लगाने या एक बार श्रीमद्भागवत के दो-चार पन्नों का पाठ या श्रवण करने से कट जाती है!) और चपरासी से लेकर देश का प्रधानमंत्री तक जानता है कि घूस दिये बिना कचहरी का कोई काग़ज़ अपनी

जगह से नहीं हिलता। हर इजलास में गांधी जी का वह कुछ-कुछ अभयमुद्रा-वाला चित्र लगा हुआ है, और उससे किसी और को अभय मिलता हो या न मिलता हो, घूस लेनेवाले को ज़रूर मिलता है। और चूंकि रुपये का मूल्य गिर गया है, इसलिए जो काम पहले एक रुपये में होता था, वही अब पांच रुपये में होता है—अभयमुद्रा-वाली गांधीजी की पाँचों उँगलियों का, शायद, यही प्रतीकार्थ रह गया है! साधू वावा संन्यासी हैं, भीख माँगकर पेट चलाते हैं और सूद पर रुपया भी! हर आदमी नीति और सदाचार का ठेकेदार है, हर स्त्री को माँ-बहन कहता है, वैसी कोई चर्चा हो तो छी-छी करके कान पर हाथ रखता है—और अपनी 'एक्सरे' निगाहों से हर औरत के कपड़े उघाड़ता रहता है। पुजारी जी पद्मासन लगाकर राम-नाम जपते हैं और आँख की कोर से सामने बैठी या पास ही गंगाजी में नहाती किसी युवती का अंग-विन्यास भी देखते जाते हैं। असंख्य नलकूप बने हैं—मगर उनमें पानी नहीं है और मंत्री जी अपने बनवाये हुए उन्हीं सूखे नलकूपों की दुहाई देकर फिर वोट मांगते हैं और जीत जाते हैं, एक ऐसे आदमी के ख़िलाफ़, जिसने उन्हीं गाँववालों की सेवा में अपने को मिटा दिया! तक़ावी ग़रीब किसानों को नहीं, धनी किसानों को मिलती है! कुँआ खोदने और उसकी पक्की जगत बनवाने के लिए किसानों को क़र्ज़ मिलता है, लेकिन न कहीं कुँआ खुदता है और न पक्की जगत बनती है, सब पैसा बाँट-चूंट कर खा-पका लिया जाता है। और जो कोई आदमी अपनी नेकी और देशप्रेम के झोंक में इस बात को किसी अधिकारी के आगे उघाड़े, उसी को किसी मुक़दमे में फांसकर सजा दे दी जाती हैं! फिर जब अकाल पड़ता है, तो अकालपीड़ितों के लिए चंदा उगाहा जाता है, फिर उस चंदे से अनाज और कम्बल खरीदा जाता है, फिर उसे अकालपीड़ितों तक पहुँचाया नहीं जाता, रोककर रखा जाता है कि ठीक चुनाव के पहले लोगों को दिया जायेगा, जिसमें किसी एक ख़ास दल को अपने चुनाव में उसका लाभ मिल सके—और अकाल के मारे लोग यह देखते हैं, बहुत गुस्सा करते हैं और फिर उसी दल को जाकर अपना वोट दे आते हैं! 'एब्सर्ड' जीवन-स्थितियों की कुछ कमी नहीं, जितनी चाहें गिनाते चले जाइए। जहां कहीं भी कोई बेतुकापन है, बेढंगापन है, जड़ता है, किसी अच्छे काम में किसी अमूर्त शक्ति के आगे आदमी के श्रम की व्यर्थता है और असत्य की, अनर्गल की, अन्याय की, असुन्दर की जीत है, वहीं 'एब्सर्ड' की स्थिति है और उसी का बोध मोटे अर्थों में 'एब्सर्ड' का बोध है। वह जीवन के समान ही व्यापक है। व्यक्ति समाज, चिन्ता, भावना, धर्म, इतिहास, राजनीति आदि सभी जगह उसको देखा जा सकता है।

मैं पैंतालीस बरस का आदमी हूँ। मुझे जो कुछ अपनी जिन्दगी में करना था या नहीं करना था, मैंने कर लिया; जो कुछ दुख-सुख देखना था, वह भी देख लिया, और फिर नीम-बीमार-सा आदमी हूँ, अगर अब मुझे मौत आ जाये, तो

उसमें कुछ ऐसी बुरी बात नहीं। पर मैं बैठा हूँ और मेरा अठारह बरस का जवान, हट्टा-कट्टा बेटा, जिसमें बड़ी प्रतिभा थी, जो अपनी ज़िन्दगी में न-जाने कितना क्या करता और जिसके सामने अभी अपनी पूरी ज़िन्दगी देखने को, भोगने को पड़ी थी, चला गया और ऐसी एक बीमारी में चला गया, जिसका क ख ग भी आज के उन्नत विज्ञान को नहीं मालूम। यह भी एक 'ऐब्सर्ड' स्थिति है। इसे हम ईश्वरीय न्याय का 'ऐब्सर्ड-बोध' कह सकते हैं।

दुनिया के किसानों-मज़दूरों की दृष्टि से वह बड़ी खुशी का दिन था, जब चीन में भी किसान-मज़दूर राज हुआ और सब जगह इसी तरह उसकी खुशी भी मनायी गयी। सोवियत रूस को भी अपने गोत्र में एक इतने बड़े महादेश को आते देखकर कितना हर्ष हुआ होगा, सहज ही कल्पना की जा सकती है— और आज चीन का सबसे बड़ा दुश्मन सोवियत रूस है। यह इतिहास का 'ऐब्सर्ड-बोध' है। जीवन के आकलन से ही यह 'ऐब्सर्ड-बोध' बनता है। जहाँ इतना कुछ उलटा-पुलटा, बेतुका, बेसिरपैर है, वहाँ शायद इसी तरह सिर के बल खड़े होकर उसे ठीक-ठीक देखा और समझा जा सकता हो। इसी की एक शाखा वह है, जहाँ मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि की व्यर्थता के बोध से अ-तर्कबुद्धि या 'इर्रैशनल' की ओर जाता है और सचेतन से अधिक महत्त्व अचेतन और उपचेतन मन का हो जाता है।

इन्हीं सब व्यर्थताओं और विभीषिकाओं के बीच होकर, उनका बोझ मन पर ढोते हुए, पुरानी आस्थाओं को खोकर और नयी किसी आस्था के अभाव में जो एक भावबोध बनता है, घोर निराशा और अविश्वास जिसका आवश्यक तत्त्व है, शायद उसी को आधुनिक भावबोध की संज्ञा दी जाती है।

कोई उसकी स्थापनाओं से सहमत हो या न हो, यह निर्विवाद है कि यह एक गंभीर जीवनदृष्टि है। और जो लोग उसको अपनी जीवनदृष्टि कहकर प्रचारित करते हैं, उनके विरुद्ध इन पंक्तियों के लेखक का यही मूल अभियोग है कि उन्होंने उसको अपने चैतन्य के आधार पर गंभीरता से समझने का यत्न नहीं किया। अधिकांश नये लेखकों के लिए यह भी एक नया फ़ैशन है, जिसे उन्होंने नयी तर्ज़ के जैकेट या नयी डिज़ाइन की टाई की तरह पहन लिया—उसके मर्म में पैठी हुई चिन्तन की, भावना की, मानव-नियति के प्रति दायित्वबोध की गहरी पीड़ा ने उनको नही छुआ। और मैं तो इसे भी अपनी इस पाखंड-उर्वरा भूमि का ही प्रसाद मानता हूँ कि आधुनिक-भावबोध भी यहाँ आकर एक पाखंड बन गया। ऐसी बात न होती, तो इस आधुनिक भावबोध के संदर्भ में भी आज स्थिति कुछ और होती, मध्ययुगीन भारत का अपने ढंग से कुछ नया संस्कार किया जा सकता या अगर वह भी नहीं, तो कम-से-कम इस हास्यास्पद स्थिति से तो मुक्ति मिल ही जाती कि हमारा 'आधुनिकताभिलाषी' अपने देश-काल से नितांत उपराम होकर, आवां-गार्द बनने की धुन में सागर-विलासपुर या बलिया-गोरखपुर जैसी जगहों से निकलकर,

बीच में कहीं पड़ाव न करता हुआ, मनसा सीधे पेरिस और न्यूयार्क पहुँच जाता है और वैसा ही ठगा-सा खड़ा रह जाता है, जैसे द्वारका पहुँचकर भगवान कृष्ण की अट्टालिका के सामने सुदामा जी ! देशी-ब्रांड आधुनिकता की स्थिति भी बहुत कुछ वैसी ही है। अपनी उस चकाचौंध से निकलकर प्रकृतिस्थ हो, तब तो उससे कुछ बात हो ! अभी तो वह साहब बनने के पीछे डंडा लेकर पड़ा है। वहाँ बियर-शराब पानी की तरह पी जाती है, इसलिए उसका भी पीना ज़रूरी है और अगर उतने धड़ल्ले से पी सकना किसी वजह से मुमकिन न हो, तो कम-से-कम उसकी चर्चा तो उठते-बैठते की ही जा सकती है। 'सेक्स' के मामले में वहाँ बड़ी स्वच्छंदता है—और 'सेक्स' के अपराध इतने अधिक होने लगे हैं कि स्वयं वहाँ के विचारकों के लिए चिन्ता का कारण बन गये हैं—इसलिए उसका नंगा नाच दिखलाना यहाँ भी आधुनिकता की एक ज़रूरी पहचान है कि जैसे इस यौन-क्रांति से ही संसार का नया पुनर्जन्म होना है।

मेरी बात को ग़लत न समझा जाये। मैं भी 'सेक्स' के मामले में खुलेपन का हामी हूँ। मैं समझता हूँ कि ज़ोला और फ्रायड-जैसे लोगों ने इस चीज़ को खुली हवा और धूप में खड़ा करके बहुत बड़ा काम किया है और ढकोसलों से, पर्दे के पीछे चलनेवाले विराट पापाचार से संसार को, मुक्ति दिलायी है, आदमी को अधिक प्रकृत भूमि पर रखकर देखने और समझने का मौक़ा दिया है। लेकिन खुलापन और विषय से आसक्ति या दुराग्रह एक ही चीज नहीं है। चीज़ को उसके ठीक सन्दर्भ या परिप्रेक्ष्य में रखकर न देख पाने से ही ऐसी स्थिति पैदा होती है। यही नहीं, बाहर से भी जो साहित्य आ रहा है, उसमें सेक्स का प्राबल्य विशेष रूप से दिखायी पड़ता है। इसके कारणों की खोज एक अलग विषय है, पर मेरा अनुमान है कि इसके पीछे कारणों की एक पूरी शृंखला है, जिसे उस मनःस्थिति के सन्दर्भ में शायद समझा जा सके, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया है। कुछ तो पूँजीवादी संस्कृति के इस युग में नैतिक-मूल्यों का ह्रास (क्योंकि समाजवादी देशों में निश्चय ही यौन वृत्ति का यह आस्फालन नहीं दिखायी पड़ता, न उनके जीवन में और न उनके साहित्य में) और (प्रचार के परम शक्तिशाली साधनों-द्वारा हिस्टीरिया की सीमा तक प्रचारित) पिछले महायुद्ध के महाविनाश और आशंकित परमाणु-युद्ध के सर्वनाश की तांडवछाया में अपने क्षण को जी लेने, भोग की लालसा ('ईट, ड्रिंक, एंड बी मेरी फ़ॉर टुमारो वी डाइ' जो पहले दार्शनिक-सी कविता थी, आज जीवन के एक भयंकर सत्य की तरह हमारी आँखों के सामने है) और कुछ उस धन-पूजक सफलता-पूजक समाज के सभी मूल्यों के सम्पूर्ण निषेध का प्रतिफलन—और हमारे सदाचार का ढकोसला करनेवाले देश में वर्जनाओं से दमित वासनाओं का विस्फोट और, शायद, कहीं उन वर्जनाओं को तोड़ने का आग्रह—शायद इनमें से कोई कारण हो, या सभी कारण हों। या कोई भी न हो। जो भी

बात हो, किसी बहाव में बहने की अपेक्षा अपने विवेक और अपनी स्थिर मति से किसी निर्णय पर पहुँचकर कुछ करना अधिक अच्छा हुआ करता है और शायद, मन की सबसे बड़ी और सबसे सच्ची आधुनिकता यही है। सब पर से हमारा विश्वास उठ गया है। कोई अब विश्वास के योग्य नहीं रहा। लेकिन जहाँ सब-कुछ मिट जाता है, वहाँ भी आदमी को अंततः अपनी आँख और अपने विवेक का आश्रय लेना पड़ता है। वही समय आज है।

और यहीं पर मेरा मन, आज के युग के एक छोटे आदमी का मन, उस 'आधुनिक' भावबोध को पूरी तरह आधुनिक नहीं मान पाता। विशेषकर इसलिए कि मेरा मन एक भारतीय का मन है। संसार को निस्सार माया माननेवाला दर्शन उनके लिए नयी चीज़ हो, हमारे लिए कोई नयी चीज़ नहीं है। हमने अपनी घुट्टी के साथ उसको पिया है, इसीलिए जानते हैं कि वह क्या चीज़ है और कहाँ ले जाती है। दूसरी ओर, चार्वाक के इस देश के लिए पश्चिम का यह अभिनव भोगवाद भी कोई नयी चीज़ नहीं है। उसी तरह तांत्रिकों के इस देश में, जहाँ सैकड़ों साल तक समान भाव से मरघट पर मुर्दा स्त्री के साथ और वासस्थान पर नौ-दस-ग्यारह साल की अक्षतयोनिका लोलीटाओं के साथ रमण करके अपने को 'मंत्र-सिद्ध' किया गया हो, सेक्स के उस रहस्यजाल में भी कोई नयापन नहीं है, जिसे आज ऐसे-ऐसे विदग्ध कलाकार इन्द्रधनुषी रंगों में बुन रहे हैं! यह सभी कुछ हम देख चुके हैं, और जहाँ बहुत पुरातन होने की बहुत बुराइयाँ होती हैं, वहाँ उसका एकाध सुफल भी होता ही है। दर्शन हमारे घर की बहुत पुरानी चीज़ है। सदियों हम उससे खेले हैं और इतने आत्मविभोर होकर खेले हैं कि और कुछ करने का हमें ध्यान ही नहीं रहा। इसीलिए यह आकस्मिक बात नहीं है कि पश्चिम के विचारक आज इतनी तेजी से भारतीय योग की ओर झुक रहे हैं और गिन्सबर्ग भी कुछ पाने के लोभ से ही यहाँ भागा आता है। लेकिन हमें खुद पता नहीं कि हमारे पास अपना क्या है! कौन जाने कुछ हो ही, इस दरिद्र देश के पास। उसी को अपने ज्ञान-विज्ञान, अपने लोकमानस और स्वयं अपने भीतर टटोलकर देखने की ज़रूरत है। वहीं हमें आत्मा की अमरता का दर्शन भी मिलेगा, नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः (गीता का एक नया अनुवाद, किन्हीं पुरोहितस्वामी का किया हुआ और टी० एस० एलियट के प्रकाशन-संस्थान 'फ़ेबर ऐंड फ़ेबर' से प्रकाशित मेरे सामने रक्खा है। एलियट के काव्य पर भारतीय दर्शन, विशेष रूप से उपनिषदों, का प्रभाव भी सर्वविदित है, और एज़रा पाउंड भी आलोक के संधान में पूर्व की ओर ही भागा। वह चीन गया और चीन का प्राचीन दर्शन भारतीय दर्शन का कितना ऋणी है, यह सब विद्यार्थी जानते हैं।) एक ओर संसार की निस्सारता, मरणधर्मिता और दूसरी ओर आत्मा की अमरता, मैं ठीक से समझ नहीं पाता, पर कभी-कभी मुझे लगता है कि भारत देश अपनी सांघातिक बुराइयों और दुर्बलताओं

के बीच भी जो जीवित है, उस की इस जीवनीशक्ति का रहस्य कदाचित इन्हीं दोनों ध्रुवों के पारस्परिक तनाव में है, और कौन जाने उसी में आज के इस अभिशप्त युग के लिए भी इस देश का कुछ संदेश हो।

अस्तित्ववाद के दर्शन पर आधारित आज का यह जो आधुनिक भावबोध है, उसके सत्य से आँख नहीं चुरायी जा सकती। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह एकांगी दृष्टि है और यह उसकी एकांगिता का ही आग्रह है, जो उसका पूर्वग्रह बन गया है कि वह मनुष्य का, मनुष्य की नियति का कुत्सित और अंधकारपूर्ण रूप ही चित्रित करता है। वही एकांगी दृष्टि, कालान्तर में अनुयायियों की आँख का रंगीन चश्मा बन जाती है। यही सांघातिक स्थिति है, क्योंकि यहीं पर आदमी जीवन के अपने अनुभव और अपनी उपलब्धि को झुठलाकर दूसरे की बोली बोलने को प्रेरित होता है। मैं नहीं मानता कि संसार में केवल अंधकार है। अंधकार भी है, ज्योति भी है। कादर्य भी है और उदात्त भी है। कौन कम, कौन ज़्यादा, इसको तौलने की कोई तराज़ू नहीं बनी और न शायद उसकी ज़रूरत है, क्योंकि यह तौलना अपने भीतर की, अपनी आत्मा की तराज़ू को छोड़कर और कहीं सम्भव भी नहीं। जहाँ सब तरफ़ से वंचित होकर आदमी अपना विश्वास खो बैठा हो, वहाँ उसकी आधुनिकता की यह भी एक प्रतिश्रुति है कि वह फिर अपने अनुभव और अपने विवेक से बढ़कर किसी को भी न माने। मेरा विश्वास है कि जो लोग अपने लेखन में सदैव कदर्य की ही अवतारणा किया करते हैं, उनके अपने अनुभव की परिधि में भी ऐसे लोग होंगे, ऐसी घटनाएँ होंगी, जो जीवन को एक नया सम्बल देती या दे सकती हैं। आधुनिक लेखक अपने उस अनुभव-खंड को दबा क्यों जाता है? इसलिए कि ऐसा करना आधुनिक लेखन की परिभाषा में नहीं आता! पर यह कलाकार के सोचने का ढंग नहीं है, नफे-नुकसान की चिन्ता करनेवाले बनिये के सोचने का ढंग है। और यह नया लेखक समझे या न समझे, यहीं से उसके लेखन का सत्व समाप्त होने लगता है और वह छद्म लेखन करने लगता है। आधुनिक हो, पुराना हो, सच्चा लेखन वही है, जिसमें लेखक अपने देखे हुए, अपने भोगे हुए को अपने कलात्मक सामर्थ्य-भर अधिक-से-अधिक पूर्णता के साथ चित्रित करना चाहता है। अगर आदर्शवाद के नाम पर, मनुष्य के जीवन और चरित्र के अंधकार-पक्ष को बचा जाने की पुराने लेखक की प्रवृत्ति उसके लेखन की 'इंटीग्रिटी' को खंडित करती थी, वह सत्य-लेखन न रहकर फेनिल उच्छ्वास बन जाता था, तो उसी तरह आज का आधुनिकतावादी लेखक जब अपने यथार्थ-चित्रण के नाम पर मनुष्य के जीवन और चरित्र के ज्योतिपक्ष को दबा देता है, अनदेखा कर जाता है, तो वह भी अपने लेखन की 'इंटीग्रिटी' को खंडित करता है और उसका लेखन एक दूसरी तरह का फेनिल उच्छ्वास बन जाता है। जीवन का सत्य दोनों के हाथ से छूट जाता है, क्योंकि जीवन का सत्य उसके द्वंद्व में है।

'पड़ोसी वियतनाम के जीवन और मरण के संग्राम में जहाँ एक ओर हमें आदमी का और युग का नृशंस आततायी का रूप देखने को मिलता है, वहाँ दूसरी ओर आत्मा का ऐश्वर्य भी, जो मुझे एक स्वाधीनताप्रेमी नागरिक के रूप में ही नहीं, बल्कि एक भिन्न धरातल पर मेरे भीतर के सृजनशील लेखक को भी संबल पहुँचाता है। हमारे छोटे-से दैनंदिन जीवन में हो या इतिहास के रंगमंच पर, आत्मा के ऐश्वर्य की झाँकी देनेवाले प्रकरणों का भी अभाव नहीं है। एक ओर जहाँ युग का सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक ध्वंस सार्त्र के लेखन में बोल रहा है, वहाँ दूसरी ओर, अपने देश के बर्बर आक्रामकों के विरुद्ध फ्रांसीसी जनगण का अद्भुत प्रतिरोध संग्राम भी है, जिसे सार्त्र ने भीतर से देखा और जाना, और उस क्रिया में मनुष्य का वह सुन्दर-सबल रूप भी देखा, उसके भीतर का आत्मिक ओज भी देखा—वह कहानी भी उसने क्यों नहीं कही? क्या वह कहने योग्य कहानी न थी? क्या उस अनुभव-खंड को, जो कलाकार का साक्ष्य है, अनदेखा करने में, उस सीमा तक वह चित्र झूठा नहीं पड़ जाता, वे सामाजिक और नैतिक और आध्यात्मिक निष्कर्ष एकांगी नहीं हो जाते ?

अगर यह आधुनिक लेखक यह समझता है कि इस कदर्य को रेखांकित करना उस पिछले फेनिल उच्छ्वास को काटने और समग्र के संतुलन को ठीक करने की दृष्टि से आवश्यक है, तो मैं समझता हूँ कि यह भी उसकी भूल है। क्योंकि सचाई यह है कि वह फेनिल उच्छ्वास पहले ही से आप अपनी मौत मरा हुआ है, उसने कभी आदमी के मन को नहीं छुआ—उसी तरह, जैसे यह एकांत कदर्य नहीं छूता। अगली बार जब कोई रचना पढ़ते समय आप पुलक का अनुभव करें, आपके रोयें भुरभुरायें, तो ध्यान दीजिएगा कि वह कौन-सा और कैसा स्थल है। वह न तो देवत्व के फेनिल उच्छ्वास का स्थल होगा और न कदर्य के अभिषेक का, बल्कि इन दोनों छोरों के बीच कहीं, जहाँ आपके भीतर के सहज आदमी का मर्म है, जिसकी मिट्टी में जहाँ एक मन पशुत्व है, वहाँ तोला भर देवत्व भी।

मैं स्थिति को इतनी भयावह नहीं मानता पर जो ऐसा मानते हैं, उनसे निवेदन है कि जहाँ सब तरफ़ अँधेरा हो, कालरात्रि का अँधेरा, वहाँ एक दिया ही सूर्य है और जहाँ सब तरफ़ धू-धू करता हुआ रेगिस्तान फैला हो, वहाँ एक दूब का उग आना भी क्रांति है—इस सत्य को इस कठिन समय में अनदेखा करने का हमें बहुत साघातिक मूल्य चुकाना पड़ सकता है। समय कठिन है, इसीलिए यह सत्य हमारी आत्मा के हस्ताक्षर का और भी प्रत्याशी है।

—'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' से साभार

आलोचना की कुछ समस्याएँ और हिन्दी आलोचना

चन्द्रबली सिंह

आलोचना की कुछ समस्याओं को समझने और सुलझाने के पहले यह कम महत्त्व की वात नहीं कि हम यह स्थिर कर लें कि आलोचना का साहित्य में क्या स्थान है और उनमें पारस्परिक सम्वन्ध क्या है ?

आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो एक अंग्रेज आलोचक के इस कथन को कि असफल कवि ही आलोचक वनता है, काव्यशास्त्र के वेद-वाक्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आलोचना कवि की सृष्टि पर उसी भाँति आश्रित है जिस भांति एक वृक्ष की छाती पर जमा हुआ कोई दूसरा वृक्ष। इसके पीछे यह जहनियत है कि आलोचक वह वनता है जिसमें साहित्य के सृजन की प्रतिभा नहीं होती, कि साहित्य और आलोचना में मौलिक और गुणात्मक भेद है और वह भेद यह है कि जहाँ साहित्यकार सीधे जिन्दगी से प्रेरणा लेता है, जहाँ उसकी कल्पना का वृक्ष जिन्दगी की काली मिट्टी में उगता, पनपता और वढ़ता है वहाँ आलोचक उस कल्पना-वृक्ष के फूलों और पत्तियों, उसके वेलवूटों को सूंघता और गिनता और उसके रूप के अनुसार प्रशंसा और निन्दा करता है। आलोचक की आंखें उस मिट्टी की ओर नहीं जातीं जिस पर इन फूलों और पत्तियों का रूप-रंग, सव-कुछ निर्भर रहता है।

पश्चिम में आलोचना के इस रूप को आजकल पूंजीवादी आलोचक अपना रहे हैं। उनके अनुसार आलोचना एक स्वतंत्र कला है जिसका उद्देश्य साहित्य के रूपों का अध्ययन करना है और उसमें उपस्थित सामाजिक या सांस्कृतिक मूल्यों की खोज और उनका विश्लेषण करना उसके कार्य और लक्ष्य की परिधि के वाहर की चीज है। वे किसी साहित्य या कला-कृति का मूल्य, उसे जीवन के अनुवन्ध से पृथक रखकर, केवल उसके रूप और गठन के आधार पर आंकते हैं। आलोचना के इस मान का प्रक्रियावादी रूप स्पष्ट है। पूंजीवादी संस्कृति अपनी पतनशीलता और रुग्णता, हिंस्रता और पशुता, अपनी यौनसम्वन्धी तीव्र वासना, जीवन में

स्वस्थ और सुन्दर स्वप्नों, आदर्शों का अपना अभाव और शोषण इत्यादि अन्य प्रकार की हेय प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने और ज़हरीला प्रचार करने लिए इन आलोचकों के सहारे अपने साहित्य के रूप को उछालती है। वास्तव में साहित्य, दर्शन और विज्ञान इत्यादि की भाँति आलोचना भी वर्ग-स्वार्थों से कभी ऊपर नहीं रही है और यह सत्य आज सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध वर्ग और जन-संघर्ष के युग में पहले से अधिक असंदिग्ध हो उठा है।

साहित्य में उसका वर्ग-स्वार्थ छिपा रहे, इस विचार से अभिजात वर्ग ने आलोचना को एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित किया। अभिजात-वर्गीय दर्शन ने जिस प्रकार जीवन, प्रकृति और समाज के विकास के सिद्धांतों को विज्ञान से अलग रखा और उसके लिए अध्यात्म का सहारा लिया और अनेक कल्पित कारणों को ढूँढ़ निकाला, इसी प्रकार उसने आलोचना को भी जीवन और समाज के विकास के नियमों, उनकी आधारभूत आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन से दूर रखा। इसलिए आलोचना का यह काम न था कि वह साहित्य के सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करे, उनका विश्लेषण करे, उसका काम था रीति के स्वतंत्र और स्वायत्त नियमों के आधार पर साहित्य के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना और उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करना। इससे भी आगे बढ़कर अभिजात-वर्गीय आलोचना ने ऐसे साहित्यिक इतिहास का रूप धारण किया जिसमें प्रधानता तिथियों के क्रम, जीवनी और कृतियों के उल्लेख की थी। इधर भी, लगभग 40-50 वर्षों से जब वीभत्स साम्राज्यवादी रूप ग्रहण करने के साथ-साथ पूँजीवादी संस्कृति का संकट और भी गहरा होता गया है, हम देखते हैं कि पश्चिम की आलोचना ने उसके पतनशील साहित्य और अनेक वादों को काव्य-रचना के नये-नये सिद्धांतों को गढ़कर बचाने का प्रयत्न किया है और उनका प्रचार किया है। और सबसे मज़े की बात यह है कि इन पूँजीवादी आलोचकों ने जिन सिद्धांतों को आज गढ़ा है कल उन्हीं को ध्वस्त कर फिर किसी नये पूँजीवादी वाद के समर्थन के लिए नये सिद्धांतों की रचना की है। पूँजीवादी आलोचना के खोखलेपन और उसकी अवसरवादिता का इससे और बड़ा सबूत क्या हो सकता है? उसके पास काव्य-निर्माण और उसके लक्ष्य के सम्बन्ध में या जीवन और समाज के विकास को समझने के लिए कोई दृढ़ और स्थिर दृष्टिकोण नहीं रहा है। इसका फल यह हुआ है कि पूँजीवादी आलोचना ने अवसरवादिता को इस हद तक अपनाया है कि उसने हर प्रतिक्रियावादी साहित्यिकवाद के लिए कोई-न-कोई समर्थन का आधार ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार आलोचना भी उसी प्रकार सीमित होती गयी है जिस प्रकार पूँजीवादी साहित्य और संस्कृति। पूँजीवादी लेखकों और आलोचकों का कहना है कि जैसे जैसे समाज का स्तर ऊंचा उठता जायेगा वैसे-वैसे संस्कृति और साहित्य में दीक्षा-गम्यता बढ़ती जायेगी। इसलिए जब एक ओर टी० एस०

इलियट इधर-उधर का रोड़ा-पत्थर एक जगह कर एक ऐसी कविता और शैली का निर्माण करता है जो कुछ लोगों के लिए ही है तो दूसरी ओर रिचर्ड्स उसको उछालने का काम करता है। यह संकुचित दृष्टिकोण इस हद को पहुँच गया कि हर साहित्यिक अपना अकेला आलोचक बनने लगा और आलोचना कुछ विचित्र नारों की भीड़ बनने लगी।

आलोचना को इस प्रतिक्रियावाद और अवसरवादिता से पूर्ण मुक्ति केवल मार्क्सवादी दृष्टिकोण से मिल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि जब हम कला और साहित्य की आलोचना करने चलते हैं, उस समय हमें याद रखना चाहिए कि इनका स्वरूप निर्धारित होता है उनकी समकालीन आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को लेकर। साहित्य और कला में विभिन्न वर्गों के सम्बन्धों, उनके स्वार्थों और उन स्वार्थों को शक्ति पहुँचाने वाली नैतिकता, जीवन-दर्शन इत्यादि का प्रतिबिम्ब होना अनिवार्य है। इसलिए कला और साहित्य लक्ष्यहीन नहीं होते। आलोचना का यह काम है कि सतह पर तिरती हुई इन चीज़ों के नीचे भी वह जाये और जीवन को उन मूलभूत आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों की पीठिका में समझे। आलोचना को साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया और उसके सिद्धान्तों का विश्लेषण करना है, किन्तु इसमें वह तभी सफल हो सकती है जब आलोचक की आँखें ज़िन्दगी और समाज को उतनी ही गहराई से देख सकें जितनी गहराई से साहित्य का स्रष्टा देखता है। आलोचना के लिए उतनी ही मौलिक दृष्टि होनी चाहिए जितनी मौलिक दृष्टि शेष साहित्य के लिए—हम दोनों में कोई गुणात्मक भेद नहीं कर सकते और न यह कह सकते हैं कि काव्य से बेज़ार होकर ही लेखक आलोचक बन जाता है। आलोचक को ये आँखें केवल मार्क्सवाद दे सकता है।

इन आँखों के मिल जाने के बाद आलोचना के सामने विषय-वस्तु और रूप की समस्या भी नहीं रह जाती। पूँजीवादी आलोचना कला की द्वन्द्वात्मक प्रकृति पर पर्दा डालने के लिए वस्तु और रूप का यांत्रिक विभाजन कर, वस्तु को शाश्वत मान, केवल रूप का अध्ययन करती है। आज पूँजीवादी कलाकार और साहित्यकार जो अनेक उलझन-भरे, ऊबड़-खाबड़, संकुचित, माधुर्यहीन और वक्र रूपों का निर्माण कर रहे हैं उसका कारण वह यह बतलाती है कि संस्कृति की प्रवृत्ति दीक्षागम्यता की ओर है, जबकि वास्तविक कारण यह है कि इन रूपों के पीछे पूँजीवाद की पतनशील संस्कृति की सारी प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी हैं और जिस प्रकार उसके सामने कोई आदर्श नहीं है, चारों ओर संकट-ही-संकट और अँधेरा है, उसी प्रकार उसके साहित्य और कला के रूपों पर भी अन्धकार छाया हुआ है और वे पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर चक्कर मार रहे हैं। मार्क्सवादी आलोचक इस बात को समझता है कि बिना विषय-वस्तु के रूप की सृष्टि नहीं हो सकती और बिना रूप के विषय-वस्तु अस्तित्व में नहीं आ सकती। इसलिए दोनों में घनिष्ठ

सम्बन्ध का होना आवश्यक है। वस्तु अपने अनुरूप रूप की खोज करती है और रूप का गहरा असर वस्तु पर पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि आज पूँजीवादी साहित्य और कला पर जो संकट छाया हुआ है वह उस समय तक हल नहीं हो सकता जब तक हम उनकी मुक्ति पूँजीवादी पतनशील प्रवृत्तियों से नहीं करते। इसलिए आज की आलोचना का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम है कि वह उन प्रवृत्तियों पर निर्भय आक्रमण करे, उनका कला और साहित्य से बहिष्कार करे और स्वस्थ और सुन्दर वस्तु को प्रोत्साहन देकर कला और साहित्य को दलदल से निकाले और उनके सामने विकास का एक नया मार्ग प्रस्तुत करे। जो साहित्यकार या कलाकार आज की ज़िन्दगी से स्वस्थ प्रेरणाओं को ग्रहण करने के स्थान पर इन पतनशील प्रवृत्तियों को ही स्वीकार कर रूपों का प्रयोग कर ऊँचे साहित्य का निर्माण करना चाहता है, उसके हाथ असफलता के सिवा और कुछ नहीं लगने को। ऐसे ही प्रयोगवाद के शिकार 'अज्ञेय' हैं। आलोचना का काम यह स्पष्ट करना है कि यदि हम साहित्य और कला को अग्रसर करना चाहते हैं, उसमें नवीनता और लोककल्याण दोनों का समावेश करना चाहते हैं तो हमारे सामने आज इसके सिवा और कोई दूसरा रास्ता नहीं रह गया है कि सामन्तवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और फ़ाशिस्तवाद के शोषण, उनकी अमानुषिक प्रवृत्तियों, उनकी पतनशील और रुग्ण-चेतना के विरुद्ध उन संघर्षरत और प्रगतिशील वर्गों और विचारों का साथ दें जो सुन्दर और स्वस्थ जीवन का निर्माण कर रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें सोवियत, योरोप के जनवादी प्रजातंत्रों और नये चीन और दुनिया-भर के प्रगतिशील साहित्य में मिल सकता है। इसलिए आलोचना को इस बात की अहमियत को समझना चाहिए कि इस साहित्य का प्रचार हो, साहित्यकार और कलाकार उसकी शैली और उसके सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करें और उन्हें अपनावें।

यथार्थवाद की ही समस्या को ही लीजिए। यथार्थवाद कोई आधुनिक युग की ही देन नहीं है। 19वीं सदी के पूँजीवादी कलाकारों और साहित्यकारों ने भी यथार्थवाद की प्रणाली को अपनाकर काफ़ी ऊँचे साहित्य का निर्माण किया। उदाहरणार्थ, ज़ोला और फ़्लावेर ने पूँजीवादी संस्कृति की आदर्शहीनता, उसके खोखलेपन का काफ़ी निर्मम चित्र अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया। किन्तु उसके यथार्थवाद और रूस और जनवादी प्रजातंत्रों, नये चीन और प्रगतिशील लेखकों के यथार्थवाद में मौलिक और गुणात्मक भेद है। वह यह कि वे ज़िन्दगी का एक तटस्थ चित्र उपस्थित करते थे। वे हमें पूँजीवाद की पतनशील ज़िन्दगी की अँधेरी-से-अंधेरी गलियों में ले जाते हैं, जहाँ हमारी साँस रुँधने लगती है, जहाँ हम उस व्यवस्था के प्रति विद्रोह से भर जाते हैं जिसने ज़िन्दगी के मूल्यों को धूल में मिला दिया है, लेकिन फिर भी वे हमारे सामने ऐसा मार्ग प्रशस्त नहीं करते जिस पर चल कर हमें प्रकाश मिले, और हम एक स्वस्थ और सुन्दर जीवन की ओर अग्रसर

हों। दूसरी ओर, सोवियत साहित्य और अन्य देशों के प्रगतिशील साहित्य में हम एक दूसरे प्रकार का यथार्थवाद देखते हैं। यहाँ हम जीवन के प्रति एक सकारात्मक (Positive) दृष्टिकोण पाते हैं जो अपना अधिक समय इसी में नहीं लगाता कि जहाँ-जहाँ ज़िन्दगी का कूड़ा-करकट हो उसे इकट्ठा करता चले, वरन् जिसका अधिक समय उन चित्रों को संजोने में लगता है, जहाँ कहीं तो ज़िन्दगी शोषण-व्यवस्था से मुक्ति पाकर और नयी प्रेरणाओं से भरकर ऊँचे-ऊँचे मूल्यों का निर्माण करती जा रही है, जहाँ कल के सपने आज सच बनते जा रहे हैं और कहीं गोबर और चिमनियों के धुएँ में सना हुआ मनुष्य, अनेक मुसीबतों में बीच, अपने पसीने और खून को एक कर, उन सपनों के लिए लड़ता हुआ, एक नयी दुनिया बनाता जा रहा है, या जहाँ वे, जिन्हें अभी कल तक पूँजीवादी और साम्राज्यवादी शोषण जन्मना पतित, चोर और बदमाश कहकर लांछित करता आया था, अपनी कमर सीधी कर अपना सिर उठा रहे हैं और जहाँ ये मिट्टी के पुतले शूरमाओं में बदलते जा रहे हैं। आज की आलोचना को, इस यथार्थवाद को प्रोत्साहित और प्रचारित करना है, जो हमें जीवन को नज़दीक से देखने के साथ-साथ उसे गढ़ने और सँवारने की प्रेरणा और उल्लास दे, न कि जो हमें ज़िन्दगी की कोढ़ और गलाज़त से उबा दे और पस्तहिम्मत कर दे।

साहित्य और कला को इस दृष्टि से देखनेवाली आलोचना के लिए शैली और रूप की समस्या भी हल हो जाती है। आज के युग में जब सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चल रहा है उस समय प्रगतिशील साहित्य और आलोचना को जानिबदार, जनता का जानिबदार, बनना होगा। यह जानिबदारी ही साहित्य और कला की विषय-वस्तु और रूप—दोनों को ही—पुष्ट बना सकती है। जैसे-जैसे साहित्य और कला जन-संघर्ष के नज़दीक आते जायेंगे वैसे-वैसे न केवल उनकी विषय-वस्तु में ही विकास होगा, वरन् उनका रूप भी निखरता जायेगा। इसलिए जनवादी साहित्यकारों और कलाकारों के सम्मुख यह चीज स्पष्ट होनी चाहिए कि साहित्य और कला को जन-संघर्ष का अस्त्र बनाने का यह आशय कदापि नहीं कि हम उन्हें भोंडा बनाना चाहते हैं अथवा उनकी शैली और उनके रूपों के अति साधारणीकरण के हिमायती हैं। इस सम्बन्ध में हमें माओ-जे-तुंग के इन शब्दों को याद रखना चाहिए: "हम केवल उन्हीं कलाकृतियों की निन्दा नहीं करते जिनकी विषय-वस्तु हानिकारक और प्रतिक्रियावादी है, वरन् उनकी भी जो 'पोस्टर और नारों की शैली' पर निर्मित होती हैं, जो रूप का ध्यान बिलकुल छोड़कर केवल विषय-वस्तु पर जोर देती हैं। हमें साहित्य और कला के इन दो मोर्चों पर लड़ना है।" वस्तु और रूप की द्वन्द्वात्मक प्रकृति को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है और यह प्रत्येक कलाकार और साहित्यकार का अनुभव है कि संघर्ष में उनकी रचनाएँ तभी जमकर चोट करती हैं जब उनके रूप भी

निखरे होते हैं। इसलिए प्रगतिशील आलोचना का कर्त्तव्य है कि वह लेखकों और कलाकारों को जनता के सम्पर्क, निकटतम सम्पर्क में आने को आमंत्रित करे। हमारे जनवादी साहित्यिकों में भी विषय-वस्तु और यांत्रिकता का कारण अधिक अंश में यही है कि वे जन-संघर्ष को समीप से नहीं देखते। लेकिन यह बिलकुल सच है कि जब कला जनता के समीप आयेगी और जन-कला के रूपों को भी अपनाएगी, तो जनता में भी कला की प्यास बढ़ेगी, वह उसका आदर करेगी और इस प्रकार दोनों का आपसी लेन-देन दोनों को एक ऊँचे स्तर की ओर ले जायेगा। इसलिए आलोचना को लेनिन के इस वाक्य को गाँठ बाँध लेना चाहिए : "जनता से सीखना, जनता को सिखलाना, इन सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक प्रकृति और उनकी पारस्परिक निर्भरता को समझना।" इसका आशय यह हुआ कि जहाँ हम निरी 'पोस्टर और नारों की शैली' वाली रचनाओं की निन्दा करते हैं वहाँ हम उन जनवादी रचनाओं को सिर्फ इसलिए उपेक्षणीय नहीं समझ सकते कि उनमें गोर्की, रोम्याँ रोलाँ, टैगोर, प्रेमचन्द इत्यादि का रूप-सौंदर्य नहीं है। ऐसा करना प्रगतिशील साहित्य और उसकी नयी पौध के प्रति एक भारी अपराध होगा। आज ऐसी आलोचना की कमी नहीं जो इस नयी पौध की रचनाओं पर यह कह कर आक्रमण करती है कि उनमें हमारे कलासिक ग्रन्थों का निखार नहीं है, किन्तु इस आलोचना का आशय जन-संघर्ष को हानि पहुँचाना है। हम यह जानते हैं कि इस नयी पौध में वह निखार नहीं है जो अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य और कला में होना चाहिए, लेकिन इसके अतिरिक्त हम यह भी जानते हैं कि वही रास्ता है जिस पर हमारे साहित्य का प्रशस्त भविष्य है और उसी रास्ते पर चलकर निखार भी मिलेगा। जिसकी भुजाओं में बल है और जिसकी नसों में स्वस्थ रक्त है, उसके शरीर में धूल भले ही लिपटी हुई हो, लेकिन निखार और सँवार की सम्भावना भी उसी में है। सौन्दर्य की अनिवार्य शर्त शक्ति और स्वास्थ्य है। आलोचना को साहित्य और कला को इस शक्ति और स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से देखना है। जिन उँगलियों से जीवन के सत्य की शक्ति पानी की भाँति बाहर निकल गयी हो उन उँगलियों में भव्य रूप-निर्माण की भी क्षमता नहीं हो सकती। साहित्य के लिए, विशेषकर संघर्षशील साहित्य के लिए, मौलिता से बढ़कर कहीं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह अपनी समकालीन ज़िन्दगी और समाज के सत्य को पकड़ सके। अगर हम पंत जी के इधर के साहित्य को इस प्रकार देखें तो यह चीज़ स्पष्ट हो जाती है। अपने अनुसार उन्होंने हिन्दी साहित्य को 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा' में मौलिक चीज़ें दी हैं। यहाँ पर इसका सवाल नहीं है कि वे कितने मौलिक हैं—सवाल यह है कि इनमें जो कुछ भी उन्होंने दिया है वह बिलकुल भोंडा और असुन्दर है, यहाँ तक कि वे निरी तुकबन्दी पर उतर आये हैं। ज़िन्दगी के बाहर मौलिकता का नाटक निर्जीव शरीर को ढकेल-ढकेल कर चलाना है और आज के प्रतिक्रियावादी

लेखक और आलोचक सामन्तवादी, साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी संस्कृति के निर्जीव शरीर को मौलिकता के सहारे न सिर्फ खड़ा करना चाहते हैं, वल्कि युद्ध के मैदान में भेजना चाहते हैं !

आज की परिस्थिति में, संघर्ष के युग में, यह आलोचना का स्पष्ट कर्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे साहित्यकारों और कलाकारों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करे जो जन-संघर्ष का साथ दे रहे हैं, जो नयी जिन्दगी के निर्माण में सहयोग दे रहे हैं। सिर्फ इसलिए कि उनमें परिपक्वता नहीं आयी है और वे अभी तक अपने रास्ते की मंजिल तक नहीं पहुँच पाये हैं, हम उन्हें ठुकरा नहीं सकते। ऐसे लेखकों और कलाकारों को अपनी अनुदारता से ठुकरा देना जन-संघर्ष की शक्ति को घटाना होगा। वल्कि आलोचकों का यह भी कर्तव्य है कि वे नये-नये लेखकों और कलाकारों का जन-संघर्ष के साहित्य और कला के निर्माण में पथ-प्रदर्शन करें, उनके सामने नये नये विषयों का सुझाव रखें, उनकी कमज़ोरियों पर सही उँगली रखें और उनके दृष्टिकोण में दृढ़ता और विकास की आवश्यकता को उनके सामने रखें। किसी लेखक की प्रशंसा या निन्दा-भर कर देने से काम नहीं चल सकता। और जिस लेखक की हम प्रशंसा भी करते हैं उसकी कमज़ोरियों को छिपाना लेखक के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। आलोचना का काम साहित्यिक लेवुल चिपकाने से कहीं वढ़कर है।

और न हम उन साहित्यिकों को ही जन-संघर्ष का समर्थक मान लेंगे जो इसकी घोपणा करते हैं कि वे अपने साहित्य के द्वारा उसका समर्थन करते हैं। माओ-ज़े-तुंग ने मई 1942 में चीन के जनवादी साहित्यिकों और आलोचकों के सामने वोलते हुए यह स्पष्ट किया था कि केवल आशय की घोपणा के आधार पर हम किसी लेखक को नहीं जाँच सकते। आशय और प्रभाव की एकता आवश्यक है। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो कौन ऐसा लेखक है जो अपने को प्रतिक्रियावादी कहेगा ? क्या पंत क्रांति की वात नहीं करते, क्या वे नयी संस्कृति और नयी जिन्दगी का चित्र वनाने का दम नहीं भरते ? लेकिन उसमें राजभवन अपनी जगह पर रह जाता है और वड़ा पूँजीपति अपने धन की ढेरी पर, जिसे उसने इन्सानियत का खून करके एकत्र किया है, वैठा रह जाता है और इन दोनों के साथ सांठ-गांठ किये हुए साम्राज्यवाद पर भी कोई आँच नहीं आती। इसलिए ऐसे 'क्रांतिकारियों' की 'क्रांति' का रहस्य भी आलोचना खोलेगी। डॉक्टर रामविलास शर्मा ने उनकी जो आलोचना की है वह इसलिए नहीं कि पंत जी कम्युनिस्ट-विरोधी हैं, वल्कि इसलिए कि वे जन-विरोधी विचारों का प्रचार करने लगे हैं। आज की प्रगतिशील आलोचना को ऐसे लेखकों पर निर्मम प्रहार करना है जो जन-विरोधी शक्तियों की ओर से अपने साहित्य को हथियार की भाँति इस्तेमाल करते हैं। आज देश में प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कम करके आँकना खतरनाक चीज़ होगी। ऐसे साहित्य

के प्रति उपेक्षा या उदासीनता से काम लेना उन शक्तियों को बल पहुँचाना है और यह जन-संघर्ष के प्रति आलोचकों का अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार होगा। इस सम्बन्ध में माओ-जे-तुंग ने चीन के आलोचकों को सही रास्ता दिखलाते हुए कहा था: "साहित्य और कला की हमारी आलोचना संकुचित दृष्टि के दोष से मुक्त होनी चाहिए। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष और राष्ट्रीय एकता के आम सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हमें हर प्रकार और स्तर के राजनीतिक दृष्टिकोण वाले साहित्य और कला के प्रति सहनशील बनना होगा। किन्तु साथ-ही-साथ जब हम आलोचना करते हैं उस समय हमें अपने सिद्धांतों में और अपनी स्थिति पर दृढ़ होना चाहिए।" इसलिए जहाँ आज प्रगतिशील आलोचक किसी लेखक की निन्दा कम्युनिस्ट न होने के कारण ही नहीं करेगा, वहाँ वह किसी भी ऐसे लेखक के साथ नर्मी का व्यवहार नहीं कर सकता जो पतनशील और प्रतिक्रियावादी विचारों का प्रचार अपने साहित्य के माध्यम से करते हैं।

आज की प्रगतिशील आलोचना के सामने यह भी अत्यन्त महत्त्व का काम है कि हम अपने प्राचीन साहित्य का लेखा-जोखा इस दृष्टिकोण से करें। जिन लेखकों में हमें जनवादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उनकी रचनाओं का प्रचार करना होगा। इसका मतलब यह नहीं कि वे जिस रूप में हैं उस रूप में हम उन्हें सोलहो आने स्वीकार कर लें। आलोचना का काम है कि उनकी रचनाओं में वह राष्ट्रीय तत्त्वों, और सामन्तशाही और उसके अनेक रूपों जैसे सम्प्रदायवाद, और बड़े-बड़े पूँजीपतियों द्वारा जनशोषण इत्यादि की विरोधी प्रवृत्तियों को उनके प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से अलग करे और उनका महत्त्व आज के लेखकों को समझाये। आज की प्रतिक्रियावादी आलोचनाएँ प्रेमचन्द तक को जनकलाकार के रूप में न स्वीकार कर उन्हें सब वर्गों का कहती हैं, हालाँकि प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद, सामंतशाही और पूँजीवाद से टक्कर ली थी। तब भारतेन्दु-युग की बात तो दूर है! लेकिन यह काम आज की प्रगतिशील आलोचना का है कि वह उस युग के लेखकों और विशेषतः भारतेन्दु-साहित्य की जनवादी प्रवृत्तियों को हमारे सामने उभार कर रखे। इसका अर्थ आलोचना में अवसरवाद को जन्म देना नहीं है। यह करना इसलिए आवश्यक है कि हम नयी जिन्दगी के किले को हवा में नहीं खड़ा कर सकते। हमें अपने देश की प्रगतिशील और जनवादी परम्पराओं की परख करनी है और उन्हीं परम्पराओं के सहारे निर्माण के पथ पर अग्रसर होना है। इस दृष्टिकोण से भारतेन्दु-साहित्य का हमारे युग के लिए एक महान संदेश है और वह है साम्राज्यवाद से विरोध, अपनी संस्कृति की रक्षा, साहित्य और जनता में निकटतम सम्पर्क की आवश्यकता, जन-साहित्य और प्रौढ़ साहित्य में सम्पर्क और विनिमय का महत्त्व। और हमें न सिर्फ उनकी जनवादी प्रवृत्तियों से ही संतोष कर लेना होगा; हमें इसकी भी आवश्यकता है कि हम उनके द्वारा निर्मित साहित्य

के विभिन्न रूपों, उसकी शैलियों का गहरा अध्ययन करें। ज्दानोव ने सोवियत कलाकारों के सामने यह आदर्श रखा था : "इसके पूर्व कि हम क्लासिक ग्रंथों से आगे बढ़ सकें हमें उन तक पहुँचना जरूरी है।" यह हमारे लिए भी पथ-प्रदर्शन का काम कर सकता है।

हमें इस बात पर गर्व होना चाहिए कि न केवल साहित्य के क्षेत्र में ही वरन् आलोचना के क्षेत्र में भी हमारे यहाँ एक स्वस्थ प्रगतिशील परम्परा रही है, जिसने रीतिकालीन सामन्तवाद और साम्राज्यवादी विचारधाराओं से टक्कर ली है और हमें उससे बहुत कुछ सीखना और उसके सहारे आगे बढ़ना है। कविता में ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली वाले संघर्ष में हिन्दी आलोचना ने अपने इतिहास में एक सुनहला अध्याय जोड़ा था और उस समय खड़ी बोली की जीत नयी विचारधाराओं, विशेषतः राष्ट्रीय और सामाजिक सुधार की विचारधाराओं की जीत थी।

ब्रजभाषा की रीतिकालीन परम्परा, उसकी सामन्ती संस्कृति पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने व्यंगों द्वारा कड़ा आक्रमण किया और उस आक्रमण का सबसे अधिक ज़ोर हम केशव पर की गयी उनकी व्यंगपूर्ण आलोचनाओं में पाते हैं। आचार्य शुक्ल ने आलोचना के सामने लोकमंगल का आदर्श रखा और प्रभाववादी समीक्षा के सम्बन्ध में 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखा : "प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले; इसलिए नहीं कि आलोचक की भाव-भंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।" [पृ० 564] हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि जहाँ उन्होंने छायावाद की विवेचना अधिकतर एक नयी काव्य-शैली के रूप में की, वहाँ वे उसके सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहलू को एकदम भूले नहीं और उन्होंने उसे हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ा।

स्वयं छायावादियों ने, और विशेषतः उनके नेता पंत और निराला ने, पुराणपंथियों का जमकर मुक़ाबिला किया और उनकी नीति केवल आत्मरक्षा की न रहकर रीतिकालीन परम्परा पर आक्रमकण करने की रही। निराला जी ने अपने लेखों में स्वयं अपनी कविता और पन्तजी की कविता का समर्थन किया और उन्होंने 'अनामिका' की अपनी एक कविता 'मित्र के प्रति' में रीतिकालीन परम्परा पर यह व्यंग किया :

'सत्य, बन्धु, सत्य; वहाँ
नहीं अर्र-बर्र;

नहीं वहाँ भेक, वहाँ
नहीं टर्र-टर्र ।
एक यहीं आठ पहर
बही पवन हहर-हहर,
तपा-तपन, ठहर-ठहर
सजल कण उड़े;
गये सूख भरे ताल,
हुए रूख हरे शाल,
हाय रे, मयूर व्याल
पूँछ से जुड़े !'

'परिमल' की भूमिका में उन्होंने 'साहित्य में प्राचीन गुलामी प्रथा' को सामंती व्यवस्था की प्रतिच्छाया के रूप में देखते हुए अपने मुक्त छन्द के विषय में लिखा था : "इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासनों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख सकते हैं। अनुशासन के समुदाय चारों तरफ़ से उसे जकड़े हुए हैं—साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गये हैं। चित्र स्वयं ससीम हैं, इसलिए उन्हें प्यार करने-वाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है और इस तरह उस वृत्ति को धारण करने वाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतंत्र हो, पर पीछे से सीमा में बँधकर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के ही परिचायक होते हैं और क्रमश: मनुष्य-जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर तथा गुलाम से गुलाम कर देने वाले।" ['भूमिका,' 9, सम्वत् 1986] उन्होंने अपने मुक्त छन्द की शैली को देश की मुक्ति के प्रयासों के साथ जोड़ते हुए लिखा : "साहित्य में इस समय यही प्रयत्न ज़ोर पकड़ता जा रहा है और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं।" यह, समय को देखते हुए, हिन्दी आलोचना में विषय-वस्तु और रूप को एकसूत्र में बाँधने का पहला क्रांतिकारी प्रयास था। उसी दिशा में हम पंतजी की 'पल्लव' की भूमिका को भी एक महान प्रयास के रूप में ले सकते हैं।

ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली पर लिखते हुए उन्होंने खड़ी बोली की क्रांति-कारी भूमिका को पहचानते हुए लिखा : "उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन मधुऋतु थी; उसने रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी; उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसीमानस उमड़ पड़ा ! आज भी वह कुछ हाथों तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खंडहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे छिद्रों से दो-एक दन्त-हीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अंतिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने तथा प्रवीण कला-कुशल बाज़ीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद ये प्राण-हीन केंचुलियाँ शायद इनके आँख झाड़ने के काम आएँगी।

लेकिन यह अपवाद ही खड़ी बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पाँचजन्य उठा लिया, सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी-बोली उस जाग्रति की शंख-ध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जाग्रति का स्पन्दन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।" ('प्रवेश', पृ० 2) यह देखने की बात है कि ब्रजभाषा साहित्य में (जिसमें पंत जो भक्तिकाव्य के ब्रज और अवधी दोनों में लिखे गये ग्रन्थों को शरीक करते हैं) पंत जी उस भाग की सराहना करते हैं जो वैष्णव-धर्म की प्रगतिशील धार्मिक विचारधारा से ओत-प्रोत था। उनका झगड़ा सामन्तकाल की उस पतनशील रीतिकालीन परम्परा से है जहाँ बिहारी इत्यादि जैसे "पुष्प-धनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए।" (वही, पृ० 7) उन्होंने उसके दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर लिखा: "उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है जो उस नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है।" (वही, पृ० 3) उन्होंने रीतिकालीन संकुचित दृष्टिकोण और जीवन के प्रति उसकी उपेक्षा की आलोचना करते हुए यह व्यंग कसा: "इस तीन फुट के नख-शिख के संसार के बाहर ये कवि-पुंगव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों की लेखनी को—नायिका के अंगों चाटते-चाटते रूप की मिठास से बँधे रहे मुँह को खोलने-खखारने के लिए—कभी-कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं।" (वही, पृ० 9) इसी प्रकार उन्होंने, निराला की ही भाँति, रीतिकालीन काव्य-शैली पर चोट की: "इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सब में अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना; बस इसके सिवा कुछ नहीं!" (वही, पृ० 8)

पंतजी ने खड़ी बोली के आंदोलन के पीछे उसके सांस्कृतिक महत्त्व, एक नये जीवन की अभिव्यक्ति की आवश्यकता को समझा और इसीलिए 'पल्लव' की भूमिका हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मोड़ है। उन्होंने ब्रज-भाषा-साहित्य की रीतिकालीन जीवन-परम्परा के स्थान पर एक नये प्रकार के जीवन का उदय देखा और उनकी प्रगतिशीलता को पहचानकर उसका समर्थन किया। "हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बंदी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है।......हमें देश-काल की उपेक्षा करने वाले अपने राष्ट्र के भाग्यविधाता के विरुद्ध खड़े होकर झाड़-झंखाड़मय नवीन कुरूप-सृष्टि करने वाले इन ब्रज-भाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं, इनकी प्राचीन ब्रजभाषा की काशी, हमारे संसार के बाहर इन्हीं

की अहमन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती, उसकी अंधी गलियों में आधुनिक सभ्यता का विषद यान नहीं जा सकता, काल की त्रिवेणी में जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल संगम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है !" (वही, पृ० 11) और तत्कालीन प्रचलित रीतिकालीन आलोचना-पद्धति पर भी आक्रमण किया, क्योंकि उसमें जीवन का उल्लेख न होकर रीतिग्रन्थों का उल्लेख होता था : "रस-गंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी संचारी, व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके।" (वही, पृ० 39)

हिन्दी आलोचना की इस प्रगतिशील परम्परा से हम वहुत-कुछ सीख सकते हैं। आज हिन्दी की प्रतिक्रियावादी आलोचना उसका पूरा-पूरा विरोध करती है, क्योंकि वह जीवन और साहित्य को एक-दूसरे के निकट रखकर देखती है, क्योंकि वह साहित्य को सांस्कृतिक उत्थान-पतन का प्रतिविम्ब मानती है। और यह आलोचना की पद्धति उस समय की है जब हमारा संघर्ष साम्राज्यवाद और उसके खिलौने सामन्तवाद से चल रहा था, जब हममें राष्ट्रीयता की भावना का उफान था, जब हमारे देश में सरमायादारी भी संघर्ष कर रही थी उस साम्राज्य-वाद से। हम इस आलोचना पर इसलिए और भी गर्व कर सकते हैं कि इसी समय योरप के साम्राज्यवादी देशों में सास्कृतिक संकट के साथ-साथ साहित्यिक संकट का घटाटोप था और उस संकट से उसे बचाने के लिए अनेक प्रकार के 'वादों' का जन्म प्रतिक्रियावादी आलोचना की कृपा से हो रहा था। हिन्दी की यह आलोचना-पद्धति जानिबदार थी और वह उन सारी शक्तियों से मोर्चा लेती थी जो साम्राज्यवाद और सामंतवाद से गठबन्धन कर राष्ट्रीयता को धक्का पहुँचाती थीं। स्पष्ट है कि इस परम्परा का मूल्य हमारे लिए आज भी है और हमेशा रहेगा।

किन्तु हमें आलोचना की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों से भी सावधान रहना होगा। हमारे यहां भी ऐसी आलोचना की कमी नही (नगेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी) जो यौन-समस्याओं से भरे हुए साहित्य को उछालती है या और तरह-तरह की मानसिक कुंठाओं को साहित्य का स्रोत मानती है (जैसे अज्ञेय)। वह साहित्य की कृतित्व-शक्ति को कोई ऐसा वायवी गुण मानती है जो 'वौद्धिक सीमाओं' से परे है। अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में आलोचना को साहित्य का पिछलग्गू मात्र समझा है। उनका कहना है कि "हमें लेखकों को नहीं, समालोचकों को शिक्षित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। लेखक बन्धन से परे है और रहेगा।" प्रगतिशील आलोचना को यह स्पष्ट करना होगा कि कृतित्व-शक्ति विषय-वस्तु से अलग होकर अस्तित्व-हीन है। जिस तरह कुम्हार कोई वर्तन उस समय तक नही वना सकता जिस समय

तक उसके पास मिट्टी न हो और उसकी आँखों के सामने कोई रूप न हो, उसी प्रकार साहित्यकार और कलाकार की कृतित्व-शक्ति का कोई अर्थ नहीं जब तक हम उसके साथ उसकी विषय-वस्तु, उसके विचारों, उसकी शैली या उसके रूप का एक अटूट सम्बन्ध स्थापित न करें। इसलिए कोई भी कलाकार अपने समाज के प्रचलित मूल्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता और कलाकार को बन्धन से परे मानना वेसिर-पैर की बात है। जैसा कि लेनिन ने कहा था, "यह सम्भव नहीं कि हम समाज में रहें और उसके प्रभावों से मुक्त रहें।" लेकिन प्रतिक्रियावादी आलोचना द्वारा यह कहने की प्रथा-सी हो रही है कि साहित्य को 'युद्ध गीत' होने से बचाया जाये, क्योंकि साहित्यिक योद्धा होकर अपने उच्च पद से स्खलित हो जाता है। इसी तरह एक झूठी मानवता के नाम पर साहित्य और कला को ग़ैर-जानिबदार बनाने की माँग की जाती है। 'त्रिशंकु' में ही अज्ञेय ने लिखा है: "कलाकार को अमीर और ग़रीब, सुखी और दुखी, पीड़ित और पीड़क, दोनों के बारे लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखना चाहता है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुखी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ तो जीवन में हैं नहीं। दुख, अपूर्णता, पीड़ा, ये सर्वव्यापी हैं, ग़रीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है—इसे वे भी मानेंगे जो स्वयं ग़रीब हैं। और सुख और सन्तोष भी वर्ग-भेद नहीं देखते। तब कैसे एक वर्ग का सुख दूसरे वर्ग के सुख-दुख से अधिक वर्णनीय मान लिया जाये?" (पृ० 68) सवाल यहाँ अमीरों और ग़रीबों के सुख-दुख का नहीं है, सवाल है असल में साहित्यकार और कलाकार के स्वयं अपने रुख़ का, समाज के प्रति उसके रुख़ का, वर्गों के प्रति उसके रुख़ का और समाज में वर्ग-सम्बन्धों के प्रति उसके रुख़ का और इन सबके ऊपर सामाजिक उथल-पुथल, उसके विकास के प्रति उसके रुख़ का। साहित्यकार सम्भवतः सौन्दर्य और निर्माण का प्रेमी होता है, उसके सामने जीवन के कुछ मूल्य होते हैं और वह समाज में उसी वर्ग का साथ देता है जो उस सौंदर्य और निर्माण में उसका सहायक हो। यदि आज कोई लेखक पतनशील मानसिक गुत्थियों में उलझा हो तो वह साहित्यिक समाज या व्यक्ति के लिए सौन्दर्य और सृजन का कौन-सा सन्देश दे सकेगा? जब अभिजात वर्ग की पतनशील सभ्यता का जीवन के प्रति रुख़ ही सौंदर्यात्मक या सृजनात्मक नहीं है तो साहित्यिक दिन-रात उसके चित्रण द्वारा ऐसे साहित्य का निर्माण कैसे कर सकेगा जिसमें स्वस्थ और सुन्दर जीवन की तसवीर हो?

हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि यदि सुख-दुख की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ नहीं हैं तो शाश्वत श्रेणियाँ भी नहीं। हमारे सुख-दुख का आधार सामाजिक है। अमीरों और ग़रीबों के सुख और दुख में भी फ़र्क़ हो सकता है और होता है। आज तो यह कोई भी देख सकता है कि अमीरों के न केवल भौतिक सुख बल्कि

मानसिक सुख का भी साधन ग़रीबों के श्रम का शोषण है। जिस चीज़ से अकसर अमीरों को सुख मिलता है उसमे ग़रीबों को दुख मिलता है। पैसे के बल पर एक अमीर किसी ग़रीब नारी की इज्ज़त ख़रीदता है और सुख प्राप्त करता है, लेकिन वही उस ग़रीब नारी की विभीषिका है। क्या 'बन्धन से परे' रहनेवाला कलाकार उस व्यवस्था के प्रति उदासीन रह सकता है जिसमें यह सम्भव है ? क्या इसका कोई सामाजिक पक्ष नहीं है ? यदि कोई साहित्यकार और कलाकार इसके प्रति उदासीन रह सकता है तो फिर उसका सौंदर्य-प्रेम कहाँ गया ? हम साहित्य से यह माँग नहीं करते कि वह एकांगी हो—हम उससे जीवन के यथार्थ चित्र की माँग करते हैं—जिसमें समाज के सारे वर्गों का चित्र आना स्वाभाविक है। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि जिस साहित्यकार और कलाकार में अपने साहित्य और कला के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य के प्रति थोड़ी भी जागरूकता होगी वह इस चीज पर अवश्य प्रकाश डालेगा कि जीवन में जो-कुछ भी कटु वास्तविकताओं के रूप में मौजूद है उसका कारण कौन-सा वर्ग है या कौन-सी शक्तियां हैं। और यदि उसके साहित्य या कला में सुन्दर जीवन गढ़ने की कुछ भी लगन है तो वह कैसे उस वर्ग के प्रति, जो सारी गन्दगी का ज़िम्मेदार है, वही रुख़ रहेगा जो रुख़ उसके प्रति होगा जो उस गन्दगी का शिकार है ? इसलिए हम साहित्यिक से जानिबदारी की माँग करते हैं, क्योंकि जानिबदारी साहित्यिक की ईमानदारी, उसके सौंदर्य-प्रेम और उसके आदर्शों के प्रेमी हृदय की कसौटी है। हमारी आलोचना को इन सब समस्याओं पर तेज़ रोशनी डालनी होगी, ताकि इनके सम्बन्ध में फैले भ्रमों का निवारण हो सके।

संक्षेप में, यहाँ आलोचना की कुछ समस्याओं और हिन्दी-आलोचना की प्रमुख धाराओं का ज़िक्र हुआ है। इससे यह चीज़ स्पष्ट हो गयी होगी कि आलोचना और अन्य रचनात्मक साहित्य, दोनों के लिए ही समान रूप से जीवन और समाज को समझने की पैनी दृष्टि होनी चाहिए। आलोचक को उनका उतना ही गहन ज्ञान और उनका उतना ही विस्तृत अध्ययन होना चाहिए जितना यह किसी अन्य प्रकार के साहित्यिक के लिए आवश्यक है, क्योंकि आलोचक किसी रचना को उसके रूप के आधार पर ही न जांच कर उसके सामाजिक मूल्यों के भी आधार पर जांचता है और आलोचना के मान वर्ग-स्वार्थों से ऊपर नहीं है। इन सबका आशय यह हुआ कि आलोचना को एक परमुखापेक्षी कला के रूप में नहीं ग्रहण कर सकते। उसका वही सामाजिक, सांस्कृतिक रूप है जिस प्रकार शेष साहित्य का।

आलोचना के इस रूप को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हम आलोचना द्वारा जनवादी साहित्य का विकास नहीं कर सकते। आज के संघर्ष में जनवादी शक्तियों की जानकारी के अनुकूल में ही आलोचना दोस्तों और दुश्मनों की पहचान कर सकती है। अगर हमारी आलोचना इस महान उत्तरदा-

तक उसके पास मिट्टी न हो और उसकी आँखों के सामने कोई रूप न हो, उसी प्रकार साहित्यकार और कलाकार की कृतित्व-शक्ति का कोई अर्थ नहीं जब तक हम उसके साथ उसकी विषय-वस्तु, उसके विचारों, उसकी शैली या उसके रूप का एक अटूट सम्बन्ध स्थापित न करें। इसलिए कोई भी कलाकार अपने समाज के प्रचलित मूल्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता और कलाकार को बन्धन से परे मानना बेसिर-पैर की बात है। जैसा कि लेनिन ने कहा था, "यह सम्भव नहीं कि हम समाज में रहें और उसके प्रभावों से मुक्त रहें।" लेकिन प्रतिक्रियावादी आलोचना द्वारा यह कहने की प्रथा-सी हो रही है कि साहित्य को 'युद्ध गीत' होने से बचाया जाये, क्योंकि साहित्यिक योद्धा होकर अपने उच्च पद से स्खलित हो जाता है। इसी तरह एक झूठी मानवता के नाम पर साहित्य और कला को ग़ैर-जानिबदार बनाने की माँग की जाती है। 'त्रिशंकु' में ही अज्ञेय ने लिखा है: "कलाकार को अमीर और ग़रीब, सुखी और दुखी, पीड़ित और पीड़क, दोनों के बारे लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखना चाहता है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुखी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ तो जीवन में हैं नहीं। दुख, अपूर्णता, पीड़ा, ये सर्वव्यापी हैं, ग़रीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है—इसे वे भी मानेंगे जो स्वयं ग़रीब हैं। और सुख और सन्तोष भी वर्ग-भेद नहीं देखते। तब कैसे एक वर्ग का सुख दूसरे वर्ग के सुख-दुख से अधिक वर्णनीय मान लिया जाये?" (पृ० 68) सवाल यहाँ अमीरों और ग़रीबों के सुख-दुख का नहीं है, सवाल है असल में साहित्यकार और कलाकार के स्वयं अपने रुख़ का, समाज के प्रति उसके रुख़ का, वर्गों के प्रति उसके रुख़ का और समाज में वर्ग-सम्बन्धों के प्रति उसके रुख़ का और इन सबके ऊपर सामाजिक उथल-पुथल, उसके विकास के प्रति उसके रुख़ का। साहित्यकार सम्भवतः सौन्दर्य और निर्माण का प्रेमी होता है, उसके सामने जीवन के कुछ मूल्य होते हैं और वह समाज में उसी वर्ग का साथ देता है जो उस सौंदर्य और निर्माण में उसका सहायक हो। यदि आज कोई लेखक पतनशील मानसिक गुत्थियों में उलझा हो तो वह साहित्यिक समाज या व्यक्ति के लिए सौन्दर्य और सृजन का कौन-सा सन्देश दे सकेगा? जब अभिजात वर्ग की पतनशील सभ्यता का जीवन के प्रति रुख़ ही सौंदर्यात्मक या सृजनात्मक नहीं है तो साहित्यिक दिन-रात उसके चित्रण द्वारा ऐसे साहित्य का निर्माण कैसे कर सकेगा जिसमें स्वस्थ और सुन्दर जीवन की तसवीर हो?

हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि यदि सुख-दुख की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ नहीं हैं तो शाश्वत् श्रेणियाँ भी नहीं। हमारे सुख-दुख का आधार सामाजिक है। अमीरों और ग़रीबों के सुख और दुख में भी फ़र्क हो सकता है और होता है। आज तो यह कोई भी देख सकता है कि अमीरों के न केवल भौतिक सुख बल्कि

मानसिक सुख का भी साधन ग़रीबों के श्रम का शोषण है। जिस चीज़ से अकसर अमीरों को सुख मिलता है उसमें ग़रीबों को दुख मिलता है। पैसे के बल पर एक अमीर किसी ग़रीब नारी की इज्ज़त ख़रीदता है और सुख प्राप्त करता है, लेकिन वही उस ग़रीब नारी की विभीषिका है। क्या 'बन्धन से परे' रहनेवाला कलाकार उस व्यवस्था के प्रति उदासीन रह सकता है जिसमें यह सम्भव है? क्या इसका कोई सामाजिक पक्ष नहीं है? यदि कोई साहित्यकार और कलाकार इसके प्रति उदासीन रह सकता है तो फिर उसका सौंदर्य-प्रेम कहाँ गया? हम साहित्य से यह माँग नहीं करते कि वह एकांगी हो—हम उससे जीवन के यथार्थ चित्र की माँग करते हैं—जिसमें समाज के सारे वर्गों का चित्र आना स्वाभाविक है। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि जिस साहित्यकार और कलाकार में अपने साहित्य और कला के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य के प्रति थोड़ी भी जागरूकता होगी वह इस चीज़ पर अवश्य प्रकाश डालेगा कि जीवन में जो-कुछ भी कटु वास्तविकताओं के रूप में मौजूद है उसका कारण कौन-सा वर्ग है या कौन-सी शक्तियाँ हैं। और यदि उसके साहित्य या कला में सुन्दर जीवन गढ़ने की कुछ भी लगन है तो वह कैसे उस वर्ग के प्रति, जो सारी गन्दगी का ज़िम्मेदार है, वही रुख़ रहेगा जो रुख़ उसके प्रति होगा जो उस गन्दगी का शिकार है? इसलिए हम साहित्यिक से जानिबदारी की माँग करते हैं, क्योंकि जानिबदारी साहित्यिक की ईमानदारी, उसके सौंदर्य-प्रेम और उसके आदर्शों के प्रेमी हृदय की कसौटी है। हमारी आलोचना को इन सब समस्याओं पर तेज़ रोशनी डालनी होगी, ताकि इनके सम्बन्ध में फैले भ्रमों का निवारण हो सके।

संक्षेप में, यहाँ आलोचना की कुछ समस्याओं और हिन्दी-आलोचना की प्रमुख धाराओं का ज़िक्र हुआ है। इससे यह चीज़ स्पष्ट हो गयी होगी कि आलोचना और अन्य रचनात्मक साहित्य, दोनों के लिए ही समान रूप से जीवन और समाज को समझने की पैनी दृष्टि होनी चाहिए। आलोचक को उनका उतना ही गहन ज्ञान और उनका उतना ही विस्तृत अध्ययन होना चाहिए जितना यह किसी अन्य प्रकार के साहित्यिक के लिए आवश्यक है, क्योंकि आलोचक किसी रचना को उसके रूप के आधार पर ही न जाँच कर उसके सामाजिक मूल्यों के भी आधार पर जाँचता है और आलोचना के मान वर्ग-स्वार्थों से ऊपर नहीं हैं। इन सबका आशय यह हुआ कि आलोचना को एक परमुखापेक्षी कला के रूप में नहीं ग्रहण कर सकते। उसका वही सामाजिक, सांस्कृतिक रूप है जिस प्रकार शेष साहित्य का।

आलोचना के इस रूप को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हम आलोचना द्वारा जनवादी साहित्य का विकास नहीं कर सकते। आज के संघर्ष में जनवादी शक्तियों की जानिबदारी के अनुबन्धमें ही आलोचना दोस्तों और दुश्मनों की पहचान कर सकती है। अगर हमारी आलोचना इस महान उत्तरदा-

तक उसके पास मिट्टी न हो और उसकी आँखों के सामने कोई रूप न हो, उसी प्रकार साहित्यकार और कलाकार की कृतित्व-शक्ति का कोई अर्थ नहीं जब तक हम उसके साथ उसकी विषय-वस्तु, उसके विचारों, उसकी शैली या उसके रूप का एक अटूट सम्बन्ध स्थापित न करें। इसलिए कोई भी कलाकार अपने समाज के प्रचलित मूल्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता और कलाकार को बन्धन से परे मानना बेसिर-पैर की बात है। जैसा कि लेनिन ने कहा था, "यह सम्भव नहीं कि हम समाज में रहें और उसके प्रभावों से मुक्त रहें।" लेकिन प्रतिक्रियावादी आलोचना द्वारा यह कहने की प्रथा-सी हो रही है कि साहित्य को 'युद्ध गीत' होने से बचाया जाये, क्योंकि साहित्यिक योद्धा होकर अपने उच्च पद से स्खलित हो जाता है। इसी तरह एक झूठी मानवता के नाम पर साहित्य और कला को ग़ैर-जानिबदार बनाने की माँग की जाती है। 'त्रिशंकु' में ही अज्ञेय ने लिखा है: "कलाकार को अमीर और ग़रीब, सुखी और दुखी, पीड़ित और पीड़क, दोनों के बारे लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखना चाहता है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुखी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ तो जीवन में हैं नहीं। दुख, अपूर्णता, पीड़ा, ये सर्वव्यापी हैं, ग़रीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है—इसे वे भी मानेंगे जो स्वयं ग़रीब हैं। और सुख और सन्तोष भी वर्ग-भेद नहीं देखते। तब कैसे एक वर्ग का सुख दूसरे वर्ग के सुख-दुख से अधिक वर्णनीय मान लिया जाये?" (पृ० 68) सवाल यहाँ अमीरों और ग़रीबों के सुख-दुख का नहीं है, सवाल है असल में साहित्यकार और कलाकार के स्वयं अपने रुख़ का, समाज के प्रति उसके रुख़ का, वर्गों के प्रति उसके रुख़ का और समाज में वर्ग-सम्बन्धों के प्रति उसके रुख़ का और इन सबके ऊपर सामाजिक उथल-पुथल, उसके विकास के प्रति उसके रुख़ का। साहित्यकार सम्भवतः सौन्दर्य और निर्माण का प्रेमी होता है, उसके सामने जीवन के कुछ मूल्य होते हैं और वह समाज में उसी वर्ग का साथ देता है जो उस सौंदर्य और निर्माण में उसका सहायक हो। यदि आज कोई लेखक पतनशील मानसिक गुत्थियों में उलझा हो तो वह साहित्यिक समाज या व्यक्ति के लिए सौन्दर्य और सृजन का कौन-सा सन्देश दे सकेगा? जब अभिजात वर्ग की पतनशील सभ्यता का जीवन के प्रति रुख़ ही सौंदर्यात्मक या सृजनात्मक नहीं है तो साहित्यिक दिन-रात उसके चित्रण द्वारा ऐसे साहित्य का निर्माण कैसे कर सकेगा जिसमें स्वस्थ और सुन्दर जीवन की तसवीर हो?

हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि यदि सुख-दुख की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ नहीं हैं तो शाश्वत् श्रेणियाँ भी नहीं। हमारे सुख-दुख का आधार सामाजिक है। अमीरों और ग़रीबों के सुख और दुख में भी फर्क हो सकता है और होता है। आज तो यह कोई भी देख सकता है कि अमीरों के न केवल भौतिक सुख बल्कि

मानसिक सुख का भी साधन ग़रीबों के श्रम का शोषण है। जिस चीज़ से अकसर अमीरों को सुख मिलता है उससे ग़रीबों को दुख मिलता है। पैसे के बल पर एक अमीर किसी ग़रीब नारी की इज्जत ख़रीदता है और सुख प्राप्त करता है, लेकिन वही उस ग़रीब नारी की विभीषिका है। क्या 'बन्धन से परे' रहनेवाला कलाकार उस व्यवस्था के प्रति उदासीन रह सकता है जिसमें यह सम्भव है ? क्या इसका कोई सामाजिक पक्ष नहीं है ? यदि कोई साहित्यकार और कलाकार इसके प्रति उदासीन रह सकता है तो फिर उसका सौंदर्य-प्रेम कहाँ गया ? हम साहित्य से यह माँग नहीं करते कि वह एकांगी हो—हम उससे जीवन के यथार्थ चित्र की माँग करते हैं—जिसमें समाज के सारे वर्गों का चित्र आना स्वाभाविक है। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि जिस साहित्यकार और कलाकार में अपने साहित्य और कला के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य के प्रति थोड़ी भी जागरूकता होगी वह इस चीज़ पर अवश्य प्रकाश डालेगा कि जीवन में जो-कुछ भी कटु वास्तविकताओं के रूप में मौजूद है उसका कारण कौन-सा वर्ग है या कौन-सी शक्तियाँ हैं। और यदि उसके साहित्य या कला में सुन्दर जीवन गढ़ने की कुछ भी लगन है तो वह कैसे उस वर्ग के प्रति, जो सारी गन्दगी का ज़िम्मेदार है, वही रुख़ रहेगा जो रुख़ उसके प्रति होगा जो उस गन्दगी का शिकार है ? इसलिए हम साहित्यिक से जानिबदारी की माँग करते हैं, क्योंकि जानिबदारी साहित्यिक की ईमानदारी, उसके सौंदर्य-प्रेम और उसके आदर्शों के प्रेमी हृदय की कसौटी है। हमारी आलोचना को इन सब समस्याओं पर तेज़ रोशनी डालनी होगी, ताकि इनके सम्बन्ध में फैले भ्रमों का निवारण हो सके।

संक्षेप में, यहाँ आलोचना की कुछ समस्याओं और हिन्दी-आलोचना की प्रमुख धाराओं का ज़िक्र हुआ है। इससे यह चीज़ स्पष्ट हो गयी होगी कि आलोचना और अन्य रचनात्मक साहित्य, दोनों के लिए ही समान रूप से जीवन और समाज को समझने की पैनी दृष्टि होनी चाहिए। आलोचक को उनका उतना ही गहन ज्ञान और उनका उतना ही विस्तृत अध्ययन होना चाहिए जितना यह किसी अन्य प्रकार के साहित्यिक के लिए आवश्यक है, क्योंकि आलोचक किसी रचना को उसके रूप के आधार पर ही न जाँच कर उसके सामाजिक मूल्यों के भी आधार पर जाँचता है और आलोचना के मान वर्ग-स्वार्थों से ऊपर नहीं हैं। इन सबका आशय यह हुआ कि आलोचना को एक परमुखापेक्षी कला के रूप में नहीं ग्रहण कर सकते। उसका वही सामाजिक, सांस्कृतिक रूप है जिस प्रकार शेष साहित्य का।

आलोचना के इस रूप को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हम आलोचना द्वारा जनवादी साहित्य का विकास नहीं कर सकते। आज के संघर्ष में जनवादी शक्तियों की जानिबदारी के अनुबन्धमें ही आलोचना दोस्तों और दुश्मनों की पहचान कर सकती है। अगर हमारी आलोचना इस महान उत्तरदा-

यित्व को भूल जाती है तो कभी तो वह अनेक संकीर्णताओं और अति-उदारवादी भूलों के दलदल में फँस जायेगी। हमारी आलोचना उन शक्तियों से ज़बरदस्त टक्कर लेगी जो जनवादी शक्तियों के विरुद्ध सिर उठाएँगी, लेकिन उन साहित्यिकों के साथ उदारता का व्यवहार भी करेगी जो पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाज और संस्कृति की समस्याओं को नहीं समझते किन्तु जो शोषण और प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं का आमतौर से विरोध करते हैं। उदारता का आशय यह नहीं कि हमारी आलोचना को चाहिए कि वह उनकी कमज़ोरियों पर पर्दा डाले, इसका आशय सिर्फ यह है कि वह उनके साथ दुश्मनों का व्यवहार न करे। इस सम्बन्ध में हमें माओ-ज़े-तुंग और कुओ मो-जो की आलोचनात्मक रचनाओं से अपना रास्ता तय करने में मदद मिलेगी। आज विशेषतः हमारी आलोचना के सामने फिर एक बड़ी ज़िम्मेदारी है और उस ज़िम्मेदारी का निर्वाह हम तभी कर सकते हैं जब हम अपने समाज का गहरा अध्ययन कर सकते हों, जब हम उसकी अनेक शक्तियों, उनके सम्बन्धों और उनकी टक्करों की परख कर सकते हों। आज आवश्यकता है कि हमारी आलोचना जनवादी साहित्यिकों को प्रेरित करे। और हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस प्रयत्न में हमें नफ़रत और प्यार दोनों से ही काम लेना होगा—केवल प्यार से नहीं।

—लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य से साभार

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार

नामवर सिंह

इतिहास लिखने की ओर कोई जाति तभी प्रवृत्त होती है जब उसका ध्यान अपने इतिहास के निर्माण की ओर जाता है। यह बात साहित्य के बारे में उतनी ही सच है जितनी जीवन के। हिन्दी में आज इतिहास लिखने के लिए यदि विशेष उत्साह दिखायी पड़ रहा है तो यही समझा जायेगा कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सारा भारत जिस प्रकार सभी क्षेत्रों में इतिहास-निर्माण के लिए आकुल है, उसी प्रकार हिन्दी के विद्वान एवं साहित्यकार भी अपना ऐतिहासिक दायित्व निभाने के लिए प्रयत्नशील हैं। पहले भी जब साहित्य का इतिहास लिखने की परम्परा का सूत्रपात हुआ था तो सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों के इतिहास-निर्माण के साथ ही। यदि आरम्भिक इतिहासों के इतिहास में न जाकर पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को ही लें, जो हिन्दी साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास माना जाता है, तो उसकी ऐतिहासिकता द्योतित करने के लिए उस युग का राष्ट्रीय आन्दोलन समानान्तर दिखायी पड़ेगा। राजनैतिक इतिहास-ग्रन्थों का सिलसिला भी उसी ऐतिहासिक दौर में जमा। परन्तु शुक्लजी के इतिहास के सन्दर्भ में जो सबसे प्रासंगिक तथ्य है वह है तत्कालीन रचनात्मक साहित्य की ऐतिहासिक क्रान्ति—कविता और कथा-साहित्य का नवीन सृजनात्मक प्रयत्न। साहित्य का वैसा इतिहास तभी सम्भव हुआ जब साहित्य-रचना के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक परिवर्तन आया, जब सच्चे अर्थों में इतिहास बना।

इसके अतिरिक्त, शुक्लजी का इतिहास 'हिन्दी शब्द सागर' के साथ आया था, जिसके आसपास ही पं० कामताप्रसाद गुरु का पहला प्रामाणिक 'हिन्दी व्याकरण' भी निकला था। साहित्य का इतिहास, शब्दकोश एवं व्याकरण—क्या इन तीनों का एक साथ बनना आकस्मिक है? यह तथ्य इसलिए ध्यान देने योग्य है कि आज फिर जब साहित्यिक इतिहास लिखने का उत्साह उमड़ा है तो साथ-साथ शब्दकोश और व्याकरण के संशोधन एवं परिवर्तन के प्रयत्न भी हो रहे हैं; बल्कि जिस काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पिछले ऐतिहासिक दौर में ये तीनों कार्य किये

थे, वही संस्था आज फिर बहुत बड़े पैमाने पर तीनों योजनाओं के साथ प्रस्तुत है।[7] और चूंकि अब हिन्दी का कार्यक्षेत्र पहले से कहीं अधिक व्यापक हो गया है, इसलिए इस प्रकार के प्रयत्न यदि अन्य अनेक जगहों से भी हों तो स्वाभाविक ही कहा जायेगा, जैसे भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग की ओर से तीन जिल्दों में प्रकाशित होनेवाला 'हिन्दी-साहित्य'। इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि आज भी हिन्दी उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतः तत्पर है, जो कि उससे अपेक्षित हैं। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि अपनी विशेष सुविधाओं के कारण अन्य भाषाएँ जो कार्य काफ़ी पहले कर चुकी हैं उसे थोड़े समय में ही जल्दी-से-जल्दी पूरा करके हिन्दी भी सबके साथ आ जाना चाहती है, बल्कि सम्भव हुआ तो आगे निकल जाने के लिए भी आकुल है। सभा एवं परिषद के बृहद-मध्यम इतिहास अनायास ही 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंगलिश लिटरेचर' और 'आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंगलिश लिटरेचर' की याद दिला देते हैं। जैसा कि इन हिन्दी इतिहासों का मन्तव्य स्पष्ट किया गया है, "कोई एक लेखक सभी विषयों पर विशेषज्ञता की दृष्टि से विचार नहीं कर सकता है, इसलिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के सहयोग से ऐसा इतिहास प्रस्तुत किया जाये जिसमें नवीनतम खोजों और नवीन व्याख्याओं का समुचित उपयोग हो सके।" ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थों की एक निश्चित उपयोगिता है किन्तु यह उनकी अनिवार्य सीमा भी है। इस सीमा को ध्यान में रखकर ही साहित्यिक इतिहास पर पुनर्विचार सम्भव है।

ये ग्रन्थ अपनी प्रकृति से सूचना-धर्मी हैं और आवश्यक जानकारी के लिए समय-समय पर इन्हें देखने की जरूरत पड़ती है। अपने सर्वोत्तम रूप में ये इतिहास की सामग्री ही हो सकते हैं, इतिहास नहीं। जिन ग्रन्थों का लक्ष्य नवीनतम खोजों और नवीन व्याख्याओं का 'उपयोग' करना-भर हो, उनका उपयोग अधिक-से-अधिक नवीनतम खोजों और नवीन व्याख्याओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए ही हो सकता है। नवीन व्याख्याओं का 'उपयोग' इतिहास नहीं है, इतिहास स्वयं एक नयी व्याख्या है। ये स्वयं इतिहास को बनाने या बदलने में असमर्थ हैं, इनका उपयोग करके कोई चाहे तो इतिहास भले ही बना दे। इसीलिए इन ग्रन्थों की समस्याएँ भी दूसरे प्रकार की हैं जिनका सम्बन्ध पाठालोचन, काल-निर्णय, तथ्य संग्रह, तथ्य-चयन, सामग्रियों के वर्गीकरण आदि से है। काल-विभाजन की समस्या भी एक तरह से इन्हीं समस्याओं से सम्बद्ध है जो हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों को प्रायः सबसे बड़ी समस्या मालूम होती है और इतिहास पर पुनर्विचार करते समय सबसे पहले इस काल-विभाजन की समस्या को ही सामने रखा जाता है—यहाँ तक कि काल-विभाजन हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी पुनर्विचार का पर्याय हो चला है। ध्यान से देखा जाये तो इनमें से एक भी ठेठ इतिहास की समस्या नहीं है। जहाँ अब तक की प्राप्त सामग्री के वर्गीकरण एवं

सम्पादन की समस्या प्रधान हो वहाँ विचार का रूप बहुत-कुछ शुद्ध 'तकनीकी' होगा, जैसा कि पुस्तकालय-विज्ञान या संग्रहालय-विज्ञान में होता है। जहाँ दृष्टि अतीतोन्मुखी हो वहाँ इतिहास नहीं है, क्योंकि इतिहास में दृष्टि भविष्योन्मुखी होती है और इतिहास की चिन्ता का केन्द्र-बिन्दु ठेठ समसामयिक होता है।

वस्तुतः इतिहास लिखने का कार्य वही कर सकता है जो स्वयं इतिहास बनाने में योग देता है अथवा दिलचस्पी रखता है—इतिहास अर्थात समसामयिक इतिहास, क्योंकि जो बीत चुका उसका अब क्या बनाया जा सकता है? इसलिए साहित्य के इतिहास की मुख्य समस्या है समसामयिक साहित्य की समस्या; अन्य युगों की समस्याएँ सहायक हैं, अथच गौण। इस प्रकार जो समसामयिक साहित्य की समस्याओं से जूझ रहे हैं, वे इतिहास न लिखते हुए भी वस्तुतः इतिहास बनाने में योग दे रहे हैं। समसामयिक साहित्य के सन्दर्भ में उठी हुई सारी समस्याएँ इतिहास की समस्याएँ हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य के अनेक इतिहासकार अपने इतिहास में समसामयिक साहित्य की चर्चा करने से प्रायः कतराते रहे हैं और अपनी इस कमी या कमजोरी को ढकने के लिए तरह-तरह के सिद्धान्त गढ़ते रहे हैं। वैसे, समसामयिक साहित्यकारों तथा साहित्य-कृतियों की चर्चा लक्षण-मात्र है, अपने-आपमें नितान्त अनिवार्य न होते हुए भी वस्तुतः यह एक इतिहासकार की बद्धमूल ऐतिहासिक समझ का आभास देती है। इससे एक इतिहासकार की अपनी ऐतिहासिक सीमा का पता चलता है।

समसामयिक साहित्य का इतिहास बनाने में सबसे अधिक योग एक रचनाकार का होता है, क्योंकि रचना के द्वारा ही इतिहास का निर्माण सम्भव है; किन्तु कभी-कभी, और आज की जटिल परिस्थिति में तो अधिकांशतः, रचनाकार को भी समीक्षक का कार्य करना पड़ता है। निस्सन्देह इस कार्य में उसे कतिपय समीक्षकों का भी सहयोग प्राप्त होता है जो अनिवार्यतः सहमतिपरक न होते हुए भी अन्ततः इतिहास की सामान्य धारा के लिए उपयोगी होता है। चूंकि साहित्य-समीक्षा के द्वारा ही समसामयिक समस्याओं का विचार सम्भव है, इसलिए जहाँ तक इतिहास लिखने का कार्य है उसका उत्तरदायित्व एक समीक्षक के ही कन्धों पर है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि बहुत काफ़ी जानकारी तथा सूचनाओं की पूंजी रखते हुए भी कोई विद्वान अध्यापक यदि जागरूक समीक्षक नहीं है तो एक अध्यापक की हैसियत से वह 'इतिहास' नहीं लिख सकता—इतिहास के नाम पर कोई सूचनाधर्मी कार्य भले कर दे। ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी-साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास लिखनेवाले पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने युग के सबसे जागरूक आलोचक भी थे—बल्कि वे मूलतः आलोचक ही थे और उनके 'इतिहास' का स्थायित्व उनके आलोचनात्मक मूल्यांकन के कारण है। निस्सन्देह वे साहित्य एवं दर्शन के गम्भीर विद्वान भी थे और उस विद्वत्ता के योग से उनकी

समीक्षा दृष्टि और भी प्रखर हो उठी; किन्तु जहाँ तक उनके इतिहास का विद्वत्ता-प्राप्त पक्ष है उसका आधार स्वयं उन्हीं के शब्दों में अन्य विद्वानों का ही श्रमसिद्ध 'वृत्तान्त' रहा है। इधर कुछ ऐसी परम्परा चल पड़ी है कि इतिहास-लेखन एवं साहित्य समीक्षा के बीच सम्बन्ध टूट गया है। इतिहास लिखने का कार्य अध्यापकों ने अपने ज़िम्मे कर लिया है और समसामयिक साहित्य की समीक्षा लिखने का कार्य साहित्य-जीवी लेखक करते हैं या फिर पत्रकार (और अध्यापक तो सब-कुछ करने का अधिकार रखता ही है, इसलिए कभी-कभी कृपापूर्वक किसी कृति की समीक्षा भी लिख देता है।)।

परन्तु इतिहास-लेखन एवं साहित्य-समीक्षा का सम्बन्ध-विच्छेद और भी गहरे स्तर पर हो चुका है। इतिहास की समस्याएँ अलग मानी जाती हैं और साहित्य-समीक्षा की समस्याएँ अलग। उदाहरण के लिए, इतिहास की समस्याओं पर विचार करते समय यदि कोई आलोचना के प्रतिमान की बात उठा दे तो समझा जायेगा कि विषय से बाहर की बात है, गोया काल-विभाजन वगैरह ही इतिहास की अपनी समस्याएँ हैं। इतिहास और आलोचना के इस विलगाव से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे साहित्य-चिन्तन में अतीत और वर्तमान के बीच कितनी गहरी और चौड़ी खाई आ गयी है। व्यवहार में परिणाम प्रकट है : इतिहास नामधारी इधर के अधिकांश ग्रन्थों का आलोचना-पक्ष दरिद्र है; किसी कवि या कृति के बारे में जाने कब की स्थिर की हुई मान्यताएँ प्रमाण-पत्र की तरह उद्धृत होती चली आ रही हैं। दो-चार नये तथ्यों के विवरण भले जुड़ जायें, किसी कवि-कृति या युग-प्रवृत्ति का मूल्यांकन यथावत बना रहता है, गोया तथ्य और मूल्यांकन में कोई सम्भावित सम्बन्ध नहीं है और न नये तथ्यों के द्वारा मूल्यांकन में किसी प्रकार के परिवर्तन की आशंका ही है। ऐसे अविचलित इतिहासकारों के लिए नवीनतम खोजों का उपयोग क्या और अनुपयोग क्या? खोज में प्राप्त नये तथ्य ऐसे इतिहास में स्थान पाकर भी क्या करेंगे—पाताल-फोड़ कुएँ में दस लोटा दूध डालिये चाहे सौ लोटा, क्या फ़र्क पड़ता है!

निस्सन्देह जुलाई, '54 की त्रैमासिक 'आलोचना' में 'इतिहास का पुनर्नवीकरण' शीर्षक सम्पादकीय के अन्तर्गत सम्भवतः पहली बार स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "इतिहास के नवीकरण का प्रश्न समीक्षा के नवीकरण का प्रश्न हो जाता है।" किन्तु वहाँ इस कथन पर आगे और विचार न देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह एक वाक्य अनायास ही कलम से फिसल गया हो। निश्चयवाचक 'है' के स्थान पर 'हो जाता है' क्रिया स्वयं एक प्रकार के अनिश्चय का आभास देती है। इससे पहले अक्तूबर, '52 की त्रैमासिक 'आलोचना' के इतिहास-विशेषांक के सम्पादकीय में भी हिन्दी-साहित्य की नयी-पुरानी सभी प्रवृत्तियों को "विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में रखकर जाँचने" और चन्द से

लेकर पंत तक की "कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करने" की आवाज उठायी गयी है, लेकिन वहाँ भी स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया कि इतिहास के पुनर्नवीकरण की समस्या वस्तुतः आलोचना के प्रतिमान के पुनर्नवीकरण की समस्या है। यह अस्पष्टता इतिहास और आलोचना के आपसी सम्बन्ध के बारे में दिमाग़ी अस्पष्टता को सूचित करती है, क्योंकि अनजान ढंग से तो किसी-न-किसी रूप में हर इतिहासकार आलोचना करता ही है और आलोचक भी इतिहास का हवाला देता ही रहता है, लेकिन मुख्य प्रश्न इसके प्रति आत्मचेता होने का है, वरना 'अन्धे के हाथ बटेर' लगी भी तो क्या ?

इसलिए साहित्य के इतिहासकार की पहली समस्या 'समसामयिकता के बोध' की है और यह कहते हुए मुझे पता है कि सिद्धान्त रूप से इस बात को सभी जानते हैं और स्वयंसिद्धि के समान मानते भी हैं। कठिनाई सिर्फ इतनी है कि यह केवल जान लेने और मान लेने की बात नहीं है। कौन नहीं कहता कि हर युग की आवश्यकता के अनुसार इतिहास की बार-बार पुनर्व्यवस्था होनी चाहिए ? परिवर्तन का सत्य इतना प्रत्यक्ष है कि बड़े-से-बड़ा शाश्वतवादी भी 'संसार परिवर्तन शील है' कहता पाया जाता है। जुलाई, '54 की 'आलोचना' के उसी सम्पादकीय में "इतिहास के युगीन-सापेक्ष पुनर्नवीकरण की आवश्यकता" व्यक्त की गयी है और इस बात पर खेद प्रकट किया गया है कि "हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की प्रगति युग-जीवन की प्रगति के साथ नहीं चल सकी है।" किन्तु इसके बाद ही हिन्दी साहित्य के इतिहासों की जो युग-सापेक्ष सीमाएँ बतलायी गयी हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक इतिहास की युग-सापेक्षता के बारे में समझ कितनी सतही हो सकती है। उदाहरण के लिए, शुक्लजी के इतिहास की युग-सापेक्ष सीमा बतलाते हुए जहाँ तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण की राजनीतिक पृष्ठभूमि को तूल दिया गया है वहाँ यह अत्यन्त प्रासंगिक प्रश्न नहीं उठाया गया कि साहित्य के सम्बन्ध में शुक्लजी का ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपने समकालीन साहित्य के रागबोध से किस हद तक निर्धारित हुआ था ? यदि शुक्लजी का इतिहास सचमुच ही युग-सापेक्ष था तो उसे प्रथमतः साहित्यिक स्तर पर युग-सापेक्ष होना चाहिए। कवियों, कृतियों एवं प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में शुक्लजी की जो विशेष प्रकार की साहित्यिक अभिरुचि दिखायी पड़ती है, उस पर उनके समकालीन काव्य-बोध का कितना गहरा रंग है ? शुक्लजी के इतिहास की आलोचना करते हुए क्या यह प्रश्न कभी उठाया गया है ? किसी को उनके पक्के काल-विभाजन को तोड़ने की चिन्ता है तो किसी को किसी कवि-सम्बन्धी मूल्यांकन से मतभेद; किसी को कुछ छूट जाने की शिकायत है तो किसी को कुछ जोड़ देने की लालसा—लेकिन इस तथ्य की ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि इतिहास की हर व्याख्या और हर मूल्यांकन कालक्रम से स्वयं उस इतिहास के अभिन्न अंग

बन जाते हैं। आगे चलकर उनका मूल्यांकन करने के लिए हर कोई स्वतंत्र है, लेकिन इतिहास का एक तथ्य मानकर। फिर वह तथ्य चाहे जितना 'ग़लत' हो, लेकिन है इतिहास का अमिट तथ्य। ऐसी स्थिति में उसकी साहित्यिक युग-सापेक्षता सबसे पहले विचारणीय है। परन्तु उस युग-सापेक्षता का ठीक-ठीक निर्णय करने के लिए इस बारीक भेद का विवेक होना बहुत ज़रूरी है कि इतिहासकार समीक्षक का काव्य-बोध 'सदोष' है या 'सीमित'।

इसी प्रकार पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य : उद्भव और विकास' प्रकाशित हुआ तो अनेक लोगों का धीरज छूट गया और बहुतों की ओर से शिकायत आयी कि यह इतिहास द्विवेदीजी के गौरव के अनुकूल नहीं है, वैसे ज़्यादातर लोगों को उसके सम्यक् अद्यतन न हो पाने का कष्ट था। यह जानते हुए भी कि इतिहास घोषित रूप से छात्रों के उपयोगार्थ लिखा गया है, किसी का ध्यान उसके युग-सापेक्ष साहित्यिक बोध की नवीनता एवं सीमा की ओर नहीं गया। शुक्लजी के इतिहास के साथ उसे मिलाकर किसी ने यह देखने की कोशिश नहीं की कि दोनों इतिहासों में जो एक पीढ़ी का अन्तर है उसके कारण परम्परा के निरूपण एवं मूल्यांकन में कहाँ-कहाँ अन्तर आ गया है! क्या यह आकस्मिक है कि शुक्लजी ने जहाँ तुलसीदास को अपना मानदंड बनाया, द्विवेदीजी ने कबीरदास को? यही नहीं, बल्कि उन्होंने तुलसीदास को भी कबीर के रंग में रँग दिया? और नहीं तो शुक्लजी और द्विवेदीजी के तुलसीदास सम्बन्धी विचारों की तुलना से ही स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों इतिहासकारों के ऐतिहासिक-बोध में कितना और क्या अन्तर है। यह अन्तर सूरदास की समीक्षा में भी देखा जा सकता है या फिर मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द आदि तथाकथित रीतिकालीन कवियों की तुलनात्मक समीक्षा में क्या अक्खड़ता, फक्कड़ता, सहजता, मस्ती आदि के आधार पर साहित्यिक परम्परा बाँधनेवाले द्विवेदीजी के इतिहास तथा उनकी पीढ़ी के दिनकर, नवीन, भगवतीचरण वर्मा आदि 'जवानी' के कवियों में कोई बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध नहीं है? और यहाँ भी उस बात को एक बार फिर दुहराना आवश्यक है कि इतिहास की यह व्याख्या भी इतिहास का एक अमिट तथ्य है। यह किसी आचार्य की सम्मति नहीं है कि प्रमाणपत्र के रूप में चुपचाप नत्थी कर दी जाये और न किसी की व्यक्तिगत चुनौती ही है कि अपनी मौलिकता प्रमाणित करने के लिए खामखाह ग़लत काटी जाये।

तात्पर्य यह कि इन दो इतिहासों की प्रचलित आलोचनाओं से स्पष्ट है कि इतिहास पर पुनर्विचार करनेवालों में स्वयं अपने युग का बोध कितना कम है। जिसे इतिहास के एक तथ्य की युग-सापेक्षता का बोध न हो उसके अपने युग-सापेक्ष बोध का क्या प्रमाण? पूर्ववर्ती इतिहासों एवं इतिहासकारों की अन्धाधुन्ध आलोचना इतिहास का पुनर्विचार नहीं है और न ही है उनकी तथ्य अथवा

व्याख्या-सम्बन्धी सीमाओं को 'ग़लत' मानना। 'ग़लती' युग-निरपेक्ष होती है, जब कि किसी इतिहास की युग-सापेक्ष 'ग़लती' 'सीमा' कहलाती है।

जब किसी पूर्ववर्ती इतिहास में ग़लती दिखायी पड़े तो उसके साथ अपने युग-बोध के अन्तर का परीक्षण करना वास्तविक ऐतिहासिक बोध है। ऐसी स्थिति में इस तथ्य की छानबीन आवश्यक हो जाती है कि उस इतिहासकार ने ऐसी व्याख्या क्यों की? क्यों उसने किसी कृति को मूल्यवान माना और किस प्रकार का है उसका मूल्य? उस मूल्य का स्रोत क्या है? यदि आज हम उससे सहमत होने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं तो क्यों? हमारे भीतर का वह कौन-सा तत्त्व है जो असहमति प्रकट कर रहा है और इस तत्त्व के पीछे कौन-सा समसामयिक बोध है? लेकिन ये प्रश्न तभी उठ सकते हैं जब इन तमाम व्याख्याओं का अव-रोध पार करके मूल कृति के साथ हमारा सीधा साक्षात्कार सम्भव हो सके—ऐसा साक्षात्कार जो प्रथम परिचय जैसा प्रत्यग्र एवं संवेदनक्षम हो। इतिहास-सम्बन्धी पुनर्विचार का आरम्भ कदाचित इसी प्रक्रिया से होता है, अन्यथा 'पुनर्विचार के नाम पर 'पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं' का, ही दृश्य उपस्थित होगा, मुसकानेवाले 'हरगन' भले ही न दिखें।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आज की हिन्दी मनीषा में 'समसामयिकता के बोध' का नितान्त अभाव है। निश्चित रूप से हमारे सामने अपना एक 'जीवित' रचनात्मक साहित्य है, इससे सम्बद्ध एक ओर जागरूक रचनाकार हैं तो दूसरी ओर ग्रहणशील पाठक भी, और एक हद तक दोनों ही अपनी ऐतिहासिक परम्परा के प्रति सचेत साकांक्ष हैं। किन्तु कुछ तो आज का व्यापक सांस्कृतिक संकट, उससे उत्पन्न कुछ नये साहित्य की क्षणवादी प्रवृत्ति और कुछ नये साहित्य के प्रति साहित्य के विद्वानों का कभी विरोध भाव एवं कभी उपेक्षा भाव—नयी पीढ़ी अपने इतिहास के प्रति यदि उदासीन नहीं तो काफ़ी सशंक हो उठी है और कुल मिला-कर इतिहास-विधायक शक्तियों में एक हद तक बिखराव आ गया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसे स्वयंसिद्ध वक्तव्य की इतनी साग्रह पुनरुक्ति! अन्यथा कौन नहीं जानता कि वर्तमान साहित्य को समझने-समझाने और आँकने के लिए आलो-चना के प्रतिमान बनते हैं तथा वर्तमान साहित्य को समझने-समझाने एवं आँकने के लिए ही इतिहास भी लिखा जाता है। इस प्रकार लक्ष्य की एकता प्रतिमान-निर्माण एवं इतिहास-निर्माण की प्रक्रिया को भी आरम्भ से ही समेकित कर देती है। 'परम्परा और प्रगति' तथा 'परम्परा और प्रयोग' पर इधर जो इतनी सैद्धा-न्तिक तथा व्यावहारिक चर्चा हुई, वह भी एक प्रकार से इतिहास पर पुनर्विचार ही है, निस्सन्देह एकेडेमिक क्षेत्रों में 'इतिहास पर पुनर्विचार' को जिस रूप में समझा जाता है, उससे इसकी संज्ञा भिन्न है। शायद विद्वानों के उस शब्दकोश में 'परम्परा' और 'इतिहास' अकारादिक्रम से ही अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि अर्थ

की दृष्टि से भी विजातीय हैं। यहाँ तो ऐसी स्थिति है कि जब तक साफ़ शब्दों में शीर्षक देकर लिख नहीं दिया जायेगा कि यह 'इतिहास' पर पुनर्विचार है, तब तक लोग मानेंगे ही नहीं कि परम्परा-सम्बन्धी किसी विचार की प्रासंगिकता इतिहास में सम्भव है।

अज्ञेय ने टी० एस० इलियट के विख्यात निबन्ध का भावानुवाद 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक से सन् '40 के आसपास ही कर लिया था और इस प्रकार वह निबन्ध हिन्दी की अपनी समीक्षा-परम्परा के अन्तर्गत एक ऐतिहासिक तथ्य बन-कर स्थापित हो गया, किन्तु इतिहास पर पुनर्विचार करते हुए कितने लोगों ने इस तथ्य को लक्षित किया? क्या यह भी कहना पड़ेगा कि वह निबन्ध एक नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण का ही नहीं, बल्कि हिन्दी के एक साहित्यकार के माध्यम से हिन्दी में एक नये ऐतिहासिक बोध के उदय का सूचक है?

उस निबन्ध में साफ़ कहा गया है कि "परम्परा के सजीव स्पन्दन की चेतना के लिए निरी जानकारी और पांडित्य ज़रूरी नहीं हैं" अर्थात एक बहुत बड़े पंडित के लिए वह दुर्लभ हो सकती है और एक अनुभूति-प्रवण नवयुवक उसे अनायास ही प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसमें अपने वर्तमान का तीखा बोध होता है और चूँकि "जागरूक वर्तमान अतीत की एक नये ढँग की और नये परिमाण में अनुभूति का नाम है, जैसी और जितनी अनुभूति उस अतीत को स्वयं नहीं थी", इसलिए वर्तमान के गहरे बोध के माध्यम से ही उसे अतीत की भी ऐतिहासिक चेतना सहज प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार "अतीत और वर्तमान के इस दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक वर्तमानता और उनकी एक-सूत्रता की, निरन्तर अनु-भूति ही ऐतिहासिक चेतना है।" इस ऐतिहासिक चेतना से युक्त होने के कारण ही समर्थ नया लेखक यह देख लेता है कि अतीत के साहित्य का कितना अंश आज भी हमारे लिए जीवन्त या जीविष्णु है। यदि इतिहास लिखने का हौसला रखने-वाले अनेक विद्वान इस विवेक में सफल न दिखायी पड़ें तो यही कहा जायेगा कि उन्हें अपने वर्तमान का सम्यक बोध नहीं है, इसलिए अतीत का भी बोध नहीं है। जो अपने युग के बोध से रिक्त है, वह किसी दूसरे युग को जान सकने में क्योंकर समर्थ होगा? आखिर अतीत युग 'जैसा था' वैसे-का-वैसा आज किस प्रकार जाना जा सकता है? प्रमाण-विद्या का यह बहुत ही जटिल प्रश्न है।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार की ऐतिहासिक चेतना आज सचमुच कितने लोगों में है? यदि केवल कुछ लेखकों और कुछ सहृदय पाठकों में यह चेतना हो भी तो इतने से क्या हो सकता है?

यदि किसी युग के बहुसंख्यक समाज में परम्परा का जीवित बोध हो तो सम्भवतः साहित्य के इतिहास की कोई आवश्यकता ही न रहे। जिस जाति के लिए सम्पूर्ण परम्परा एक जीता-जागता वर्तमान सत्य हो, उसे अलग से इतिहास

पढ़ने की आवश्यकता क्यों पड़े ? ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में जो अलग से इतिहास लिखने की प्रणाली नहीं थी उसका एक कारण सम्भवतः यह भी था। उस युग के अधिकांश लोगों के लिए सारा अतीत साहित्य बहुत-कुछ समसामयिक-जैसा रहा होगा और बहुत सम्भव है कि वे सम्पूर्ण साहित्यिक परम्परा को समसामयिक-सा ग्रहण करके रसास्वादन करने में समर्थ रहे होंगे।

कालक्रम से यह परम्परा टूट गयी, इसीलिए अतीत को वर्तमान से जोड़ने के लिए इतिहास-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य का मर्म' में इस कष्टदायक अवस्था के परिणामों की ओर काफ़ी पहले संकेत किया था : "जब नये विज्ञान-युग का आविर्भाव इस देश में हुआ तो दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा-पद्धति एकदम अभारतीय हो गयी और नवीन शिक्षितों के सामने हमारे देश की एक सुचिन्तित विचारधारा का उत्तराधिकार नहीं मिला...देश के विचारशील लोगों को यह अवस्था कष्टदायक लगी। नाना भाव से अपने देश को समझने-समझाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया। विशेषज्ञों का एक दल—जिसमें विदेशी पण्डितों का महत्त्वपूर्ण स्थान था—अपने देश की विद्या का अध्ययन करके लुप्त होती हुई सामग्री का उद्धार करने में लग गया। बहुत-कुछ बचाया जा सका, बहुत-कुछ उबारा जा सका, परन्तु इन विषयों का उस प्रकार उपयोग नहीं किया जा सका जिस प्रकार जीवन-रस देनेवाले साहित्य का होना चाहिए। प्रधान प्रेरणा-स्रोत विदेशी विचारक बने रहे और इस देश के शिक्षितों ने अपने पुराने साहित्य के प्रति एक ऐसा मनोभाव पैदा कर लिया जिसे अंग्रेज़ी में 'म्यूज़ियम इंन्टरेस्ट' कहते हैं। यह एक दृष्टि से बहुत बुरा हुआ। इनको यदि सम्पूर्ण समाज की बृहत्तर पटभूमिका में रख कर और प्रधान प्रेरणा-स्रोत मानकर अपना आलोचना-मान निर्धारित किया गया होता तो कुछ और ही फल होता। सामाजिक पटभूमि से विच्छिन्न हो कर हमारे प्राचीन ग्रन्थ केवल प्रदर्शनी की वस्तु रह गये। उसका अधिक-से-अधिक उपयोग केवल इतना समझा गया कि उनसे प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन में सहायता मिलती है।"

यह स्थिति बहुत-कुछ आज भी है, यहाँ तक कि इतिहास पर पुनर्विचार करते समय भी अधिकांश चर्चा पाश्चात्य विचारकों के विचारों की उद्धरणी होकर रह जाती है; अपनी प्रस्तुत समस्याओं से वे सिद्धान्त निकलते हुए नहीं दिखते, बल्कि उन्हें बाहर से लेकर अपने यहाँ 'लागू' करने की समस्या रह जाती है। और स्वाभाविक है कि इस प्रकार सिद्धान्त को व्यवहार में 'लागू' करते हुए क्वचित-कदाचित मेल न खाये। इसलिए हिन्दी के इतिहास-सिद्धान्त-सम्बन्धी पहली और अभी तक अकेली पुस्तक 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' में श्री नलिनविलोचन शर्मा जैसे कृती कवि, कहानीकार, आलोचक एवं प्राध्यापक को भी यदि यही कठिनाई दिखायी पड़ती है तो कोई आश्चर्य नहीं होता। संसार के प्रायः समस्त साहित्यों

की प्रचलित ऐतिहासिक पद्धति का विवरण देने एवं हिन्दी साहित्य के समस्त इतिहासों की सूक्ष्म समीक्षा करने के बाद जब नलिनजी स्वयं ही हिन्दी साहित्य की परम्परा निरूपित करने चलते हैं तो उनके निष्कर्षों की अतिसरलता देखकर दंग रह जाना पड़ता है। यहाँ तक कि स्वयं उसी निबन्ध में बार-बार टी० एस० इलियट के निबन्ध का उद्धरण देते हुए भी वे हिन्दी साहित्य की परम्परा—भौतिकता, यथार्थता, मानववाद, मानवतावाद और धार्मिकता जैसी—पाँच सदानीरा धाराओं के रूप में गिनाते हैं। इसे अतिसरलता कहें या कोई अपरिहार्य विवशता!

हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस प्रकार जो भौतिकता, यथार्थता, मानववाद, मानवतावाद एवं धार्मिकता की पाँच परम्पराएँ दिखायी गयी हैं, वे संसार के किसी भी साहित्य में दिखलायी जा सकती हैं, वस्तुतः वे हिन्दी साहित्य की अपनी विशिष्ट परम्पराएँ नहीं हैं। इसलिए बहस इनके होने या न होने को लेकर नहीं है और न इस संख्या को घटाने या बढ़ाने पर ही कोई आग्रह है। बहस इस बात से भी नहीं है कि ये तथाकथित सदानीरा धाराएँ साहित्यिक हैं या नहीं। बहस है उस ऐतिहासिक दृष्टि से, उस ऐतिहासिक पद्धति से जो किसी साहित्य की विशिष्ट जटिलता की परीक्षा न करके एक सरल रूपाकार या पैटर्न के रूप में ऊपर से अरोपित कर दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि हमारे यहाँ वर्तमान का सम्बन्ध परम्परा से कितना टूट चुका है, साथ ही इससे यह भी सूचित होता है कि हमारी ऐतिहासिक चिन्तन-पद्धति भी ठोस ऐतिहासिक वास्तविकता से कितनी अलग जा पड़ी है; और यह स्थिति और भी खतरनाक है। जब किसी साहित्य में वर्तमान का सम्बन्ध अतीत से टूट जाता है तो चिन्तन-पद्धति भी वास्तविक परम्परा से विच्छिन्न होकर अमूर्त सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता के संकीर्ण हवा-महल में कैद हो जाती है।

वस्तुतः एक प्रकार से यह खतरा स्वयं ऐतिहासिक चिन्तन-पद्धति क्या, किसी भी चिन्तन-पद्धति में प्रकृत्या अन्तर्निहित है; क्योंकि इतिहास-लेखन एक प्रकार का सामान्यीकरण है—मूर्त तथ्यों से निकाले हुए अमूर्त नियमों का विचारक्रम। इसलिए जीवन्त तथ्यों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखने के लिए भी इतिहास पर सतत विचार करते रहना आवश्यक है। अपनी ऐतिहासिक चेतना को जीवन्त बनाये रखने के लिए ऐतिहासिक वास्तविकता की जटिलता का अहसास होते रहना आवश्यक है। इतिहास-सम्बन्धी पुनर्विचार का अर्थ है क्रमशः अपने वास्तव-बोध को जटिल बनाते रहना। चूँकि हमारे जाने या अनजाने किसी-न-किसी प्रकार का इतिहास-बोध सदा हमारे साथ है, इसलिए उसके दुरुपयोग के संकट से बचने के लिए इतिहास-बोध को सतत सूक्ष्मतर एवं यथातथ्य बनाये रखना नितान्त आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में बहुचर्चित 'काल-विभाजन' की समस्या ली जा सकती है।

हिन्दी साहित्य को तिथिक्रम की दृष्टि से, आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल—तीन काल-खंडों में बाँटने की परिपाटी है; मध्यकाल के दो उपविभाग हैं : पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल। आधुनिक काल का विभाजन कई ढंग से किया जाता है जिनमें पच्चीस-पच्चीस वर्षों का विभाजन अधिक प्रचलित है। इस काल-विभाजन का साहित्यिक रूप वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल, छायावाद-युग, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि नामों से स्थापित है। काल-विभाजन का यह ढाँचा बहुत-कुछ शुक्लजी के इतिहास द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। बहुत दिनों से इसमें संशोधन उपस्थित किये जा रहे हैं। एक भक्तिकाल को छोड़कर प्रायः सभी नामों के औचित्य को चुनौतियाँ दी गयी हैं। प्रायः प्रत्येक युग के अन्तर्गत एक से अधिक साहित्यिक प्रवृत्तियों के अस्तित्व की ओर संकेत किया गया है। एक युग के अन्दर अनेक प्रवृत्तियों के मिलने से हर युग के अन्तर्विरोध का पता चलता है और कभी-कभी इस अन्तर्विरोध के कारण युग-विभाजन का ढाँचा चरमराता दिखता है। कुछ लोगों ने इस काल-विभाजन-व्यवस्था के अन्तर्गत सीमा-रेखाओं को कहीं-कहीं दस-बीस वर्ष इधर-उधर भी करने की कोशिश की है और कुछ लोगों ने, यदि प्राचीन नहीं तो, आधुनिक काल में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं के अनुसार युग की सीमा-रेखाएँ निर्धारित करने का सुझाव रखा है। इधर 'भारतीय हिन्दी परिषद्' से 'हिन्दी-साहित्य' का जो द्वितीय खंड प्रकाश में आया है उसमें आदि, मध्य, आधुनिक तीन कालों को तोड़कर प्राचीन एवं आधुनिक—केवल दो कालों का अस्तित्व वैज्ञानिक माना गया है जो, और नहीं तो, राजनीतिक इतिहासों की परिपाटी के अनुरूप तो है ही; क्योंकि हिन्दी-साहित्य के उदय-काल से भारतीय इतिहास के केवल मध्यकाल और आधुनिक काल—दो ही होते हैं। परन्तु नागरी-प्रचारिणी सभा के बृहद इतिहास में मूलतः ढाँचा प्रायः शुक्लजी के ही इतिहास का रखा गया है, बल्कि भेदोपभेदों की जटिलता के द्वारा उसे और भी खंड-खंड कर दिया गया है जो नलिनजी के शब्दों में "भारतीय मनीषा के ह्रासकालीन वर्गीकरण-प्रेम के सर्वथा अनुरूप है।"

इस विचार-वैविध्य की सतह के नीचे साहित्य के सामान्य विद्यार्थियों का वह विशाल समूह है जो अविचल चित्त से शुक्लजी द्वारा निर्धारित काल-विभाजन को ही स्वीकार किये चल रहा है। विवादों के कोलाहल से घबड़ाकर कुछ विद्वान भी अन्ततः शुक्लजी के ही काल-विभाजन में अपना चित्त स्थिर करते पाये जाते हैं : 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै।' इधर कोई परिवर्तन हुआ तो नहीं पता, किन्तु 'रीतिकाव्य की भूमिका' में डॉ० नगेन्द्र ने भी यही स्वीकार किया है कि शुक्लजी का काल-विभाजन "वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, बहुत-कुछ संगत एवं विवेकपूर्ण है।"

'साहित्य का इतिहास-दर्शन' में युग-विभाजन की जटिल समस्या में अन्त-निहित कठिनाइयों पर रोशनी डालने के लिए श्री नलिनविलोचन शर्मा ने 'ऑक्स-फ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंगलिश लिटरेचर' का यह उद्धरण दिया है—

"किसी युग, सप्ताह या दिवस में जो जीवन वस्तुतः जिया जाता है वह ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों और असम्प्रेषित, असम्प्रेष्य तक, अनुभवों से बना होता है जो समस्त आलेखों को चकमा दे जाते हैं। जो कुछ भी बचता है, संयोग से ही बचता है। ऐसे आधार पर, मैं समझता हूँ, वैसे ज्ञान तक पहुँचना असम्भव है जो इति-हास के 'दर्शन' के विचार में अन्तर्निहित है। ऐतिहासिक युगों पर आरोपित प्रवृ-त्तियों, 'अर्थों' और 'गुणों' के बारे में यह भी कहना रह जाता है कि वे उन्हीं युगों में सर्वाधिक परिलक्षित होते हैं जिनका हमने न्यूनतम अध्ययन किया है। किन्तु यद्यपि 'युग' सदोष विभाजन है, फिर भी वे पद्धतिक अनिवार्यता हैं।"

स्वयं नलिनजी ने इसके बाद हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में अपनी ओर से काल-विभाजन की कोई नयी योजना प्रस्तुत नहीं की है और न उन्होंने इतिहास में युग-विभाजन की 'पद्धतिक अनिवार्यता' पर आगे और प्रकाश ही डाला है। इसलिए इस 'पद्धतिक अनिवार्यता' के प्रश्न को थोड़ा और आगे बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। क्या यह 'पद्धतिक अनिवार्यता' सचमुच अनिवार्य है? यह अनिवार्यता क्या इतिहास के तथ्यों से पुष्ट होती है? 'युग' इतिहास की तथ्य-पूर्ण वास्तविकता है या इतिहासकार के मन से उत्पन्न एक अवबोध? इतिहास में समय-समय पर आनेवाले परिवर्तन ऐतिहासिक तथ्य हैं या इतिहासकारों द्वारा खोजे हुए 'सत्य'? इसके अतिरिक्त, राजनीतिक इतिहास की तरह क्या साहि-त्यिक इतिहास में भी इस प्रकार की क्रांतियाँ या परिवर्तन वस्तुतः परिलक्ष्य है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि साहित्य के इतिहास में जितनी क्रांतियाँ वस्तुतः होती नहीं, उनसे अधिक गिना दी जाती हैं? यदि ऐसा है तो जैसा कि ज्याक बार्जून ने कहीं कहा है, ऐसी 'बौद्धिक व्यवस्था' (intellectual order) से इतिहास की वह 'बोधगम्य अव्यवस्था' (intelligible disorder) ही अच्छी। यदि युगविभाजन इतिहास की केवल 'पद्धतिक अनिवार्यता' है तो इसका औचित्य केवल ऐतिहा-सिक बोध की उपयोगिता से ही समर्थित हो सकता है। इसलिए यदि इस पद्धति के द्वारा इतिहास के वास्तविक रूप को समझने में बाधा पड़ती है तो इसे छोड़ देने में ही कल्याण है।

और हिन्दी साहित्य के इतिहास का अभी तक जैसा काल-विभाजन किया गया है, उसके परिणामों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि इन युग-विभाजनों से इतिहास के वास्तविक स्वरूप को समझने में बाधा ही पहुँची है। इन प्रस्ता-वित कालों के कारण हमारा साहित्यिक इतिहास खंडित हुआ है। इन युगों के द्वारा हमें इतिहास के खंडचित्र प्राप्त होते हैं, इतिहास का अखंड प्रवाह नहीं

मिलता। जिस संक्रमण-बिन्दु अथवा सन्धिरेखा पर इतिहास दो युगों में तोड़ा जाता है, वहाँ इतिहास की चिन्ताधारा ही नहीं टूटती, वलिक इस टूटने की क्रिया में वहुत-कुछ छूट भी जाता है और छूटा ही रह जाता है। इसी प्रकार एक काल-खंड का व्यवस्थित ढाँचा बनाते समय कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य, अथवा ऐसे तथ्य जो महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं, समेटने से रह जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, इस प्रवृत्ति का सबसे खतरनाक असर समीक्षा-पद्धति पर पड़ता है। साहित्य की शिक्षा प्राप्त करने के वाद जव हिन्दी के छात्र समसामयिक साहित्य की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं तो उनका ध्यान मुख्यत: विभाजन एवं वर्गीकरण की ओर रहता है। वे किसी रचनाकार या रचना के वैशिष्ट्य का मूल्यांकन करने की अपेक्षा उसमें उस सामान्य गुण की खोज पहले करते हैं जिसके द्वारा वह किसी अन्य रचनाकार अथवा रचना के सदृश या उससे सम्बद्ध दिखायी पड़ती है; और इस प्रकार वे 'प्रवृत्तियों' का निरूपण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन-अध्यापन में सुविधा के लिए ही प्राय: ऐसा किया जाता है, किन्तु इससे निश्चय ही किसी रचना के स्वच्छ रसास्वादन एवं स्वस्थ मूल्यांकन में वाधा पड़ती है। इससे किसी छात्र, अध्यापक या आलोचक का काम चाहे कितना सरल हो जाये, लेकिन यह सरलता बड़ी महँगी पड़ती है। इस प्रवृत्ति के कारण आलोचना का कार्य इतना 'सरल' हो गया है कि हर कोई प्रवृत्तियों पर लेख लिखकर आलोचक वन बैठा है। इस 'प्रवृत्ति-मार्ग' की प्रतिक्रिया में यदि हिन्दी-साहित्य का अधिकांश पाठक समुदाय निवृत्ति-मार्गी हो जाये तो किमाश्चर्यमत: परम्। इस साहित्यिक अहित की ज़िम्मेदारी किस पर होगी ? ध्यान देने की बात यह है कि आज के अनेक रचनाकारों ने इस प्रचलित प्रवृत्ति के प्रति घोर असन्तोष प्रकट किया है।

वस्तुतः इस प्रवृति-निरूपण का घातक प्रभाव साहित्य-रचना के क्षेत्र पर भी पड़ता है और स्पष्टत: आज पड़ भी रहा है। जब कोई रचनाकार देखता है कि किसी रचनाकार का उल्लेख आलोचना में केवल इसलिए होता है कि उसमें किसी वाद, सम्प्रदाय या प्रवृत्ति की अधिकांश विशेषताएँ आपातत: मिल जाती हैं तो वह अपनी विशिष्ट रचना-प्रक्रिया को छोड़कर उस प्रवृत्ति-विशेष से सम्बद्ध होने के लिए प्रचलित सामान्य परिपाटी का ही अनुसरण करना श्रेयस्कर समझता है। इस प्रकार रचना के क्षेत्र में नये प्रयोगों की सम्भावना कुंठित होती है और केवल रूढ़ियों की लीक वनती है।

इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति का प्रभाव नये इतिहासकार की ऐतिहासिक चेतना को भी किसी हद तक धूमिल कर सकता है। इस प्रभाव की व्यापकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हिन्दी की शिक्षा-परिपाटी से सर्वथा अछूते अज्ञेय जैसे रचनाकार को भी ऐसा प्रतीत होता है कि "हिन्दी साहित्य व्यक्तिगत

कृतित्व की अपेक्षा प्रवृत्तियों का साहित्य रहा है और इतिहास में प्रमुख स्थान अलग-अलग महान प्रतिभाओं का नहीं, बल्कि वैचारिक आन्दोलनों और संवेदना के रूप-परिवर्तन का रहा है।" साहित्य के इतिहास में विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी जैसी प्रतिभाओं की मान्यता को देखते हुए भी जब इस तरह का वक्तव्य दिया जा रहा हो तो यह कहना पड़ेगा कि प्रवृत्तिमार्गी इतिहासकारों ने काल-विभाजन के द्वारा महान प्रतिभाओं के महत्त्व को भी काफ़ी घटा दिया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सामान्य जनता कबीर, सूर, तुलसी को जानती है, किसी भक्तिकाल या भक्ति-आन्दोलन को नहीं; और साहित्य का सामान्य पाठक भी गोदान, कामायनी, मैला आँचल या कोई अन्य कृति-विशेष ही पढ़ता है, यथार्थवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि नहीं। क्या ये तथ्य इतिहासकार के लिए मार्ग-दर्शक नहीं हैं ?

किन्तु इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि इतिहास में वस्तुतः समय-समय पर उठनेवाले आन्दोलनों तथा कुछ समय तक व्यापक रूप में प्रचलित रहनेवाली प्रवृत्तियों का सामूहिक विवेचन किया ही न जाये। कभी-कभी किसी कृति अथवा कृती कवि को पूर्णतः समझने एवं रसास्वादन करने के लिए उसके साहित्यिक परिदृश्य—समय तथा रूढ़ि का ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। वैसे भी, किसी युग की कृतियों में 'पारिवारिक सादृश्य' लक्षित कर लेना विकसित साहित्य-बोध का सूचक है। किसी रचना का रचनाकाल न मालूम होते हुए भी केवल उसकी 'शैली' को देखकर लगभग रचनाकाल बता देना एक इतिहासकार के इतिहास-बोध की कसौटी है। एक इतिहासकार की ऐतिहासिक सूझ की परीक्षा केवल इस बात से हो जाती है कि उसमें 'शैली की पहचान' कितनी है ? और जब हम 'शैली की पहचान' को इतिहासकार की कसौटी मानते हैं तो शैली के स्थूल अर्थ से आगे बढ़कर—जिसे किसी युग की 'नब्ज़' कहा जाता है या अंग्रेज़ी में कोई 'फ़ील' और कोई 'लुक' कहना चाहता है—जिस 'शैली' से कोई युग अपने आन्तरिक रूप में पहचाना जाता है, एक प्रकार से 'वह चितवन औरे कछू' है। यह 'शैली' किसी युग के समूचे कृतित्व का वह आन्तरिक स्पर्श है जिसकी सूक्ष्म अनुभूति उस कृतित्व के किसी भी अंग के सम्पर्क में आने पर एक संवेदनशील इतिहासकार को सबसे पहले झटके की तरह होती है। इतिहासकार के इस शैली-बोध में इतनी क्षमता होती है कि किसी युग की केवल एक कृति के एक सामान्य-से अंश की भी परीक्षा करके उसके सहारे समूचे युग की मूल चेतना का अहसास करा सकती है। 'शब्दों' से अधिक होते हुए भी यह 'शैली' केवल 'शब्दों' के द्वारा ही प्रत्यभिज्ञान करा सकने में समर्थ है।

ऐसे 'शैलीबोध' के द्वारा साहित्यिक इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को विविक्त करते हुए भी एक धारावाहिक परम्परा का निरूपण किया जा सकता है।

अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न साहित्यिक कालों के बीच की आन्तरिक एकता स्वयं उनके विचारों या साहित्य-रूपों की ऊपरी समानता के द्वारा नहीं, बल्कि हर युग द्वारा उठाये गये प्रश्नों की परंपरा से उभरती है, जिनका समाधान उपस्थित करने के लिए वे विचार एवं साहित्य-रूप निर्मित होते हैं। इस सूक्ष्म परम्परा-बोध के अभाव के कारण ही अब तक के साहित्यिक इतिहास आपाततः खंडित एवं सायास एकसूत्रित दिखायी पड़ते हैं। कहना न होगा कि आज इस आन्तरिक परम्परा के निरूपण की कितनी आवश्यकता है।

हमारे समकालीन साहित्य में परम्परा का प्रश्न सबसे ज्वलन्त दिखायी पड़ता है। ज्वलन्त इसलिए कि वह अत्यन्त व्यावहारिक है, जैसे कि कुछ जीवन-मरण की समस्याएँ होती हैं। इसीलिए यह प्रश्न कई रूपों में उठाया गया है—कभी परम्परा बनाम प्रगति, कभी परम्परा बनाम प्रयोग, कभी रूढ़ि बनाम मौलिकता, कभी इतिहास बनाम व्यक्ति-प्रतिभा, कभी पूर्व बनाम पश्चिम आदि। प्रेषणीयता की समस्या भी अन्ततः परम्परा के प्रश्न से ही आकर जुड़ जाती है। इधर जो 'आधुनिकता बोध' सम्बन्धी विचार-विमर्श आरम्भ हुआ है वह भी इसी व्यावहारिक समस्या से उत्पन्न है। निस्सन्देह कुछ लोगों के लिए यह शुद्ध बुद्धि-विलास है और 'ऐकेडेमिक' रुचि के विद्वान इस पर शास्त्रीय व्यायाम करके कृतकार्य हो रहे हैं, किन्तु इससे यही प्रमाणित होता है कि आज का साहित्यिक इतिहासकार अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं कर रहा है। समकालीन साहित्य को परम्परा-च्युत कह देने मात्र से इतिहासकार के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। इतिहासकार को अपनी सार्थकता प्रमाणित करने के लिए समकालीन रचनाकारों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समुचित समाधान प्रस्तुत करना पड़ेगा। क्या यह तथ्य नहीं है कि "छायावाद जब तक एक जीवित अभिव्यक्ति था, तब तक वह जिन्हें अग्राह्य था, आज वे उसके समर्थक और प्रतिपादक हैं; जब वह मृत हो चुका है, आज वे उसे उनसे बचाना चाहते हैं जिनमें आज का जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपटे शब्दों में ?" कहने के लिए यह वक्तव्य 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय द्वारा उपस्थित है, किन्तु क्या यह आज के अनेक रचनाकारों के मन की प्रतिध्वनि नहीं है ? एक ओर आज के साहित्यकार का यह प्रयत्न है कि परम्परा को इस प्रकार आत्मसात करे कि "जब तक वह इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टा-पूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाये" वहीं दूसरी ओर, आज के अधिकांश इतिहासकारों के अतिरिक्त सचेष्ट प्रयत्न से वह परम्परा अभी से 'अनावश्यक' हो उठी है। जब अज्ञेय कहते हैं कि जो परम्परा कवि को संस्कार नहीं देती, "वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भंडार है, जिससे अपरिचित ही रहा जा सकता है

और इससे अपरिचित रहकर भी परम्परा से अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती है" तो सहज चिन्ता होती है कि क्या हिन्दी इतिहासकारों ने इतिहास को सचमुच ही 'इतिहास' बना दिया है, 'शास्त्र' बना दिया है ! जिस 'इतिहास' से आज का समवर्ती रचनाकार अपरिचित रहने की धमकी दे रहा है, उस इतिहास की क्या उपयोगिता है ? जिस 'इतिहास' से अपरिचित रहकर भी आज का रचनाकार 'परम्परा से अवगत' होने का दावा करता है उस इतिहास का होना-न होना, लिखा जाना-न लिखा जाना बराबर है। प्रश्न यह है कि यह आज के रचनाकार का कोरा दम्भ है या आज के इतिहास की सीमा ? क्या है यह ? प्रश्न गम्भीर है, इसलिए गम्भीरतापूर्वक विचारणीय भी।

आगे कही हुई यह बात कहाँ तक सच है कि "जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है, उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं।" क्या ये आलोचक सचमुच "यह कहते हैं कि 'कल का सत्य कल सब समझते थे, आज का सत्य अगर आज सब एक साथ नहीं समझते तो हम उसे छोड़कर कल ही का सत्य कहें'—बिना यह विचारे कि कल के उस सत्य की आज क्या प्रासंगिकता है, आज कौन उसके साथ तुष्टिकर रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सकता है ?" यदि यह तथ्य है तो इतिहास की 'प्रासंगिकता' के लिए बहुत बड़ी चुनौती है।

प्रस्तुत स्थिति में एक बार यह प्रश्न भी उठ सकता है कि हिन्दी साहित्य, या फिर हिन्दी कविता की सचमुच कोई एक परम्परा है भी या नहीं ? इस परम्परा के प्रति हर युग के कवि कितने सचेत थे ? अपने पूर्ववर्तियों के प्रति अचेत रहते हुए भी क्या परम्परा का निर्वाह किया जा सकता है ? या फिर हिन्दी भाषा में लिखने मात्र से ही कोई हिन्दी की साहित्य-परम्परा में स्थान पाने का अधिकारी हो जाता है ! जिस बात को पूर्ववर्ती इतिहासकार स्वयं-सिद्ध सत्य मानकर चलते थे, आज वह भी एक प्रश्न बनकर हमारे सामने उपस्थित है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए ही नहीं, बल्कि इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाने के लिए भी आज के इतिहासकार से एक 'खुलेपन' की अपेक्षा है।

परम्परा के प्रश्न को 'काव्य-भाषा' के भी स्तर पर उठाकर नये रचनाकारों ने इतिहासकारों के सम्मुख एक जटिल समस्या रख दी है—ऐसी समस्या जिस पर अभी तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में समुचित विचार नहीं हुआ है। वस्तुतः 'काव्य-भाषा' का प्रश्न नयी कविता के रचना-प्रक्रिया-सम्बन्धी अनुभवों से उत्पन्न हुआ है और इस पर अभी तक सबसे अधिक विचार नये कवियों द्वारा लिखित कुछ रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी निबन्धों में ही हुआ है। कौन नहीं जानता कि "भाषा के उपयोग में ही परम्परा का पालन भी और उसका न्यूनाधिक परि-

वर्तन भी निहित है," किन्तु नये कवियों ने परम्परा-प्राप्त शब्दों में नये अर्थ भरने का प्रयोग करके पूर्ववर्ती काव्य-कृतियों में भी इस प्रवृत्ति के अन्वेषण की सम्भावना की ओर संकेत किया है। इस प्रकार आज के इतिहासकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि भक्तिकाव्य और रीति-काव्य की भाषा-प्रकृति की सूक्ष्मताओं का विश्लेषण करके साहित्य के माध्यम की रचनात्मक परम्परा का निरूपण करे।

रचना-प्रक्रिया-सम्बन्धी नवीन काव्य-विमर्श से साहित्य-रचना के और भी अनेक कलात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पक्षों के उद्घाटन की सम्भावनाएँ दिखती हैं, जिनसे किसी भी इतिहास-लेखन का प्रभावित होना अवश्यम्भावी है। जहाँ अभी तक साहित्यकारों के जीवन-वृत्त, सामाजिक वातावरण तथा अन्य वाह्य 'प्रभावों' के आधार पर इतिहास खड़ा करने की स्थूल परिपाटी चली आ रही थी, अब हर रचना के जटिल सन्दर्भों की गहराई में उतरने की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। सन्दर्भ की जटिलता का एक सूत्र है उस मूल पाठक समुदाय की खोज जिसके लिए कोई साहित्यिक कृति लिखी गयी; क्योंकि कुछ इतिहासकारों के विचार से किसी साहित्यिक कृति का मूल अर्थ स्वयं उस कृति तथा उसके मूल अथवा अभीष्ट पाठकों की ग्रहणशीलता के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में ही निहित होता है। इस प्रकार किसी रचना के सन्दर्भ की खोज का अर्थ है उसके **ऐतिहासिक अर्थ** की खोज! यह सूत्र हमें एक दूसरे सम्बन्ध-सूत्र को भी खोजने के लिए मार्ग दिखाता है कि यदि कोई रचना अपने युग के सम्पूर्ण सामाजिक सत्य को वाणी नहीं दे सकी है तो वस्तुतः उसमें कौन-से तत्त्व बाधक हुए हैं—किसी प्रकार का सामाजिक-राजनैतिक नियंत्रण या कवि-समय अथवा माध्यम की सीमा या फिर लेखक एवं पाठक के बीच की कोई खाई! फ़िलहाल इन बारीकियों के ब्यौरे में न जाकर केवल इतना ही कहना काफ़ी होगा कि हमारे समसामयिक साहित्य ने सम्पूर्ण-इतिहास के अन्तःसूत्रों को काफ़ी जटिल बना दिया है, इसलिए परम्परा के साथ प्रस्तुत साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते समय अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। कोई आवश्यक नहीं कि परम्परा के साथ प्रस्तुत साहित्य का सम्बन्ध बलात जोड़ा ही जाये; लेकिन इतना निश्चित है कि किसी-न-किसी रूप में यह साहित्य हमारे इतिहास का अंग होगा। ऐसी स्थिति में इसे सर्व-निर्णायक समय-देवता पर छोड़ना अपने उत्तरदायित्व से कतराना कहलायेगा। आज हम अपने उत्तरदायित्व को भावी पीढ़ियों पर छोड़कर निश्चिन्त भले हो लें, लेकिन यह न भूलें कि भावी पीढ़ियाँ आज के साहित्य के साथ आज के इतिहासकार पर भी निर्णय करेंगी और देखेंगी कि आज का इतिहासकार कल के लिए आज के साहित्य की प्रतिक्रिया अथवा ग्रहणशीलता की कैसी वसीयत छोड़ गया है? यदि आज के आत्म-चेता रचनाकारों

ने आज के इतिहासकारों को इतना **आत्म-सजग** नहीं बनाया है तो प्रस्तुत आत्म-सजग साहित्य के साथ परम्परा की पुनर्व्यवस्था कठिन है। निःसन्देह आत्म-सजगता के कारण हमारी कठिनाई और भी बढ़ जाती है, लेकिन ऐसे ज्ञान के बाद क्षमा क्या ?

परम्परा इतिहास के अन्दर केवल सम्बन्ध-भावना नहीं, बल्कि साहित्य का एक निश्चित प्रतिमान है, इसलिए **इतिहास अन्ततः समीक्षा का प्रतिमान है**। ऐतिहासिक बोध वस्तुतः आलोचनात्मक बोध है—ऐसा आलोचनात्मक बोध जिसे आत्मपरीक्षा के लिए हर साहित्य सतत परखता चलता है। इसीलिए इतिहास की अनेक अन्तर्धाराओं में से हर युग अपने लिए एक प्रासंगिक धारा का अन्वेषण, तदुपरान्त निर्माण करता है। कभी-कभी एक ही युग में दृष्टि-भेद से इस प्रकार की एक से अधिक धाराएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन प्रस्तुत ऐतिहासिक धाराओं में जो वस्तुतः एक साथ ही जितनी युग-सापेक्ष एवं युग-निरपेक्ष होती है, उतनी ही प्रासंगिक एवं सार्थक मानी जाती है। इसलिए इतिहास की विविध अन्तर्धाराओं के बीच से एक धारा का निर्माण करते समय इस बात को याद रखना बहुत ज़रूरी है कि प्रतिमान के रूप में किसी परम्परा का प्रयोग करना स्वतः अपने-आपको भी समीक्षा के लिए उद्घाटित करना है, क्योंकि किसी सैद्धान्तिक प्रतिमान की तुलना में **परम्परा एक व्यावहारिक प्रतिमान है**; व्यावहारिक अर्थात स्वयं-प्रयुक्त और प्रयोक्तव्य, विनियुक्त और विनियोज्य, अधिक स्पष्ट शब्दों में—व्यवहार के रूप में सिद्धान्त। इसलिए साहित्य के प्रतिमान-सम्बन्धी किसी भी सैद्धान्तिक प्रश्न को इतिहास के क्षेत्र में ले आना एक इतिहासकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है।

इतिहास का पुनर्विचार मुख्यतः इतिहास का **पुनर्मूल्यांकन** है और यह पुनर्मूल्यांकन अन्ततः मूल्यांकन का प्रतिमान है। इसलिए इतिहास में किसी साहित्यकार, साहित्यिक कृति अथवा साहित्यिक युग का पुनर्मूल्यांकन करते समय यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि वह केवल नवीन मूल्यांकन-भर न हो। इस बात की ओर ध्यान दिलाना इसलिए ज़रूरी है कि इधर पुनर्मूल्यांकन के नाम पर प्रायः कोरी नवीनता और मौलिकता का प्रदर्शन हुआ है। किसी को लगा कि एक इतिहासकार ने सूर को तुलसी से घटकर दिखलाया है, इसलिए उसने अपनी मौलिकता दिखाने के लिए सूर को तुलसी से श्रेष्ठ साबित कर डाला। किसी को महसूस हुआ कि केशवदास को ज़रूरत से ज़्यादा गिरा दिया गया है, इसलिए वह प्राणपण से केशवदास के उद्धार में लग गया। इसी प्रकार पुनर्मूल्यांकन के नाम पर इधर रीतिकाव्य के पुनरुद्धार के लिए काफ़ी प्रयत्न किया जा रहा है और उसमें भी किसी ने देव को सर्वश्रेष्ठ कवि ठहराने की कोशिश की है तो किसी ने घनानन्द को। इधर एक संपादित इतिहास की भूमिका में कृष्णभक्ति-काव्य

को ही "काल-विस्तार, रचना-प्राचुर्य तथा साहित्यिक महत्त्व, सभी दृष्टियों में हिन्दी की सबसे प्रधान काव्य-धारा" घोषित किया गया है। शोध के उत्साह में अनेक शोधकर्ताओं ने हिन्दी के **गौण कवियों** का जीर्णोद्धार करते समय उनके साहित्यिक महत्त्व की प्रतिष्ठा में सन्तुलन को ताक पर रख दिया है।

तात्पर्य यह कि शुक्लजी के इतिहास की प्रतिक्रिया में उत्साही संशोधन-कर्ताओं ने नितान्त एकांगिता एवं अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी है। पुनर्मूल्यांकन के नाम पर वस्तुत: वह मूल्यहीनता या फिर मूल्यमूढ़ता है। किसी **ऐतिहासिक तारतम्य** के अभाव मे ऐसे पुनर्मूल्यांकन से अव्यवस्था की सृष्टि होती है। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नामक पुस्तक में इन पुनर्मूल्यांकनों की त्रुटियों की यथोचित समीक्षा की है जिससे उद्धरण देना यहाँ अनावश्यक है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि पुनर्मूल्यांकन हो ही न। इसकी सही प्रतिक्रिया यह नहीं है कि तारतमिक और तुलनात्मक आलोचना-मात्र त्याज्य है। वस्तुत: तारतमिक आलोचना का सर्वथा परित्याग आलोचनात्मक पलायनवाद (और आलोचना से पलायन) है। कहना इतना ही है कि किसी भी पुनर्मूल्यांकन के मूल में मूल्यों की एक व्यवस्था एवं प्रणाली होनी चाहिए। हर कवि या कृति के मूल्यांकन के लिए एक नये मूल्य और नये प्रतिमान का प्रयोग पुनर्मूल्यांकन नहीं है। इतिहासकार को यह न भूलना चाहिए कि एक कृति का पुनर्मूल्यांकन करते हुए उसके साथ ही वह सम्पूर्ण इतिहास का मूल्यांकन कर रहा है और इस दृष्टि से यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि एक कृति की समीक्षा भी उसी प्रकार इतिहास है जिस प्रकार सम्पूर्ण साहित्य की समीक्षा।

ऐसे अव्यवस्थित एव तारतम्यहीन पुनर्मूल्यांकनों की अपेक्षा वे आलोचनाएँ अधिक व्यवस्थित एवं सुसंगत हैं जिनमें एक निश्चित प्रयोजन के लिए इतिहास की अनेक अन्तर्धाराओं में से एक परम्परा को अलग कर लिया गया है। 'तुलसी-दास की परम्परा', 'भारतेन्दु की परम्परा', 'प्रेमचन्द की परम्परा' अथवा 'निराला की परम्परा' जैसे आलोचनात्मक प्रयत्न इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। इनकी एकांगिता स्पष्ट है और यही उनकी सीमा है, किन्तु अपनी सीमा को स्पष्ट करने के कारण ही वे मूल्यवान भी हैं। इसी प्रकार का एक एकांगी किन्तु मूल्य-वान प्रयास है श्री विजयदेवनारायण साही का निबन्ध 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस', जिसमें हिन्दी-काव्य के विभिन्न युगों में चित्रित मानव-प्रतिमा के परिवर्तित रूपों के आधार पर आधुनिक काव्य-परम्परा का एक पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

आखिर हिन्दी साहित्य है क्या? युग-परिवर्तन के हर मोड़ पर यह सवाल पूछा जाता रहा है। आज फिर यह सवाल पूछने की जरूरत है। निस्सन्देह उन लोगों

के लिए यह सवाल निरर्थक है जो हिन्दी साहित्य को एक 'चीज़' समझते हैं—पहले से बनी-बनायी, कहीं रखी हुई कोई चीज़! लेकिन जो सृजनधर्मा मनीषा है उसे इस तथ्य की अवगति है कि हिन्दी साहित्य वस्तुत: एक 'आविष्कार' है जिसे सुविधा और आवश्यकता के अनुसार पुनराविष्कृत किया जा सकता है। जो इतिहास का सक्रिय अंग है उसके लिए हिन्दी साहित्य स्वभावत: एक सतत गतिशील चैतन्यधारा है जिसका स्वरूप-निर्धारण बहुत-कुछ आविष्कर्त्ता पर निर्भर है। इतिहास की यह मुक्तिदायिनी अस्थिरता या सापेक्षता ही वह नयी दृष्टि है जिससे हिन्दी साहित्य का सच्चा पुनर्मूल्यांकन सम्भव है।

जैसा कि एक अंग्रेज़ी समीक्षक ने लिखा है, हर आलोचना एक 'कोण-निर्धारित दर्पण' (चार्टेड मिरर) है और किसी दृश्य को उद्भासित करने के लिए रोशनी एक निश्चित कोण से ही डाली जाती है—इससे भले ही उस दृश्य का एक भाग छाया में पड़ जाय। कहना न होगा कि ऐसे ही विभिन्न कोणों के प्रक्षिप्त आलोक से उद्भासित दृश्यों को एक सम्पूर्णता में रचनात्मक ढंग से पुनर्गठित करने से ही आज का वास्तविक इतिहास-लेखन पूरा हो सकता है। परन्तु आज के रचनात्मक साहित्य की विघटित स्थिति को देखते हुए तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि आलोचना के क्षेत्र में भी इतिहास का ऐसा नया पुनर्गठन आज शायद ही सम्भव हो सके। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर अभी तक जिस ढंग से पुनर्विचार हुआ है और स्वयं इतिहास-लेखन की दिशा में जिस प्रकार के प्रयत्न हुए हैं उनकी विशृंखलता से भी यही धारणा बनती है। किन्तु इतिहास की एक शिक्षा यह भी है कि वास्तविक इतिहास स्वत: आत्मनिषेध है। जिस इतिहास के बोध से मन स्वयं उस इतिहास का अतिक्रमण कर जाय, सच्चा इतिहास वही है। मार्क्स का इतिहास-दशन इतिहास से मुक्ति की यही चेतना प्रदान करता है।

('इतिहास और आलोचना' से साभार)

साधारणीकरण की प्रक्रिया में द्वन्द्वात्मकता

विश्वभरनाथ उपाध्याय

सीमित और व्यापक साधारणीकरण की धारणा की स्वीकृति सम्प्रेषण की प्रक्रिया के लिए आवश्यक है, किन्तु विभावादि का साधारणीकरण होता है या भाव का या कविगत अनुभूति का अथवा इन सब तत्त्वों का—यह विचारणीय है।

'अभिनवभारती' में उद्धृत भट्टनायक के मत से लगता है कि वह केवल विभावादि का ही साधारणीकरण मानते थे। किन्तु 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार के अनुसार भट्टनायक सम्पूर्ण सामग्री—विभावादि तथा स्थायी, संचारी का भी साधारणीकरण स्वीकार करते थे। विभाव राम-सीतादि, सामान्य रूप में उपस्थित होते हैं और स्थायी भावों तथा संचारियों के साधारणीकरण में इनके साथ विशिष्ट सम्बन्धों का बन्धन समाप्त हो जाता है।[1]

विश्वनाथ ने भी विभावानुभावसंचारीस्थायी—सभी तत्त्वों का सामान्यीकरण प्रतिपादित किया है[2], किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ तादात्म्य की धारणा पर विशेष बल दे दिया है, इससे तादात्म्य के विषय कौन हैं, यह विवाद का विषय हो गया है। विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता, अभेदज्ञान से, समुद्रलंघनकर्ता हनुमान आदि के साथ अपने को एक मान लेता है।[3]

यहाँ साधारणीकरण प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मकता उल्लेखनीय है। इस स्थिति में सामाजिक को हनुमान द्वारा समुद्रलंघन आदि कार्य न अनुकार्यगत प्रतीत होते हैं, न ऐसा लगता है कि ये अनुकार्यगत नहीं हैं। न तो उन्हें यह अनुभव होता है कि काव्य-नाट्य के वर्णन-चित्रण से उनका कोई सम्बन्ध है और न यही कि उनसे सामाजिकों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस द्वन्द्वमयी, विलक्षण मनोदशा का रहस्योद्घाटन मनोविज्ञान भी नहीं कर सका है।[4] यह भी वैचित्र्य है कि विशेष, साधारणीकृत हो जाने पर भी अपनी संज्ञा बनाये रखता है, यथा—रामादि का शोक साधारणीकृत होने पर भी शोक ही कहलाता है। यदि कहें कि यह कला का शोक है तो इसका नाम-परिवर्तन

क्यों नहीं किया जाता ?

पंडितराज जगन्नाथ ने शांकर वेदान्त का आश्रय लेकर इस द्वन्द्वात्मक साधारणीकरण की क्रिया की व्याख्या की है। उनके मतानुसार राम-दुष्यन्तादि की भ्रम-कल्पना (दोष) का आरोप सहृदय की आत्मा पर हो जाता है, अत: वह अपने को राम-दुष्यन्तादि समझ लेता है। जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं तब शकुन्तला का प्रेमी बनने में कोई बाधा नहीं रह जाती, अत: रति भी प्रभासित होने लगती है। यह बोध शुक्ति में रजत के भ्रमज्ञान जैसा होता है।[5]

किन्तु शुक्ति में रजत या रज्जु में सर्प का भ्रमज्ञान कलानुभव से भिन्न प्रतीत होता है। भ्रम अबाधित अज्ञान होता है, बाधित होते ही भ्रम नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत सामाजिक जानते हैं कि वे नाटक देख रहे हैं और फिर भी वे अपने पर रामादि का अभिमान आरोपित कर लेते हैं, पर यह भी पूर्ण आरोप नहीं होता।

फिर भी पंडितराज, विश्वनाथ के सदृश आश्रय के साथ तादात्म्य का निर्णय नहीं करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पूर्ण रसपरिपाक के लिए इस प्रकार के विभाव-विधान पर बल देते हैं, जिससे सामाजिक तादात्म्य कर सके। जन-साधारण के लिए वही काव्य भोग्य हो सकता है, जिसमें प्रचलित नैतिक गुणों की अवहेलना न हो अन्यथा लोकविरुद्ध गुणों और मूल्यों के कारण, असामान्य पात्रों का साधारणीकरण सम्भव नहीं होगा।[6] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि शुक्लजी आलम्बनत्वधर्म का साधारणीकरण मानते हैं।[7]

शुक्लजी के खंडन में विवेचक यह भूल जाते हैं कि वह व्यक्तिवादी साहित्य के विरोध में उस लोकपरक महाकाव्य-परम्परा के स्वरूप को सम्मुख रख कर लिख रहे थे, जिसमें आलम्बनों का रूप, लोक-प्रसिद्धि के अनुकूल था और उनमें उन्हीं धर्मों या गुणों (नैतिकता, न्यायप्रियता, पाप के पक्ष का विरोध आदि) का विधान किया जाता था जो जनता की चित्तवृत्ति में बद्धमूल थे। इसके विपरीत तात्कालिक छायावादी मुक्तकों और 'मेघनादवध' जैसे नवीन महाकाव्यों में रचनाकार स्वगत दृष्टियों और निजी भावों को अधिक महत्त्व दे रहे थे। स्वभावत: ऐसी रचनाओं में, लोकहृदय पूर्णत: मग्न नहीं हो पाता था। इसी से शुक्लजी उनमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं पाते थे। पूर्ण साधारणीकरण के लिए वह लोक-हृदय की पहचान को एक प्रमुख आवश्यकता मानते थे। तुलसीदास इसी आधार पर उनके प्रियतम कवि थे।

रामायण, महाभारत के नायक पुण्यपक्षी हैं, वे असत्य, अन्याय और मर्यादा-हीनता के विरुद्ध संघर्ष करते हैं, किन्तु नवीन मनोविश्लेपण और समाजशास्त्र तथा इतिहास-चेतना ने मूल्य-सम्बन्धी सनातन दृष्टि को अप्रमाणित सिद्ध कर दिया है।

फ़ायड का मनोविश्लेषण तो अधिक संयम और त्याग आदि को विकृति-उत्पादक मानता है; अतः इस स्थिति में नवीन शास्त्रों से परिचित शिक्षितवर्ग और लोक-हृदय में दृष्टिभेद तथा आचरणभेद भी उत्पन्न हो गया है। श्रेणीमूलक, शिक्षित-अशिक्षित के स्तरों में विभाजित भारतीय समाज में प्रबुद्ध वर्ग के आदर्शों और रुचिगत वैशिष्ट्य पर शुक्लजी ने अधिक विचार नहीं किया था, अतः छायावाद का व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, प्राचीन सामूहिक अवचेतन के विरुद्ध पड़ने से उन्हें घातक प्रतीत होता था। उससे पारम्परिक जीवन-विधि को भय था, किन्तु मानव-स्वच्छन्दता की धारणा ही आधुनिक साहित्य में व्यक्त हो रही थी, इस तथ्य की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया था।

यही कारण है कि शुक्लजी, असामान्य आलम्बनों के स्थान पर, एक ओर तो प्रकृति के आलम्बनत्व पर बल दे रहे थे, तो दूसरी ओर ऐसे पात्रों के विधान पर जिनमें सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा की गयी हो।

शुक्लजी को स्वच्छन्दतापरक साहित्य अपने परिमित साधारणीकरण के कारण व्यक्ति-वैचित्र्यवादी लगता था। इसके विपरीत, प्रबुद्धों का दल स्वच्छन्दतावाद का समर्थक था, क्योंकि सामन्ती नैतिकता, मर्यादा आदि से मुक्त समाज के विकास में बाधा थी और इससे मानसिक विषम जाल की सृष्टि होती थी। स्वभावतः प्रबुद्धों का तादात्म्य स्वच्छन्दतावादी पात्रों के साथ होता था। विशिष्ट कला और काव्य के लिए प्रबुद्ध दल यह मानना नहीं चाहता था कि प्रत्येक कृति की श्रेष्ठता का आधार, लोकहृदय की पहचान हो। क्या स्वच्छन्दता के बोध और गतानुगतिक रूढ़ियों के विरोध का प्रयत्न लोकविरोधी होता है? यदि नहीं, तो कालान्तर में लोकहृदय भी शिक्षित होकर, स्वच्छन्दतावादी साहित्य का आस्वादन कर सकता है। माइकेल मधुसूदन दत्त राम-रावण के प्रति प्रचलित मान्यताओं का विरोध करने के लिए ही लिख रहे थे, शुक्लजी की परम्परा-प्रियता इससे क्षुब्ध होती थी। कबीर का क्रांतिकारी फक्कड़पन भी उन्हें कहीं चुभता था।

पूर्ण और व्यापक रसानुभूति के लिए सर्व स्तरों पर अविरोध आवश्यक है, किन्तु संक्रान्तिकालीन रुचि और दृष्टि, रस के साथ परम्परागत दृष्टि का सम्बन्ध होने से, रसपरक काव्य का ही विरोध करने लगती है अथवा रस को व्यापक अर्थ देती है। इसी नवीन चेतना से, शुक्लजी के रस और साधारणीकरण की व्याख्याओं का संघर्ष आज भी चल रहा है।

शुक्लजी की मुक्त हृदय, प्रकृति का आलंबनगत चित्रण आदि धारणाएँ प्रबुद्ध वर्ग के अनुकूल पड़ती हैं, परन्तु आलंबन में सामान्य धर्मों का विधान परम्परागत काव्यों का समर्थन मात्र है, उसमें अपने युग की चेतना को सहानुभूति से समझने की प्रवृत्ति कम ही है।

आचार्य केशव मिश्र ने शुक्लजी के सिद्धान्त का सादृश्य भट्टनायक से

दिखाया है, क्योंकि इसमें काव्य को नैतिक-अनैतिक द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वादन किया जाता है।[8] इसके विपरीत, साधारणीकरण के प्रति अभिनवगुप्त की दृष्टि थी, जिसे मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है, जिसमें नैतिकता का प्रश्न नहीं रहता। प्रथम में विभावादि के साधारणीकरण पर बल है तो दूसरे में कवि या भावक की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण माना गया है—चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।[9]

किन्तु 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार गोविन्द ठक्कर के अनुसार भट्टनायक भी पूरी रस-सामग्री और स्थायी भाव का साधारणीकरण मानते थे। सम्भवतः केशव मिश्र ने 'अभिनवभारती' में प्रस्तुत भट्टनायक के मत को ही ध्यान में रखकर अपना मत दिया होगा। फिर शुक्लजी रसावस्था में रस का तारतम्य स्वीकार कर लेते हैं और निजकांतास्मृति की सम्भावना पर भी विचार करते हैं, जबकि भट्टनायक के यहाँ सामाजिक स्वगत, परगत के भेदभाव से स्वतंत्र हो जाता है। शुक्लजी ने साधारणीकरण की स्थिति में शास्त्रों के अखंड रसक्षण की सम्भावना मानकर भी श्रोताओं की मानसिक दशाओं के विभिन्न स्तरों की ओर प्रथम बार ध्यान दिया था और इस तथ्य के आधार पर रस का तारतम्य भी स्वीकार कर लिया था, जो शास्त्रज्ञों के मध्य एक साहसिक विचार था, उन्होंने शास्त्र को भार न बनाकर उसका मौलिक उपयोग करना चाहा था।

तादात्म्य का प्रश्न भी अनेक सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्राचीन साहित्य में प्रायः आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य हो जाता है, यथा—'रामायण', 'शाकुन्तल', 'मेघदूत', 'नैषधीय' जैसी रचनाओं में यह प्रवृत्ति है; किन्तु 'शेखर : एक जीवनी' में माता-पिता की रति के द्रष्टा शेखर तथा अमरीकी उपन्यासों के अकारण हत्या के प्रेमी असामान्य नायकों से क्या सभी का तादात्म्य सम्भव हो सकता है ? ऐसी रचनाओं में कारण-कार्यपरम्परा मन को सचेत कर देती है और पाठक यह सोचता है कि अंततः यह नायक ऐसा आचरण क्यों कर रहा है ? कारण जान लेने पर भी नायक के साथ तादात्म्य होना सम्भव है और यह भी कि पाठक थोड़ी सहानुभूति देकर भी तटस्थ बना रहे और कृति की चित्रण-शक्ति, भावनाओं के विश्लेषण-सामर्थ्य आदि से, उसे मानव-चेतना के नये आयामों को देखकर लेखक की बुद्धिमत्ता पर हर्ष हो। 'लोलिता' उपन्यास के नायक के साथ बहुत-से प्रौढ़ों का तादात्म्य हो सकता है और कुछ गंभीर प्रबुद्धों को यह अनुभूति हो सकती है कि यौनाचार की स्वेच्छा का यह चित्रण प्रकृतवादी है, अतः नग्न यथार्थवाद के कारण जुगुप्सा भी हो सकती है। लेखक का उद्देश्य वस्तुस्थिति की प्रस्तुति मात्र है, यह पाठकों में जुगुप्सा या आकर्षण जागृत नहीं करना चाहता।

डॉ० नगेन्द्र ने आश्रय के साथ सर्वत्र तादात्म्य की धारणा में कठिनाइयों

का उल्लेख किया है।[10] वह सहृदय की चेतना के साधारणीकरण की स्वीकृति द्वारा भी इस समस्या की समाधान-प्राप्ति सम्भव नहीं मानते, क्योंकि सहृदय की चेतना का सामान्यीकरण तो साधारणीकरण की क्रिया का फल है। अतएव, वह कवि-भावना का साधारणीकरण मनोविज्ञान के अनुकूल मानते हैं और पात्रों के साथ तादात्म्य के स्थान पर कवि के साथ तादात्म्य का सुझाव प्रस्तुत करते हैं : "जहाँ उसका कवि-कर्म सफल हो जाता है, जैसे कि 'मेघनादवध' में, वहाँ साधारणीकरण हो जाता है और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्म्य कर लेता है।"[11]

इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य और साधारणीकरण का आधार रचना की श्रेष्ठता मात्र है, कवि और भावक की दृष्टिगत या भावगत अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि अन्य तत्त्व उसी पर आधारित हैं। किन्तु इस मान्यता में भी सरलीकरण है। कारण यह है कि रचना की श्रेष्ठता का निर्णय निरपेक्ष रूप में नहीं होता। निर्णय की पृष्ठभूमि में अनेक अंतर्विरोध सक्रिय रहते हैं। समाजवादी देशों में अधिकांशतः पूंजीवादी देशों की अनेक श्रेष्ठ रचनाएँ श्रेष्ठ नहीं मानी जातीं, यह विधि-जन्य अंतर्विरोध है; अतः उनके रचनाकारों को तादात्म्य का नहीं, क्रोध या वितृष्णा का भाजन बनना पड़ता है। उधर किसी अप्रिय सत्य को कलाहीन ढंग से कह देने पर भी कभी-कभी रचनाएँ श्रेष्ठ मान ली जाती हैं। गिंसबर्ग की रचनाओं में कलात्मक अनुशासन का अपेक्षाकृत अभाव है, पर अमरीकी सभ्यता के भ्रमों को भंग करने के कारण वे अनेक कालजयी रचनाओं से अधिक तादात्म्य उत्पन्न करती हैं, क्योंकि मानव-स्वच्छन्दता के लिए गिंसबर्ग पूंजीवादी देशों की युद्धप्रियता और मूल्यहीनता पर आक्रोश प्रकट करता है।

अंतर्विरोधों से भरे भारतीय संस्कृत व्यक्तियों पर, कबीर के आक्रमण, तादात्म्यजनक होते हैं, पर वे श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण हैं, यह विवादास्पद विषय है। निर्णय की द्वन्द्वात्मकता में काल या इतिहास का योगदान भी होता है। सूरदास, तुलसीदास के अनेक पद्य सामान्य कोटि के हैं, किन्तु कालविजय के कारण ही वे श्रेष्ठ माने जाते हैं। विगत के प्रति आक्रोश के कारण प्रायः श्रेष्ठ रचनाएँ निकृष्ट घोषित हो जाती हैं और फिर उनमें न कवि के साथ तादात्म्य हो पाता है, न उसका व्यापक साधारणीकरण ही सम्भव होता है। यदि यह कहें कि यह मानवीय सम्भावना का प्रश्न है और ऐसे बौद्धिक सहृदय हो सकते हैं जो रचना की उत्कृष्टता को अवश्य पहचान लेते हैं, किन्तु सुधी आलोचक कभी-कभी सामयिक रचनाओं की श्रेष्ठता नहीं पहचान पाते। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० नगेन्द्र सामयिक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं को अश्रेष्ठ से पृथक नहीं करते और न अपने समय में यह कार्य शुक्ल जी कर सके थे—उन्हें रहस्यवादी रचनाओं से एक

वितृष्णा-सी थी। दूसरे, उन्होंने स्वयं-निर्मित साधारण कविताएँ उद्धृत की हैं, और उनकी प्रकारान्तर से प्रशंसा भी की है अथवा उनकी निन्दा नहीं की है।

शेक्सपियर के विषय में प्रसिद्ध मतभेद[12] रुचि, बोध, समाज संरचना, शिक्षा-विधि, साहित्यिक वातावरण, कला-आन्दोलन, शासन का स्वरूप, परम्परा और उसके प्रति दृष्टि आदि अनेक तत्त्वों का द्वन्द्व कृति की श्रेष्ठता के निर्णय में परम्परा-विरोधी निष्कर्ष देता है। उदाहरणत:, परिवर्तन की गति तीव्र होने पर कालजयी कृतियों के विषय में प्रतिक्रियाएँ भी तीव्रतर होने लगती हैं, क्योंकि उन कृतियों से अधिक प्रभावित व्यक्ति सामयिक साहित्य और कला के साथ नहीं चल पाते। अत: पीढ़ियों का संघर्ष भी साहित्य में कटुता का रूप धारण करने लगता है। कटुता और नवीनता-प्रेम के कारण उत्पन्न अधैर्य, रस और कवि के साथ तादात्म्य जैसी समस्याओं को अप्रासंगिक मानने के लिए प्रेरित करने लगता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि कवि के साथ तादात्म्य हुए बिना, रचना उत्कृष्ट प्रतीत हो। बौद्धिक पाठक या प्रेक्षक कवि की रचना-प्रक्रिया के प्रति सावधान रहता है—कवि क्या चाहता है, कहाँ वह प्रभावशाली है, कहाँ वह असफल हो जाता है, क्यों वह असफल होता है, मेरे ऊपर प्रभाव क्यों पड़ रहा है, इस स्थल में रचनाकार पागल-सा लगता है—इस प्रकार की चिंतन-प्रक्रिया आस्वाद और कहीं-कहीं ऊब में बराबर चलती रह सकती है और थोड़ा-बहुत, किन्हीं क्षणों में तादात्म्य भी होता चल सकता है। इस प्रकार साधारणीकरण और तादात्म्य की प्रक्रियाओं में देश, काल, पात्र, विचारधारा आदि की द्वन्द्वात्मकता के आधार पर ही निर्णय सम्भव है, सरलीकरण से विवेचन और मूल्यांकन वैज्ञानिक या वस्तुगत नहीं हो सकता।

सामाजिक और कृतिकार का द्वन्द्व : पूँजीवादी व्यवस्था में, कला-कविता के क्रय-विक्रय की वस्तु बनने, आश्रयदाता सामन्तों के स्थान पर प्रकाशकों, साधन-सम्पन्न सम्पादकों तथा संस्थाओं का ध्यान आकर्षित करने और प्रतिष्ठित होने की बाज़ारू-प्रतियोगिता के कारण, कृतिकार प्रत्येक स्थिति में प्रशंसा चाहने लगता है, रुचि का निरंकुश राज्य स्थापित होता है,[13] और कवियश: प्रार्थियों के संगठित दल, प्रत्येक सनक की स्वीकृति के लिए, सामाजिकों को संत्रस्त करके उससे चाहता है कि वह चुपचाप कलाकार के गौरव की उपस्थिति में मौन रहे। अपनी पत्रिका, अपना घोषणापत्र, अपना परिप्रेक्ष्य, अपनी रचनाएँ लेकर उप-स्थित होने वाली इन प्रतिभाओं में वास्तविक और व्यर्थ के मिश्रण से सामाजिक ऊबने लगता है। ऐसी स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य संभव भी हो तो कवि के गूढ़ अभिप्राय (इन्टेंशन) के जानने में वह भूल कर सकता है। उदाहरणत:, विद्रोही चेतना की घोषणा करने पर भी, पिछले दो दशकों के भविष्य के प्रहरी या अवांगार्द नवीन साहित्य में विद्रोह यौनस्तर पर अधिक हुआ है, अत: इस प्रकार

की रचनाओं के पाठन के समय जागरूक सामाजिक के मन में यह आता है कि राजनैतिक स्तर पर शासन अथवा प्रभुवर्ग के ऊपर आक्रमण से यह लेखक भय खाते हैं, अतः रुद्ध आक्रोश सुरक्षित स्तरों पर व्यक्त होता है और इसी कारण रचना में सैक्स का अतिवाद, कृतिकार की कायरता को भी छिपाए हुए है। निस्सन्देह, परम्परागत नैतिकता और मध्यवर्गीय रुचि की शालीनता पर प्रहार का क्रान्ति की दृष्टि से एक मूल्य होता है, लेकिन कवि की मंशा जाने विना, रचना का स्वरूप ही अस्पष्ट रहेगा। इसी प्रकार हृदयहीनता के कारण भी, रचना में कहीं भी स्पष्ट न होने का आग्रह हो सकता है जो कवि के साथ तादात्म्य से, एक गम्भीरता का भ्रम उत्पन्न कर सकता है। फिर, आदर्श सामाजिक तादात्म्य करके भी यत्किंचित तटस्थ रह सकता है, किन्तु सभा-समाजों में, कवि की मंशा से अपरिचित, सर्वसाधारण जन तो केवल विस्मित या संत्रस्त ही हो सकते हैं। और यह विस्मय अद्भुतरस-उत्पादक न होकर ऊब, आक्रोश या हास्योत्पादक होता है, जब कि कवि का लक्ष्य गंभीर हो सकता है।

सामंती युग के बाद कलाकार, सामाजिकों पर कुरुचि का दोष लगाकर आत्मविश्वास के लिए असफलता की कष्टकर भावना और संदेहों से बचना चाहता है। जनता की चिंता न करके कलाकार अपने सम्मुख केवल आदर्श सामाजिक या समर्थक-विशेषज्ञ को रखकर रचना करता है, वह अब केवल अपनी रुचि की चिन्ता करता है।...साधारण व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता।

यदि कहें कि इन्हें कलाकृति ही नहीं कहना चाहिए तो तादात्म्य-सिद्धान्त की रक्षा में, उपलब्ध आकर्षक रचनाओं की उपेक्षा होगी; दूसरे, पाठन-मनन द्वारा वास्तविक साहित्य को, अवास्तविक से अलग करने के लिए विचार तो करना ही होगा।

फिर सामाजिक के सम्मुख तो कृति है, कवि नहीं। श्रेष्ठ कृति होने पर, तादात्म्य कृति के साथ अधिक आवश्यक लगता है। चित्रित और वर्णित विश्व में अपने को निमग्न करने से साक्षात्कार और साधारणीकरण में सफलता मिल सकती है। इस रचना-संसार में प्रवेश की दशा में सामाजिक कवि की दृष्टि से भिन्न दृष्टि भी रख सकते हैं, और कवि के साथ तादात्म्य करके भी देख सकते हैं। कभी यह भी सम्भव है कि सामाजिक, कवि के मंतव्य को समझ ही न सके और फिर भी अपने अहसास के बल पर वह रचना में डूबा रहे। वह कवि से भिन्न मंतव्यों की भी कल्पना कर सकता है और रचना को एक नये आलोक में देख सकता है। उदाहरणतः, प्रकृति को रचना मानकर उसमें विचरण होता है, परन्तु हम उसके कर्त्ता को नहीं जानते, न उसके मंतव्य से परिचित हो पाते हैं। लेकिन इससे विभिन्न दृश्यों के साथ तादात्म्य में कोई बाधा नहीं पड़ती। प्रकृति या ईश्वर ने पदार्थों की सृष्टि आवश्यकता और नियम के अनुरूप की है, किन्तु प्रेक्षक

उसे अपने परिप्रेक्ष्य से देख सकता है। इसलिए, पाठक या प्रेक्षक किसी प्रिय रचना का वह रूप देख लेता है या देख सकता है जो कदाचित उसके कर्त्ता ने भी न देखा हो।

किसी अपूर्व जीवन-दर्शन के अनुरूप लिखी गयी रचनाओं में भी कवि के साथ तादात्म्य और कृति के साथ तादात्म्य से भिन्न फल प्राप्त हो सकते हैं। ज्याँ पाल सार्त्र के उपन्यास वमनेच्छा (नौसिया) में जीवन की नीरस पुनरावृत्ति और अंधता देखकर सार्त्र में उत्पन्न वितृष्णा ही, कारणों की शोध के साथ, चित्रित हुई है, किन्तु सामाजिक में यह उपन्यास जीवन के साथ प्रयोग करने की भावना जगा सकता है। इस रचना में अनुभव की गहराई आकर्षक लगती है और लेखक के सिद्धान्त या उसके परिप्रेक्ष्य के स्थान पर, सामाजिक सिर्फ गम्भीर विश्लेषण के क्षणों में भोग या भोग के क्षणों में आत्म-विश्लेषण की प्रेरणा ग्रहण करता है या कर सकता है।

सामाजिकों और रचनाकारों के द्वन्द्व और तादात्म्य का प्रश्न कितना जटिल है, यह नीत्शे की इस पंक्ति से प्रमाणित होता है कि वे तालियाँ बजा रहे हैं, मैं कौन-सी मूर्खतापूर्ण बात कर रहा हूँ ?[14]

अत: जनकवाटिका जैसे स्थलों में कवि के साथ तादात्म्य में कोई बाधा नहीं होगी। किन्तु दृष्टिकोण या विश्वदर्शन (वर्ल्ड व्यू), मूल्यगत और रुचिगत अन्तर्विरोधों की स्थितियाँ भी अनेक बार आती हैं।[15] भाव के स्थान पर वर्तमान युग में प्रामाणिक अनुभव पर बल अधिक दिया जा रहा है और अनुभव, किसी स्थायी भाव की सीधी अभिव्यक्ति से अधिक संकुल होता है। उसमें अनेक पृथक और पूर्ण अनुभूतियों के गुच्छों का विधान होता है और यत्र-तत्र संक्षिप्त स्थलों को छोड़कर उसमें किसी एक भाव की प्रधानता भी नहीं होती।

अतएव कवि के साथ तादात्म्य का मत किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में ही उपयुक्त लगता है।[16] किन्तु कवि के साथ पूर्ण तादात्म्य के अभाव में भी, कृति में निहित कला-सामर्थ्य से परिमित या अपरिमित साधारणीकरण हो सकता है। श्रेष्ठ, किन्तु केवल विशेषज्ञों तक ही सीमित, रचनाओं के मर्म-उद्घाटन और क्रमश: प्रचार की वृद्धि के पश्चात रचना का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता जाता है। आदर्श सामाजिक या अभिनवगुप्त के शब्दों में वस्तुस्थिति का विवेचक, विभिन्न दृष्टियों से रचना का परीक्षण कर सकता है, वह कवि तथा कृति को पृथक-पृथक अवधान में ला सकता है, एक साथ रखकर देख सकता है, उन स्व-पर के भेदों से ऊपर उठ सकता है जिनसे साधारण पाठक नहीं बच पाता। भावमुग्ध करने वाली पारम्परिक कविता और कला का जिन पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव होता है, वे कवि तथा सामाजिक रचना में विरोधी स्थितियों को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते। हमारे प्राचीन आचार्य तो काव्यादि के सर्वभोग्यत्व पर सर्वाधिक बल

देते हैं, वे वस्तुत: काव्य को व्यक्तिगत आत्म-अभिव्यक्ति न मानकर सामाजिक उत्पादन मानते थे, उसके रंजनात्मक और शिक्षात्मक मूल्यों को स्वीकार कर, वे भावात्मक प्रेरणा जाग्रत करना चाहते थे, अत: कवि और सामाजिक में वहाँ अविरोध है जब कि आधुनिक काव्य और कला प्रयोगोन्मुखी, जीवन-बोधात्मक, नीतिनिरपेक्ष (अमॉरल), असहमतिपरक तथा असामाजिक है। उधर समाजवादी देशों में समाजवादी यथार्थवादपरक रचनाओं में तो साधारण व्यक्ति तादात्म्य कर लेता है, किन्तु अतियथार्थवादी कलाकार भी अपने को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मानते हैं, लेकिन उनकी स्वप्न-विधि की रचनाओं में, कवि के साथ तादात्म्य नहीं, स्वप्नों का स्मरण कहीं अधिक सहायक होता है।

निष्कर्ष यह है कि तादात्म्य और साधारणीकरण की प्रक्रिया एक-दूसरी से टकराती अन्तर्धाराओं से युक्त होती है। इन्हें कवि, रचना, सामाजिक, देश, काल, रुचि, प्रचार के साधन, साहित्यिक वातावरण आदि तत्त्वों के सन्दर्भ में ही समझना होगा—निरपेक्ष, सार्वभौमिक, सार्वकालिक नियम के रूप में उन्हें तभी स्वीकार किया जा सकता है जब आचार्यों के शब्दों में विघ्नरहित या द्वन्द्वरहित स्थिति हो। लेकिन ऐसी निर्द्वन्द्व स्थिति केवल मनोराज्य में ही हो सकती है।

('बिन्दु प्रति बिन्दु' से साभार)

संदर्भ-संकेत

1. 'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय: स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थिति:। स्थाय्यनभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानविच्छिन्नत्वेन।'—काव्यप्रकाश, निर्णय सागर प्रेस, पृ० 66
2. 'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते
परस्य न परस्येति, ममेति न ममेति च
तदास्वादे विभावादे: परिच्छेदो न विद्यते।'—साहित्यदर्पण, 3-11
3. 'तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादय:
प्रमाता तदभेदेन, स्वात्मानं प्रतिपद्यते।'—वही, 3-10
4. प्राब्लम्स इन ईस्थैटिक्स, पृ० 204
5. हिन्दी रसगंगाधर, बदरीनाथ झा, पृ० 110

6. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्-बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है—चिन्तामणि, 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' शीर्षक लेख।
7. (क) कल्पना में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को श्रोता के मन में जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।—वही
   (ख) व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की होती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।—वही
8. साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास
9. वही—साधारणीकरण का प्रसंग।
10. संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था...किन्तु आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है, जिसके साथ तादात्म्य सहृदय के लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय।—रससिद्धान्त, पृ० 207
11. वही, पृ० 211
12. 'शेक्सपीयर उपेक्षित रहा। इलिज़ावेथ-युग में उसे जनता मानती थी, साहित्यिक नहीं। अब सभी प्रभावित हैं, किन्तु शेक्सपीयर में जनता जिन बातों से हर्षित होती थी, उनसे हम आनन्दित नहीं होते।'—द सोश्योलोजी ऑफ़ टेस्ट, एल० एल० शूकिंग, लंदन, तृतीय संस्करण, 1950, पृ० 3
13. 'द क्रियेटिव आरटिस्ट डिमांड्स रिकागनीशन ऑफ़ हिज़ टेस्ट अंडर ऑल सरकम्सटांसिस. ए कम्पलीट डिक्टेटरशिप ऑफ़ टेस्ट प्रिस्काइब्ड दैट वि शैल एक्सैप्ट द एक्सप्रेशन ऑफ़ एनी वन.'—वही, पृ० 58
14. दे आर क्लैरिंग, व्हाट नानसेंस हैव आई बीन टॉकिंग?'
15. 'इफ़ द नेचर ऑफ़ सम ऑफ़ हिज़ (कमिंग्स) पोयम्स लीव्स मेनी रीडर्स अनमूव्ड ऑर एल्स विगरराली एंटागोनिस्टिक, स्टिल द फ़ोर्स ऐंड वेट ऑफ़ हिज़ पोयटिक इफ़र्ट ऐंड पोयटिक एचीवमेंट हैव बीन टुवर्ड एक्सपीरियन्स ऐंड अवे फ्राम मियर क्राफ्ट्समैनशिप।'
—स्टडीज़ इन अमेरिकन लिटरेचर, इ० एस० ओलीवर, नयी दिल्ली, 1965, अध्याय—कमिंग्स, पृ० 156

16. श्री शंकरदेव अवतरे ने डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित कवि की अनुभूतियों के साधारणीकरण का विरोध किया है और शुक्ल जी के मत का समर्थन किया है—

"क्या ऐसा भी कोई आलम्बन का आश्रय होता है जो कवि की अनुभूतियों का संवेद्य रूप न हो? तो जिस रूप में कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होगा, उसी रूप में उन अनुभूतियों के संवेद्य रूप आलम्बन का भी साधारणीकरण हो सकता है।" —'साहित्य', वाराणसी, 1957

वास्तविकता यह है कि अवतरे जी का ध्यान शुक्ल जी के पक्ष-समर्थन पर है, आधुनिक साहित्य के कारण उत्पन्न समस्याओं पर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

वस्तु और रूप के अन्तर्सम्बन्ध

प्रमोद वर्मा

इन दिनों हम अपने इतिहास के एक निर्णायक दौर से गुज़र रहे हैं। अपने समूचे इतिहास में शायद ही कभी बुद्धिकर्मी को इतनी गम्भीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा हो। ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों का वस्तुपरक विश्लेषण करते हुए जहाँ एक रचनाकर्मी होने के नाते अपने रचनापरक मूल्यों का पुनर्परीक्षण हमारे लिए ज़रूरी है, वहाँ दूसरी ओर आत्म-निरीक्षण करते हुए अपनी उपलब्धि और असफलता के आधार पर अपने आन्दोलन की भावी रूपरेखा भी निर्धारित करनी है।

समाज के अन्तिम आदमी के संदर्भ में तथाकथित सभ्य समाज की सांस्कृतिक चिंता की व्याप्ति एकदम स्पष्ट हो जाती है, जिस देश में लिखित शब्द की पहुँच और प्रभाव बेहद स्वल्प हो वहाँ के बौद्धिकों को हाथी-दाँत की मीनार पर चढ़-कर दून की हाँकना सचमुच विचित्र और हास्यास्पद लगता है। ऐसे बौद्धिकों ने अब तो प्रतिबद्ध लेखकों के संगठन पर भी हमले शुरू कर दिये हैं। ऐसी हालत, में, ज़ाहिर है, उनके साथ अपने रिश्तों के बारे में भी हमें नये सिरे से सोचना होगा। लगभग निरक्षर इस देश में नाट्य-मंडलियों और गायकों की भूमिका मेरे ख़याल से महत्वपूर्ण है। शब्दकर्मियों के साथ इनके तालमेल के बारे में भी शायद आप विचार करना चाहें। बस्तर जैसे आंचलिक प्रदेशों में रहने वाले जानते हैं कि बाजार की लुब्ध दृष्टि उनकी खनिज सम्पदा पर ही नहीं, वरन् उनकी संस्कृति पर भी पड़ चुकी है। इस तरह प्रगतिशील लेखन-कर्म से जुड़े ढेर सारे सवाल हल की प्रतीक्षा में आपके सामने हैं।

सामाजिक व्यवस्था दो तरह से कला-रचना को प्रभावित करती है— प्रत्यक्षतः कलाकार के मनोलोक को प्रभावित करने के अलावा वह सूक्ष्म तरीके से पाठक की कलात्मक अभिरुचि को विकृत और विनष्ट करती है। ऐसे समाज में काम करते कलाकार को अतिरिक्त चुनौतियों का स्वाभाविक रूप से सामना करना पड़ता है, क्योंकि उसे प्राकृतिक वस्तुओं की असमानता को ही नहीं, बल्कि

उस दीवार को भी तोड़ना पड़ता है जो मनुष्य को उसके उत्पादन से विलग करके प्रकृति को स्वायत्त करने में बाधक होती है। पूंजीवादी समाज के विरुद्ध क्रान्तिकारी भूमिका अदा करने वाले वर्ग की चेतना का सम्पूर्ण निर्माण सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी केवल अर्थ-व्यवस्था नहीं करती। इस सिलसिले में, मैं आपका ध्यान ग्राम्शी के 'प्रभुत्ता-सिद्धान्त' की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा।

समाज में जिस किसी वर्ग का वर्चस्व होता है, वह अपनी प्रभुता को मात्र अर्थ-व्यवस्था तक सीमित न रख उसे जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी स्थापित करने की चेष्टा करता है। मनुष्य के समाजीकरण की प्रक्रिया ही यही है कि पैदा होने के थोड़े दिन बाद से वह एक के बाद दूसरी सामाजिक संस्थाओं से जुड़ता चलता है। इस तरह विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से समाज का सर्वशक्तिशाली वर्ग शेष समाज द्वारा अपने प्रभुता-मूल्यों को स्वीकृति दिलाकर उन को वैधता प्रदान करता है। जिन संस्थाओं के माध्यम से अधिपति वर्ग अपनी प्रभुता संचालित करता है उन्हें आर्थिक संरचना तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह वर्ग केवल आर्थिक-राजनैतिक नहीं वरन् बौद्धिक-नैतिक स्तरों पर भी अपना समान आधिपत्य चाहता है। बिना ऐसा किये सत्ता पर उसकी पकड़ मज़बूत नहीं हो सकेगी।। अपनी प्रभुता को क़ायम रखने के लिए सत्ता शक्ति और सहमति का संतुलित उपयोग करती हुई प्रचार-साधनों के माध्यम से शक्ति-प्रयोग को भी सहमति के रूप में प्रस्तुत करने की चालाकी करती है।

पूंजीवादी समाज में साहित्य और कलाओं को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसलिए कुछ अधिक मिली होती है, क्योंकि एक तो इन उत्पादन-क्षेत्रों में ख़ास मुनाफ़े की गुंजाइश नहीं होती और दूसरे, व्यापक क्षेत्र में इनकी पैठ और असर न होने के कारण राज्य के स्वार्थों से इनकी खुली टकराहट की सम्भावना भी बहुत कम होती है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि टकराहट की नौबत आते ही राज्य अधिरचना के अन्तर्गत आने वाले उत्पादन-कर्मों की स्वतंत्रता को अपहृत करने में क़तई संकोच नहीं करता।

अभिव्यक्ति की अपेक्षतया अधिक छूट मिली रहने के अलावा उपयोग में आने वाले कलात्मक उपकरणों के कारण भी दूसरे उत्पादन-कर्मों की तुलना में साहित्य तथा अन्य ललित कलाएँ कुछ अधिक स्वाधीन होती हैं। जब प्रदत्त भौतिक उत्पादन श्रमिक के हाथ में पड़कर ज्यों के त्यों नहीं रहते हैं, तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि साहित्यकार के समय की राजनीतिक-सामाजिक हलचलें उसकी रचना में सीधे प्रतिबिम्बित होंगी। निश्चय ही वह अपने समय की उपज होता है, लेकिन उसके साथ उसका रिश्ता द्वन्द्वात्मक ही होता है। घड़ा बनाने के पहले कुम्हार मिट्टी को रौंदता है, फिर चाक पर चढ़ाकर उसे वांछित आकार

देता है। और अन्त में उसे सुखा-पकाकर इच्छित वस्तु उत्पादित करता है। उपा-दान के नाम पर तो उसके पास बस उसका समाज, प्रचलित मान-मूल्य और सामाजिक संस्थाएँ ही होती हैं जिनकी उपज होकर भी उसे उनके प्रति बराबर ही एक आलोचनात्मक रवैया अपनाते चलना होता है। इस तरह अपने उत्पादन-कर्म के दौरान वह अपनी निजी हैसियत को अतिक्रमित भी करता चलता है।

कबीर और तुलसी, बाल्ज़ाक और शेक्सपियर, गेटे और टाल्स्टाय या रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द अगर अपनी निजी सामाजिक हैसियत में ही बँधे चले आते और रचना के स्तर पर समय तथा समाज के साथ द्वन्द्वात्मक रिश्ता क़ायम नहीं कर पाते, तो क्या अपने-अपने देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण कभी कर सकते थे? जब तक लेखक की निजी धारणाएँ और मान्यताएँ, जैसा कि लुकाच ने कहा भी है, यथार्थ की निर्वैयक्तिक द्वन्द्वात्मकता में विलीन न हो जायें, उसका लेखन उसकी सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा का आख्यान मात्र हो कर रह जायेगा। उसका समाजशास्त्रीय मूल्य तो हो सकता है, लेकिन कलात्मक नहीं। चूँकि हम कला की दुनिया के लोग हैं, इसलिए हमारे लिए तो कला के मान-मूल्य ही मायने रख सकते हैं। जब उसके समाज के ही साथ मनुष्य के सम्बन्ध यांत्रिक न होकर जटिल और द्वन्द्वात्मक हैं—क्योंकि समाज का अंग होकर भी वह इसे बदलता हुआ इस प्रक्रिया में अपने को भी निरंतर बदलता चलता है—तो भला साहित्य और समाज के सम्बन्ध सीधे-सरल, और रैखिक कैसे हो सकते हैं? इसलिए मेरे ख़याल से ऐतिहासिक भौतिकवाद को अपने कर्म-क्षेत्र के संदर्भ में समझना हमारे लिए जरूरी है।

दरअसल अपने विकास के आरम्भिक दौर में ही साहित्य का समाजशास्त्र नियतत्ववाद का शिकार हो गया और मार्क्स द्वारा निर्दिष्ट आधार-अधिरचना नियम का हवाला देकर संस्कृति को वस्तु-उत्पादन-शक्ति का पूरी तरह से पश्चात्-गामी करार दिया गया। इसके लिए मार्क्स-एंगेल्स के बजाय प्लैखानोव और अन्य कई परवर्ती मार्क्सवादी चिंतक ज़िम्मेदार हैं। अपने समय की उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों का विवेचन करते हुए उत्पादन-कर्म के सिलसिले में पूँजीवादी वस्तु-उत्पादन को महत्व देना मार्क्स के लिए स्वाभाविक था। लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकाला जाना चाहिए कि मार्क्सवाद के प्रणेताओं की दृष्टि में मानवीय कार्यकलाप महज़ वस्तु-उत्पादन तक सीमित हैं। सचाई ठीक इसके विपरीत है। श्रम के बारे में तो मार्क्स की यह धारणा थी कि उत्पादन-कर्म में रत श्रमिक वस्तुतः अपने-आपको ही उत्पादित करता है। कला-रचना भी मानवीय कार्य-कलाप का ही एक हिस्सा है और यह मानने का कोई कारण नहीं कि अपना जीवन-कर्म करते हुए हम श्रम नहीं करते या अपना हुनर हासिल करने के लिए अन्य प्रशिक्षित श्रमिकों की तुलना में हमें कुछ कम खटना

पड़ता है।

संस्कृति के क्षेत्र में किये जाने वाले श्रम को उत्पादक-उपभोक्ता या अधिशेष मूल्य जैसी पूंजीवादी अर्थशास्त्र की शब्दावली में इसलिए नहीं समझा जा सकता, क्योंकि कलाकार उन अर्थों में वस्तु-उत्पादन नहीं करता। लेकिन क्या थियेटर करते हबीब तनवीर, सितार बजाते रविशंकर या कविता लिखते नागार्जुन सामाजिक कर्म ही नहीं करते होते हैं ? कुल मिलाकर, मैं कहना यह चाहता हूँ कि अपने समय की भौतिक परिस्थितियों की उपज होकर भी इस्तेमाल में आने वाले लगभग सूक्ष्म-से उपकरणों और उनके साथ किये गये नाज़ुक-से सुलूकों के कारण अत्यन्त सरलीकृत ढंग से आधार-अधिरचना सम्बन्धों के आधार पर समाज और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करने से कला-रचना के साथ न्याय करने में चूक हो सकती है। प्रत्यक्ष होने के कारण आर्थिक परिवर्तनों को तो आसानी से समझा जा सकता है। लेखक-अधिरचनाओं में इतनी गुत्थमगुत्थ होती है कि उन्हें ठीक-ठीक पढ़ना मुश्किल होता है।

मुझे अच्छी तरह से याद है, 'राम ! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है। कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है'—पंक्तियों को पढ़कर अपनी तरुणावस्था में ही मैं बुरी तरह से चौंक पड़ा था। बात कहीं से बुनियादी तौर से ग़लत मुझे तब भी जान पड़ी थी। अब, जब कि अपनी प्रतिक्रिया को विश्लेषित करने की थोड़ी-बहुत बुद्धि मुझमें आ गयी हैं, अपने तब चौंक पड़ने का कारण मैं जानने लगा हूँ। कथ्य, निश्चय ही रचना का आधार है—लेकिन क्या रचना मात्र उसका कथ्य है ? यदि भौतिक उपादान ही सब-कुछ होता, तो अपनी प्राकृतिक अवस्था से यहाँ तक की यात्रा मनुष्य भला क्यों करता ? भौतिक उपादानों को बदलने की ज़रूरत ही तो उसे उपयुक्त साधनों की खोज के लिए प्रेरित करती है। तभी उत्पादन सम्भव होता है। कथ्य या कॉन्टेंट की साहित्यरचना में वही जगह है, जो वस्तु-उत्पादन में भौतिक उपादान की। कला-वस्तु में रूपांतरित हुए बिना विषय-वस्तु रचना नहीं बनती। राम के जीवन-वृत पर केन्द्रित सैकड़ों रचनाओं और 'मानस' तथा 'खद्योतों' में 'शशि' की पहचान का आधार, ज़ाहिर है, मात्र उनका कथ्य नहीं है। उत्पादित वस्तु का मूल्य, उत्पादक शक्ति ओर उत्पादन-साधनों को दृष्टि-ओझल करके नहीं कूता जा सकता। रचना का आकलन वस्तुतः कथ्य और रूप की अन्योन्यक्रिया के परिणाम का आकलन ही हो सकता है।

कथ्य और रूप की निरन्तर गतिमयता ही रचना को जन्म दे सकती है। इनमें से किसी एक के भी स्थिर या जड़ हो जाने से अथवा इनमें से किसी एक के प्रति रचनाकार के अतिरिक्त आग्रहशील हो जाने से भी रचना-प्रक्रिया की स्वाभाविक लय टूट जायेगी। प्रगतिशीलता को मात्र कथ्य-केन्द्रित मान कर हम लगभग वही ग़लती करेंगे, जो अन्वेषणों को रूपात्मक प्रयोगों में सीमित

देखने वाले कलावादी किया करते हैं। रचना की द्वन्द्वात्मकता का निषेध दोनों ही स्थितियों में होता है। यदि उत्पादनकर्त्ता वास्तव में दृष्टि-सम्पन्न हो, तो वह लाज़िमी तौर से प्रयोग में लाये जा रहे उत्पादन-साधनों को बदलने तथा उन्हें और-और प्रभावशील बनाने की दिशा में सक्रिय होगा। कुल मिलाकर, सही दृष्टि पर ज़ोर देना ग़लत नहीं है—बशर्ते वह दृष्टि समग्र-केन्द्रित हो, खंड-केन्द्रित नहीं। दूसरे शब्दों में, रचना-केन्द्रित समग्र दृष्टि ही वास्तविक प्रगतिशील दृष्टि हो सकती है। इस सिलसिले में मुझे वाल्टर बेंजामिन का कथन याद आ रहा है। 'लेखक बतौर उत्पादक' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने कहा है कि रचना में व्यक्त जीवन-दृष्टि राजनीति के लिहाज़ से भी तभी सही मानी जा सकती है जब वह साहित्य के लिहाज़ से भी सही हो। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दृष्टि से सही दृष्टि में साहित्यिक दृष्टि आवश्यक तौर से समाविष्ट रहती है। बेंजामिन के अनुसार राजनीतिक दृष्टि में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समाविष्ट इस साहित्यिक दृष्टि के अलावा रचना की गुणवत्ता का और कोई आधार नहीं हो सकता।

प्रगतिशील लेखक संघ प्रतिबद्ध लेखकों का संगठन है। लेखकीय कर्म, जैसा कि हम देख आये हैं, सामाजिक कर्म का ही हिस्सा है। जिस तरह श्रमिक पदार्थ को वस्तु में बदल कर उस पर आदमी की मुहर लगा देता है, उसी तरह लेखक भी अपने समय के यथार्थ को नया रूप देकर अभिव्यक्ति और वस्तुमत्ता की मानवीय आवश्यकता ही पूरी करता है। प्रेमचन्द यों ही अपने को क़लम का मज़दूर नहीं कहते थे। अपने भौतिक उपकरणों और उत्पादन-साधन की भिन्नता के कारण बौद्धिक कर्म की शकल दूसरे क्षेत्रों के उत्पादन-कर्मों से कितनी भी अलग क्यों न दिखती हो, है वह अन्ततः सामाजिक मनुष्य के सामूहिक उत्पादन-कर्म का ही एक हिस्सा। वर्ग-संघर्ष में बुद्धिकर्मी की भी हैसियत उत्पादन-प्रक्रिया में उसकी भूमिका के आधार पर ही आँकी जा सकती है। ब्रेश्त ने कला-कर्मी की भूमिका को 'फंक्शनल ट्रांसफ़ार्मेशन' नाम दिया था। मोटे तौर से उनका आशय यह था कि प्रगतिशील बुद्धिकर्मी उत्पादन के नये रूपों और औज़ारों को सिद्ध करके उत्पादन यंत्र को समाजवाद की दिशा की ओर उन्मुख करने का दायित्व निभाते हैं। विज्ञान की तरह संस्कृति की भी एक टेकनालाजी होती है, जो दिनोंदिन विकसित होती चल रही है। अपने कब्ज़े में रहने वाले उत्पादन यंत्रों की टेकनालाजी से परिचित सत्ताधारी वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए कुशलतापूर्वक उनका संचालन करता है। अब संस्कृति भी विपणन की वस्तु बनती जा रही है, जिसका उत्पादन, खरीद और बिक्री भी दीगर वस्तुओं की तरह मौजूदा अर्थ-नीति के अनुसार होने लगी है। संस्कृति के क्षेत्र में काम करने वाले प्रगतिशील लेखकों-कलाकारों को तो तकनीकी दृष्टि से और भी

अधिक कुशल होना पड़ेगा। तभी वे अपनी क्रान्तिकारी विषय-वस्तु को वांछित रूपाकार दे सकेंगे। ब्रेशत ने अपने एपिक थियेटर और पाल राब्सन ने अपने संगीत का कुछ ऐसा ही इस्तेमाल किया था। प्रेमचन्द ने उपन्यास जैसे ठेठ बुर्जुआ कला-रूप को सामाजिक चेतना सम्वाहक बना दिया। अरागाँ हों या नागार्जुन, नेरूदा हों या मुक्तिबोध, एलुआर हों या केदार, लोर्का हों या शमशेर-त्रिलोचन—बड़े लेखक ये इसलिए हैं क्योंकि इनकी रचनाएँ अपने प्रगतिशील वस्तु-तत्त्व के अनुरूप भाषा और शिल्प की खोज के भी निर्भ्रान्त साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। क्रान्तिकारी चेतना ऐसे ही लेखकों के बलबूते निर्मित हो सकती है, 'टुटपुँजिया' कवियों के बल पर नहीं, जो "मात्र सौ प्रगतिशील शब्दों पर अधिकार करके" कवि होने का दावा पेश करते हैं। संक्षेप में, अस्तरीय बौद्धिक उत्पादन से खास राजनीतिक लाभ मिलने की भी उम्मीद नहीं की जा सकती। लेखक के रूप में हमारी हैसियत और सामाजिक परिवर्तन के काम में हमारी भूमिका की अहमियत भी पूरी तरह से हमारी रचनात्मक गुणवत्ता के आधार पर समझी जा सकती है।

वेशक हम प्रतिवद्ध लेखक हैं—और अपने कर्म-क्षेत्र में सक्रिय रह कर सामाजिक परिवर्तन के काम में अपनी हिस्सेदारी को हम गौरव की बात मानते हैं। जब हम प्रतिबद्धता की बात करते हैं, तो वह महज़ वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं होती, क्योंकि मार्क्सवाद कोरी विचारधारा को खास महत्त्व नहीं देता—उसे आचरण या व्यवहार में बदलना ज़रूरी मानता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रतिज्ञा में कर्म-तत्पर होने का भाव अन्तर्निहित है। यह हम पर बखूबी स्पष्ट है कि कला जीवन-यथार्थ का महज़ तथ्यात्मक चित्रण न होकर वस्तु-सत्य के सारभूत अंशों के आधार पर उसकी नव-रचना है। संसार यदि जस का तस हमें स्वीकार होता, तो उसे बदलने की बेचैनी भला हमारे मन में क्योंकर पैदा होती? श्रम जैसे व्यावहारिक कार्य-कलाप में भी लक्ष्य की भूमिका पर जोर देते हुए मार्क्स ने कहा है :

"प्रत्येक श्रम-प्रक्रिया की समाप्ति पर जो परिणाम हमें हासिल होता है, वह उसके आरम्भ से ही श्रमिक की कल्पना में मौजूद हुआ करता है। वह न सिर्फ उस उपादान का रूप बदलता है जिस पर वह काम करता होता है, बल्कि अपने उस उद्देश्य की पूर्ति करता है, जो उसकी कर्म-विधि के नियम निर्धारित करता है और वह अपनी इच्छा जिसके अधीन कर देता है।" सोचने की बात है कि श्रम-प्रक्रिया की समाप्ति पर हासिल होने वाले परिणाम की श्रमिक के मन में उस प्रक्रिया के आरम्भ से ही मौजूदगी को मान्यता देने वाला दर्शन क्या कला की स्वायत्तता से इनकार कर कला-कृति को महज़ वैचारिकता में घटा सकता है? साहित्य के वर्गीय चरित्र और उसकी वैचारिकता पर लेनिन के ज़ोर देने

का मतलब रचना-कर्म से सम्बन्धित परिज्ञान से साहित्यकार का लैस होना ही लगाया जाना चाहिए, क्योंकि अपने उसी लेख में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि "कला के क्षेत्र में निजी पहल, व्यक्तिगत रुझान, विचार, फैंटेसी और रूप तथा वस्तु के लिए अधिक-से-अधिक 'छूट' ज़रूर दी जानी चाहिए।" मार्क्सवादी से अधिक कौन जानता है कि मानव-यथार्थ के विकास की सम्भावनाएँ असीम है और अपनी क्षमता के अनुसार मनुष्य इस यथार्थ का चाहे जितना विस्तार कर सकता है ! मानवीय प्रगति का इतिहास वास्तव में इस यथार्थ के क्रमिक वदलाव की गाथा है। कला के क्षेत्र में भी वस्तु, वस्तुगत यथार्थ और उसकी जानी-पहचानी आकृति का अपने औज़ारों की सहायता से अतिक्रमण पूरी तरह से स्वाभाविक और तर्कसम्मत है। यदि हम वाक़ई लेखक हैं—अर्थात अपने उत्पादन यंत्रों के इस्तेमाल की आवश्यक योग्यता हमने अर्जित कर ली है या करते चल रहे हैं—और उत्पादन प्रक्रिया के अन्तर्गत अपनी भूमिका हम पर स्पष्ट है, तो जैसा कि बेंजामिन कहते हैं, उत्पीड़ित समूह के साथ एकात्म हुए बिना हम नहीं रह सकेंगे। हमारे पिता प्रेमचन्द ने भी तो कहा था कि सच्चा लेखक आवश्यक तौर से प्रगतिशील ही होगा।

जैसा कि मैंने अपने लेख की शुरुआत करते हुए कहा है, समाज पर अपना वर्चस्व वनाये रखने के लिए अधिपति वर्ग केवल आर्थिक-राजनैतिक ही नहीं वरन् नैतिक-बौद्धिक क्षेत्रों में भी विभिन्न एजेंसियों के माध्यम से सक्रिय रहता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले तकनीकी-विशेषज्ञों की तरह संस्कृति-पंडितों और कलावन्तों को भी काम करने की सुविधा और छूट देकर सत्ता अधिरचना के अन्तर्गत आने वाले सामाजिक कर्मों का भी संचालन करती है। सत्ता के समीपस्थ सांस्कृतिक स्रोतों से निःसृत सुघड़, सुव्यवस्थित और चमकदार कला-चिंतन वड़े सूक्ष्म तरीके से जिन सांस्कृतिक मूल्यों का निर्धारण करता है, वे वास्तव में समाज के नियंत्रक वर्ग द्वारा निर्धारित मूल्य होते हैं। अपने विरोधियों को भी संस्कृति के इस खुले मंच के उपयोग की छूट देकर सत्ता वड़े कौशल से उनका अपने ही हितों के लिए इस्तेमाल करने लगती है। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि पिछले कुछ वर्षों से साहित्य के क्षेत्र में कलावादी शिविर की सक्रियता एकदम से वढ़ गयी है और प्रगतिशील खेमे में विखराव तथा भटकाव ही आया है ? पिछले दशक में जव नव-कलावाद द्वारा साहित्य के संकट को भाषा का संकट निरूपित किया गया, तो क्या सैद्धांतिक आधार पर उसका विरोध करना जरूरी नहीं था ?

युवा कवियों की कच्ची और अपरिपक्व लेकिन निस्संदेह वामपंथी तेवर की कविता पर नवकलावादियों द्वारा हल्ला बोल दिये जाने पर स्थापित प्रगतिशील पीढ़ी की क्या वही भूमिका होनी चाहिए थी जो देखने में आयी थी ?

साहित्य के नये मान-मूल्यों के निर्धारण के आधार और एप्रोच क्या हमारे भी लगभग वही होंगे जो कलावादियों के हैं? ज़ाहिर है कि हमीं अपने सबसे बड़े शत्रु हैं। प्रगतिशील आन्दोलन के पहले दौर की विफलता का संधान करते हुए मुक्तिबोध ने मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद से आक्रान्त प्रगतिशील नेतृत्व को इसके लिए काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार ठहराया था। अफ़सोस की बात है कि यह प्रवृत्ति आज भी हममें मौजूद है। इसके रहते वामपंथी लेखकों की एकता सम्भव नहीं होगी और हमारी फूट का फ़ायदा स्वाभाविक तौर से हमारे विरोधियों को मिलेगा।

नवकलावदी लेखक यह जानते हैं कि व्यक्तिगत कारणों से कुछ प्रगतिशील लेखकों को उनके मंच से जुड़ना भले मंजूर हो, लेकिन जहाँ तक पूरे संगठन का सवाल है, वह न कभी उनके साथ था, न कभी हो सकता है। इसलिए उन्होंने हमारे संगठन को ही अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाना तय किया। कलावाद के अनुसार कला-सृजन चूँकि मात्र व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रयास है—कलाकार की नरक की एकांत यात्रा जिसे उसे अकेले ही तय करनी होती है—इसलिए लेखकों के संगठन का न तो कोई औचित्य है, न ज़रूरत। ऐसे संगठन बनाने वाले, कलावादी आचार्यों की दृष्टि में, कला के नहीं, दरअसल राजनीति के क्षेत्र के आदमी होते हैं, जिनका उद्देश्य एकांत तपस्या में लीन अहिंसक तपस्वी-लेखकों पर हमला करने के अलावा और कुछ नहीं होता।

खुली लड़ाई का अपनी तरफ़ से ऐलान करके नवकलावादियों ने हमारी मुश्किल वाक़ई आसान कर दी है। साफ़ तौर से कहने का वक़्त आ गया है कि प्रगतिवाद का नवकलावादियों के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता, और जो लोग दो नावों पर सवार हैं उन्हें अन्तिम रूप से तय कर लेना होगा कि वे किसके साथ हैं। उसका क़द चाहे जितना ऊँचा हो, कोई भी व्यक्ति संगठन से बड़ा नहीं हो सकता। हमें कलावाद के पूँजीवाद की साहित्यिक शाखा होने के बारे में कभी भी भ्रम नहीं रहा है और जहाँ तक प्रगतिवाद का सवाल है, हमने इस पर परदा डालने की कभी कोशिश नहीं की कि वह समाजवाद के कलात्मक चिंतन का प्रतिफलन है। इस तरह यह लड़ाई मूलतः कलाचिंताओं की न होकर दो जीवन-दृष्टियों के बीच है, जिनके परस्पर सम्बन्ध स्थायी शत्रुता के ही हो सकते हैं। उत्पीड़ितों के पक्षधर लेखकों के संगठित होने के प्रयत्न कलावादियों को इसलिए आपत्तिजनक लगते हैं, क्योंकि इससे उनकी अखंड सांस्कृतिक प्रभुता ख़तरे में पड़ सकती है। शोषण और उत्पीड़न के समर्थकों की, भंड तपस्वियों वाली यह मुद्रा और प्रगतिशील लेखकों पर हिंस्र और आक्रामक होने का आरोप उनके वर्ग-चरित्र के अनुरूप ही है।

सृजनात्मक उपादानों के अलावा अपनी आंतरिक रचनात्मक प्रकृति

कारण भी लेखनकर्म तथा समाज के अन्य उत्पादन-कर्मों की निष्पादन-प्रणालियों में निःसंदेह पर्याप्त अन्तर है, लेकिन वह अंततः एक सामाजिक कर्म और व्यापक मानवीय श्रम का ही एक हिस्सा है। लेखन ही नहीं, श्रमप्रसूत हर मानवीय कर्म एक रचना है—क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार श्रम करता मनुष्य वस्तुतः अपने को ही उत्पादित करता है, अपनी आंतरिक प्रकृति के अनुरूप। लेखन ही क्यों, हर मानवीय कर्म की अपनी रचनात्मक शर्तें होती हैं, जिनका निर्वाह किये बिना कर्म-संपादन सम्भव ही नहीं है। लिखते हुए अपने ही एकांत में बन्द रहकर हम केवल अपने कर्म की रचनात्मक शर्तें ही पूरी करते होते हैं। लेखन हमारा निर्धारित कर्म है जिसे हमने स्वेच्छा से चुना है। अपने कर्म को विशेष दर्जा दिये जाने की माँग रखने का हमें अधिकार नहीं दिया जा सकता।

बौद्धिक कर्म चूँकि श्रमप्रसूत व्यापक मानवीय कर्म का एक हिस्सा है इसलिए बुद्धिकर्मी भी बौद्धिक श्रमिक के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। अन्य श्रमिकों के साथ उसका भाईचारे का नाता होता है। उत्पादन-प्रक्रिया के अन्तर्गत अपनी भूमिका, अपने उत्पादन-साधनों को और बेहतर तथा कारगर बनाने के तौर-तरीक़ों और सामाजिक परिवर्तन के अपने लक्ष्य की पूर्ति में विभिन्न कला-रूपों के सही और सार्थक उपयोग के बारे में मिल-बैठकर चर्चा करने के लिए बौद्धिक श्रमिकों को भी एक मंच की ज़रूरत महसूस होती है। प्रगतिशील लेखक संघ को हम ऐसे संगठन के रूप में विकसित करना चाहते हैं जो अपनी ज़मीन पर, और अपने ही औज़ारों से, सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्षशील हो। 'प्रगतिशील' कला-साधना के साथ-साथ जीवन-साधना करते चलना ज़रूरी मानता है। जीवन-साधना से मुक्तिबोध का आशय जीवन-दृष्टि के आलोक में निरंतर आत्मसंशोधन और आत्म-परिष्कार करते हुए अपने को फैलाना और व्यापक बनाना है। दृष्टि-सम्पन्नता पर ज़ोर देने का मतलब कला-कृति को महज़ वैचारिकता में घटा देना क़तई नहीं है, क्योंकि मार्क्सवाद कोरी विचार-धारा को ख़ास अहमियत नहीं देता—उसे आचरण या व्यवहारिकता में बदलना ज़रूरी मानता है। लेखन हमारी कर्म-साधना है। हम जानते हैं कि बतौर लेखक ही हमारी हैसियत आँकी जायेगी—इसीलिए अपने उत्पादन-साधनों पर महारत हासिल करने पर हम भी ज़ोर देते हैं। हम भी रचना की गुणवत्ता और स्तरीयता को ही उसके मूल्यांकन का आधार मानते हैं और रूप तथा अभिव्यक्ति की खोज के लिए बड़े-से-बड़ा ख़तरा उठाने में नहीं हिचकिचाते।

नवकलावादियों में ढेर सारे लोग मेरे भी मित्र हैं। उनमें से कई तो ऐसे भी हैं जिनकी प्रतिभा और योग्यता का मैं निर्विशेष भाव से कायल हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि लेखन-कर्म से वे भी पूरी ही निष्ठा से जुड़े लोग हैं। मेरी तरह वे भी मध्यवर्गीय परिवार से ही आये हैं। कुल-जाति और पारिवारिक संस्कार के

अलावा अपने कर्म का स्वभाव और शिक्षा-दीक्षा से प्राप्त सामाजिक हैसियत मुझे भी अपनी ज़मीन और अपने लोगों से काटकर हाथीदाँत की मीनार पर बिठा सकती थी, लेकिन सौभाग्य से ही अपने विकास-काल में मार्क्सवाद से जुड़ जाने के कारण मैं अपने वर्ग-चरित्र की सीमाएँ पहचानने लगा और स्वायत्त हुई जीवन-दृष्टि के आलोक में अपने मध्यवर्गीय संस्कारों का तब से परिष्कार-परिमार्जन करता चल रहा हूँ। अभी भी, मैं यह जानता हूँ कि अपने कर्म-चरित्र की तमाम सीमाएँ मुझमें मौजूद हैं, जिनके कारण सामान्य जन-समुदाय से पूरी तरह एकात्म हो पाना मैं सम्भव नहीं कर सका हूँ। अपने-आप से यह लड़ाई तो जीवन-भर चलनी है। लेकिन यह बात आईने की तरह मुझ पर साफ़ है कि मेरी नियति समाज के अन्तिम मनुष्य के साथ बँधी है और उसे आदमी की हैसियत मिलने तक मैं भी पूरी तरह से आदमी नहीं हो सकूँगा। भारत जैसे देश में जहाँ की आधी से अधिक जनसंख्या निर्धनता-रेखा के नीचे कराह रही है, और 37 वर्ष की स्वाधीन ज़िन्दगी में भी जिसे दो जून खाना तो दूर पीने का साफ़ पानी भी नहीं मिल सका है, क्या बौद्धिकों की वही भूमिका होनी चाहिए जो मेरे कलावादी मित्र निर्धारित करना चाहते हैं? हम तीसरे विश्व के लोग हैं। हमारी समस्या भी अलग है—इसलिए सोच का क्षितिज भी अलग ही होगा। एक बहुत बड़े शास्त्रनिष्ठ आचार्य थोड़े ही दिन पहले तक हमारे साथ थे। सारे शास्त्र घोलकर जिन्होंने बिना किसी लाग-लपेट के कह दिया —"सारे शास्त्र झूठे हैं रे!"—आधा-अधूरा सचमुच झूठा होता है। अपनी समग्र जातीय चेतना को हासिल करने के लिए अभिजन-संस्कृति का अतिक्रमण करना हजारीप्रसाद द्विवेदी को निहायत ज़रूरी लगा था। वे सिद्धों और नाथों के यहाँ गये, योगियों और तांत्रिकों के पास भी। और जैसे ही समाज में निचली मान ली गयी जाति के एक बड़े कवि उन्हें दिखायी दे गये, उनके चरणों पर लोट जाने में उन्होंने एक क्षण भी विलम्ब नहीं किया। संस्कृति की तीर्थ-यात्रा, ऐसे पूरी होती है। सांस्कृतिक सवाल आर्थिक सवालों से अलग नहीं होते। आर्थिक शोषण का वृत्त दरअसल सांस्कृतिक बिन्दु पर ही समाप्त होता है। आज के हालात तो कुछ मायनों में मध्ययुग से भी बदतर हैं। पाँच-छह सौ साल पहले तक शोषितों के पास कम-से-कम साधुओं की भाषा तो थी जिसका अस्त्र की तरह कबीर ने जब इस्तेमाल किया तो अभिजन भौंचक रह गये। शूद्रों को सांस्कृतिक आत्म-प्रस्थापना का आगे अवसर न मिल सके, इसका पक्का इन्तज़ाम करना उन्हें ज़रूरी लगा। संस्कृति के इतिहास में कबीर हाशिये में डाल दिये गये और निचली जातियों के आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक शोषण की प्रक्रिया और तेज़ कर दी गयी। भाषा, सोच, धर्म, दर्शन और जीवन-पद्धति आदि अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर हम हरिजन-गिरिजनों को संस्कारित करने

निकल पड़े। अपने कलावादी मित्रों से मैं पूछना चाहूँगा कि इन सब के विस्तार में जाना क्या निरी-समाजशास्त्रीय चिन्ता है? पूरी तरह लुटे-पिटे, मूक और निराश्रित वहुसंख्यजन के निरन्तर भाषा-हीन और संस्कृति-हीन होते चलने का सवाल क्या सांस्कृतिक सवाल नहीं है? उन्हें भेड़ियों के हवाले करके बुद्धिकर्मी स्वयं कितने दिन शून्य संस्कृति की निश्चिन्त आराधना कर सकेंगे?

हम एक बूढ़े देश के नागरिक हैं। स्मृतियों के अलावा और होता भी क्या है बूढ़े आदमी के पास? दिक्क़त यह है कि जैसे आदमी दुख में कुछ वैसे ही अपनी दुखद स्मृतियों से भी कतराने की कोशिश करता है। हमारे आसपास फैले थूहर के जंगल भी तो, हमारे ही पुरखों के लगाये हैं जिनमें हम आज तलक भटक-भटक कर जीते-जी मरते चल रहे हैं। इतिहास, शिलालेख और महाकाव्य-नाटक आदि में अपने को अंकित करने-कराने में समर्थ आततायी भी हमारे पुरखे हैं और उनकी गूँगी रियाया भी। इस रियाया का दुख भी तो कभी अकेले में कविता वन कर फूटा होगा। दूर कन्दराओं में कहीं उसने भी तो अपने मन का चेहरा उकेरा होगा। हमारी सांस्कृतिक धरोहर क्या काल की धारा को चीर हम तक आ पहुँचने वाले विशालकाय पोतों में ही लदी होगी? राजा और उसके अमलों से दूर भाग गिरि-कन्दरों और अरण्यों में शरण लेने के लिए वाध्य हुए निरीह लोगों ने भी क्या अपने छोटे-छोटे दोनों और डोंगियों में अपने दुख और उल्लास नहीं वहाये होंगे? क्या जल की सतह पर उतराते कमल ही हमारी जातीय स्मृति हैं? जल में सदियों से डूबे घास और सेंवार नहीं? एक्वेरियम में मुट्ठी-भर घास-सेंवार डाल कमल को ड्राइंग रूम के गुलदस्ते में सजाने के वजाय सदियों पुराने ताल की गहरी रहस्यमयता में धँसने का जोखिम रचनाकार को उठाना ही होगा। ऐसा किये विना वास्तविक मानवीय संस्कृति की रचना असम्भव है।

क्रान्ति और साहित्य

धनंजय वर्मा

एक गहरे अँधेरे कुएँ में मेंढकों का एक समाज रहता था। एक मोटा मेंढक उनका राजा था। सारे मेंढकों की मेहनत पर उसका एकछत्र अधिकार था। अपनी हालत को ही अपनी नियति मानकर वे चुपचाप उसके शोषण और अत्याचार को सहते जी रहे थे।...काफ़ी दिनों बाद उनके जीवन में एक वाक़या हुआ। एक परिन्दा उस कुएँ की जगत पर आकर बैठने लगा। वह आता और अपनी यात्रा के दौरान देखे गये सूरज और चाँद, आकाश चूमते पहाड़ों, हरी-भरी वादियों, उन्मुक्त हवाओं और क्षितिज तक फैले समन्दरों के गीत गाता। मोटे मेंढक की समझ में कुछ न आता, ताहम उसने अपने समर्थकों के ज़रिए यह प्रचारित करवाया कि यह परिन्दा उस स्वर्ग की बात कर रहा है जो तुम्हें इस जीवन की कड़ी मेहनत के बाद मिलेगा। इस जीवन में तुम्हें जो मिला है तुम उसी के लायक़ हो। तुम्हारा जीवन ही तुम्हारा धर्म है। मेंढक इस विलक्षण धर्म को समझ तो न पाते, लेकिन फिर ईश्वरीय नियम और न्याय की दुहाई देते सब-कुछ सहते। कुछ सोचने-समझने वालों को यह भी लगता कि हो-न-हो उनके शोषण के लिए ही इस परिन्दे का इस्तेमाल किया जा रहा है।...कुछ दिनों बाद उनमें एक जागरूक और संवेदनशील मेंढक पैदा हुआ। अपने हालात के साथ ही उसने परिन्दे के गीतों की एक नयी व्याख्या की। निराशा से भरे अपने निरर्थक अस्तित्व की विसंगतियों से छुटकारा पाने की प्रेरणा के रूप में उसने उन गीतों को रोशनी, हवा, स्वतंत्रता और मुक्ति से जोड़ा। धीरे-धीरे उसकी व्याख्याओं से प्रेरित होकर मेहनतकश मेंढक एकजुट होते गये। और जब क्रान्ति हुई, क्योंकि क्रान्तियाँ होती ज़रूर हैं, तब अपनी मुक्ति-सेना की ध्वजा पर परिन्दे को अंकित कर मेंढकों ने मुक्ति-गीत गाते हुए मोटे मेंढक का तख़्ता पलट दिया। मेंढकों का राज्य हो गया और उनके अनथक श्रम से वह कुआँ रोशनी और हवा से भर गया।

लेकिन अजीब बात कि परिन्दे ने आना तब भी न छोड़ा। नवस्थापित मेंढक-राज्य के सूत्रधारों ने सोचा : लगता है, यह परिन्दा ज़रूर पागल है। अब इन गीतों

की हमें क्या ज़रूरत है ? इन फ़न्तासियों की अब कौन-सी सामाजिक प्रासंगिकता है। खासकर तब जब कि जो हमें चाहिए था, वह हमने पा लिया है ?

और सारे मेंढकों ने मिलकर उस परिन्दे को पकड़ा, उसे मारा, उसमें भूसा भरकर अपने नये बने अजायबघर में उसे टाँग दिया...।

सामाजिक क्रान्ति और साहित्य के बारे में सोचते हुए चुआँगत्सू का यह किस्सा बेसाख़्ता याद आ गया है। माहौल में जब क्रान्ति ही नहीं, समग्र क्रान्ति के भी नारे गूँज रहे हों तब इस किस्से का याद आ जाना कितना प्रासंगिक है !

क्रान्ति भारतीय चरित्र नहीं है। वह हमारा जातीय स्वभाव भी नहीं है। अपने सही अर्थ-संदर्भ में क्रान्ति भारतीय जीवन-दर्शन और सामाजिक संरचना के लिए लगभग पराया शब्द है। हमारा धर्म मुक्ति के रास्ते तो बताता है, मगर क्रान्ति को लगातार अवरुद्ध करता जाता है। अजीब पैराडाक्स है ! बकौल मार्क्स : "विलासिता के संसार और क्लेश के संसार के इस अनोखे मेल, अत्यधिक ऐन्द्रियता और आत्मपीड़क तपस्या के धर्म वाले इस देश में जहाँ लिंगम् भी है और जगन्नाथ भी, साधु भी है और नर्तकी भी" सामाजिक या किसी भी क्रान्ति का दर्शन गैरज़रूरी रहा है। ऐसा नहीं कि धार्मिक या सामाजिक क्रान्तियाँ यहाँ नहीं हुईं, लेकिन आधुनिक अर्थों में क्या उन्हें वाक़ई क्रान्तियाँ कहा जा सकता है ? रूढ़ व्यवस्था को चुनौती देने या उन्हें बदलने की बजाय उनसे रियायतें पाकर समझौते करने में ही उनका सारा प्रतिवाद, विरोध और विद्रोह खलास हो गया है। किसी नयी मूल्य-व्यवस्था का आदर्श लेकर वे चलीं ज़रूर, लेकिन किसी नयी सामाजिक संरचना को उन्होंने जन्म नहीं दिया। इसलिए कोई भी क्रान्ति, सदियों से दलित और शोषित वर्गों की मुक्ति में नहीं, उनकी फिर-फिर कर दासता में फलीभूत हुई। क्रान्ति बनाम सुधारवाद में भारतीय चरित्र ने लगभग हमेशा सुधार का आसान रास्ता अख़्तियार किया है। क्रान्ति की दिशा में जब-जब भी हम गये हैं, बहुत जल्द लौट या मुड़कर हमने अपने चिरपरिचित समन्वयवादी पड़ाव पर डेरे डाल दिये हैं। क्रान्ति और क्रान्तिकारियों की परम्परा समन्वय की बलि चढ़ गयी है। कबीर की परम्परा पंथ में, बुद्ध की परम्परा संघारामों में और शंकराचार्य की परम्परा मठों में तब्दील हो गयी है। हमारा पूरा इतिहास राजनीतिक हलचलों से भरा पड़ा है, लेकिन सामाजिक और आर्थिक संरचना जाने कब से ज्यों-की-त्यों है। अजब है यह समाज ! बकौल मार्क्स : "वह भूमि के एक तुच्छ-से-तुच्छ टुकड़े के साथ चिपटा हुआ चुपचाप साम्राज्यों की तबाही देखता रहा, अकथनीय ज़ुल्म होते देखता रहा, बड़े-बड़े नगरों की सारी आबादी का क़त्ले-आम भी देखता रहा, इस तरह जैसे प्राकृतिक घटनाएँ देख रहा हो...।" भरोसा, पुराणों की भाषा में, यह कि हर प्रलय के बाद अक्षयवट का एक छोटा-सा पत्ता ज़रूर बच रहा है, जिस पर नयी सृष्टि के बीज सुरक्षित रहे हैं और इसी भरोसे

वल्कि छलावे के तहत पूर्णसिह के शब्दों में "अपने अटूट स्वप्न में वह देखता रहा और निश्चय करता रहा कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ, हवा में पद्मासन लगा सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ।"...नियतिवाद, समरसता, मध्यम मार्ग और आध्यात्मिक आनन्दवादी दर्शन की परिणति एक अपरिवर्तनशील, प्रतिकारशून्य और निष्क्रिय समाज में होनी थी, सो होकर रही।

मुमकिन है, अपने समाज और संस्कृति के सरगम (गैमट) पर यह वक्तव्य आपको नकारात्मक और निराशवादी लगे, लेकिन क्या आप सतही आशावाद के कायल होना पसन्द करेंगे ? क्या आपको नहीं लगता कि यह हमारे जातीय चरित्र की वास्तविकता है ? और क्रान्ति की मानसिकता, सतही आशावाद से नहीं, वास्तविकता के खुले साक्षात्कार से ही जन्म लेती है। उसके विचार खाँटी यथार्थ में से ही पैदा होते हैं। उसमें तात्कालिकता का बोध और एक बौद्धिक निर्ममता होती है और वास्तविकता की पहचान और परख उसकी सम्भावनाओं को परिभाषित करती हैं।

यही देखिए कि क्रान्ति अर्से से उस पश्चिम के साहित्य, समाज-दर्शन और राजनीति की थीम रही है जिसे हम भौतिकतावादी कहते हैं, लेकिन हमारे आध्यात्मिक भारत के साहित्य, समाज-दर्शन और राजनीति में उसका लगभग सिरे से अभाव है। बात साहित्य के सन्दर्भ में की जाये। पश्चिमी स्वच्छन्दतावाद में क्रान्ति साहित्य का लगातार सरोकार रही है। उसके आध्यात्मिक और कलात्मक के साथ-साथ सामाजिक आसंग भी मुखर रहे हैं। वह सहज बौद्धिक और वैचारिक क्रान्ति ही नहीं रही, वरन् सामाजिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक बदलाव से भी उसका द्वन्द्वात्मक रिश्ता रहा है। जबकि हमारे यहाँ के स्वच्छन्दतावाद ने क्रान्ति का ज़्यादा-से-ज़्यादा रूमानीकरण और मिथकीयकरण ही किया है। सामाजिक तब्दीली की मंशा और कर्म से उनका कोई ठोस, प्रासंगिक और असरदार सरोकार नहीं रहा। इधर आजकल क्रान्ति की टेक पर शाब्दिक उफ़ान की जो कविता और साहित्य लिखा जा रहा है, उससे लगता है कि हर लेखक या कवि अपनी कलम को 'आन गार्डस' की मुद्रा में पकड़े सड़कों-गलियों में निर्णायक लड़ाई लड़ने की 'चार्ज्ड' स्थिति में है। दरअसल यह सही क्रान्तिकारिता भी नहीं है, यह उन ख़तरों में से एक है जिसे सार्त्र क्रान्तिकारिता का ख़तरा कहता है याने वामवाद। वामपंथ और वामवाद में फ़र्क है। उग्र वामपंथी हीरोइक्स वामवादी ही हैं और वे सारी विचारधारा को ग़लत दिशा और संदर्भ दे देते हैं।

शायद यही वजह है कि क्रान्ति और साहित्य को लेकर हमारे यहाँ जिस तरह की बातें की जाती हैं उनमें दोनों ओर एक अतिरेक और अविवेक होता है। या तो साहित्य और कला को हम सब-कुछ मानकर उसे सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की तब्दीली और क्रान्ति का हथियार समझ लेते हैं

साहित्य में या उसके ज़रिये सीधी कार्यवाही का मिथ खड़ा करते हैं या फिर क्रान्ति के प्रसंग में उसे निहायत ग़ैरज़रूरी मानकर सामाजिक परिवर्तन के आसंगों और आकांक्षाओं से उसे काटकर महज़ आत्म-अभिव्यक्ति और शाब्दिक खिलवाड़ बना देते हैं। या तो अमूर्त और सतही राजनीतिक नारों से साहित्य पर फ़ैसले देते हैं या फिर एक अमानवीयकृत और निरपेक्ष कलावाद को अपना सारा विवेक सौंप देते हैं। मैं किसी क़िस्म के मध्यममार्ग या समन्वय की वकालत नहीं कर रहा हूँ, एक बौद्धिक निर्ममता से क्रान्ति और साहित्य के बुनियादी रिश्तों की पड़ताल और दोनों किस्म के छद्मों से मुक़ाबले की अहमियत पर ज़ोर देना चाहता हूँ।

क्रान्ति और साहित्य की बनावट को अलग-अलग मानने वाले लोग क्रान्ति में साहित्य की भूमिका को एक 'प्रवाद' करार देते हैं और इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि साहित्य सामाजिक परिवर्तन का ज़रिया नहीं है। इन्हें आप चाहें तो बुर्जुआ यथास्थितिवादी कह सकते हैं, लेकिन उसे (मसलन—लू शुन को) आप क्या कहियेगा जो कहता है: "मेरी समझ में क्रान्ति के इस केन्द्र में लेखक यह दावा करना पसन्द करते हैं कि साहित्य की भूमिका काफ़ी बड़ी होती है...लेकिन मेरे विचार से इस प्रकार के लेखन में आन्तरिक ताक़त की कमी होती है, क्योंकि अच्छी साहित्यिक रचनाएँ आदेश से नहीं लिखी गयी हैं।" तो क्या इससे यह नतीजा निकाला जाये कि क्रान्ति और साहित्य का परस्पर कोई रिश्ता नहीं है? इस बारे में तो ख़ैर कोई शक नहीं होना चाहिए कि क्रान्ति एक सामाजिक और सामूहिक संकल्प का नतीजा होती है और साहित्य एक वैयक्तिक सर्जना। एक सम्मिलित और समवेत निर्णय है, दूसरा एक व्यक्ति का रचनात्मक चुनाव। लेकिन ज़रा ग़ौर किया जाये कि क्या सामाजिक बदलाव की इच्छा और व्यक्ति की रचना एक-दूसरे से असर नहीं लेती या एक-दूसरे पर असर नहीं डालतीं? कलावादी भी इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि साहित्य लोगों के मन को, उनकी बनावट, संस्कार और संवेदना को बदलता है, उसमें भावात्मक और वैचारिक परिवर्तन लाता है। ज़ाहिर है यह परिवर्तन बहुत सूक्ष्म होता है, लेकिन क्या उतना ही बुनियादी भी नहीं? तो लोगों के मन की बनावट, भाव, विचार, रुख़ों और नज़रियों में होने वाली इस तब्दीली की क्या सामाजिक बदलाव की इच्छा में कोई भूमिका नहीं हो सकती? इस बात को कैसे भुलाया जा सकता है कि रूसी समाज की वास्तविकताओं को उजागर करने वाली तालस्ताय और दास्तायेव्स्की की बहुध्वन्यात्मक (पालीफ़ोनस) रचनाओं का क्रान्ति की ज़रूरत और इतिहास पर गहरा असर रहा है। यह ठीक है कि उससे रूसी क्रान्ति नहीं हुई, उसके लिए लेनिन की प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर अपने साहित्य से सोच का एक नया ढंग, नयी मानसिकता और क्रान्तिकारी संवेग, क्रान्ति की मानसिक

और भावात्मक उत्तेजना और ज़मीन तैयार करने में क्या उनका कुछ भी हाथ नहीं था ? और फिर क्रान्ति का असर उसके बाद के रूसी साहित्य में साफ़ देखा जा सकता है। एक बुनियादी सवाल और है। एक व्यक्ति के रूप में रचनाकार जिस परिवेश, जिस 'मिल्यू' और जिस दुनिया में रहता-जीता है, उसको रूपायित करने वाली ताक़तों से उसका क्या कोई सरोकार नहीं होगा ? जब हम साहित्य की प्रासंगिकता की बात करते हैं तब वक्त के तक़ाज़ों को कैसे नज़रन्दाज़ कर सकते हैं ? अपने समय और इतिहास से बाहर जाना एक खुशफ़हमी है। समय के संघर्षों, बदलाव और सामाजिक इच्छा और निर्णयों से कटा हुआ साहित्य अव्वल तो हो नहीं सकता, कि कई बार नकारात्मक रूप में ही सही वह उसकी ताईद करता है, और यदि हो भी तो हमारे लिए वह अप्रासंगिक और निरर्थक होता है।

फिर ऐसा कैसे हो सकता है कि जब समाज का एक बहुसंख्यक वर्ग बदलाव की ज़रूरत और तात्कालिकता के एहसास से गुज़र रहा होता है तब साहित्य उससे बेख़बर रहा आए ? खासकर तब जब कि आप समय और समाज का उसे एक जागरूक और संवेदनशील घटक मानते हैं। साहित्य एक प्रतिसंसार की रचना कहा गया है। मौजूदा हालात की पहचान के साथ उसकी पड़ताल भी यदि रचनात्मक सृजन का मानवीय सरोकार है तो उसके पीछे यह मानवीय संवेग भी सक्रिय होता है कि एक बेहतर और सार्थक दुनिया के लिए बदलाव की ज़रूरत है। एक प्रतिसंसार, एक बेहतर विकल्प, साहित्य और कला का आदिम संवेग रहा है : यथास्मै रोचते विश्वम् तथेदं परिवर्तते। वह यथार्थ का महज़ स्वीकार और अनुमोदन नहीं, प्रतिवाद भी है : जो कुछ और जैसा कुछ है, उसका अस्वीकार और उसे बदलने की मानसिक और भावात्मक तैयारी : याने आप ग़ौर करें तो यह आदमी की इतिहास में हिस्सा लेने की उसी इच्छा और भावना की ही एक सिम्त है जो क्रान्ति के प्रसंग में इतिहास की दिशा को बदलने की तीव्र मानवीय आकांक्षाओं में फलीभूत होती है। क्रान्ति सीधी कार्रवाई से आदमी की नियति और स्थिति को बदलने की एक बेचैन आकांक्षा और कर्म है और साहित्य उस आकांक्षा और कर्म की भावना, विचार, मानसिकता और आवेग की अभिव्यक्ति।

क्रान्ति का यह चरित्र रहा है कि वह एक चेतना, एक दर्शन, एक विचार-धारा के रूप में शुरू होती है और राजनीतिक तब्दीलियों, सामाजिक उथल-पुथल और आर्थिक सम्बन्धों के बदलाव में उसकी परिणति होती है। कारण उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ही होते हैं, लेकिन उन कारणों और ज़रूरतों का एहसास, बौद्धिक पहचान और रचनात्मक उत्तेजना ही एक ऐति-हासिक घटना के रूप में फलीभूत होती है। इसीलिए क्रान्ति जीवन के प्रति एक

साहित्य में या उसके ज़रिये सीधी कार्यवाही का मिथ खड़ा करते हैं या फिर क्रान्ति के प्रसंग में उसे निहायत ग़ैरज़रूरी मानकर सामाजिक परिवर्तन के आसंगों और आकांक्षाओं से उसे काटकर महज़ आत्म-अभिव्यक्ति और शाब्दिक खिलवाड़ बना देते हैं। या तो अमूर्त और सतही राजनीतिक नारों से साहित्य पर फ़ैसले देते हैं या फिर एक अमानवीयकृत और निरपेक्ष कलावाद को अपना सारा विवेक सौंप देते हैं। मैं किसी क़िस्म के मध्यममार्ग या समन्वय की वकालत नहीं कर रहा हूँ, एक बौद्धिक निर्ममता से क्रान्ति और साहित्य के बुनियादी रिश्तों की पड़ताल और दोनों किस्म के छद्मों से मुक़ाबले की अहमियत पर जोर देना चाहता हूँ।

क्रान्ति और साहित्य की बनावट को अलग-अलग मानने वाले लोग क्रान्ति में साहित्य की भूमिका को एक 'प्रवाद' करार देते हैं और इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि साहित्य सामाजिक परिवर्तन का ज़रिया नहीं है। इन्हें आप चाहें तो बुर्जुआ यथास्थितिवादी कह सकते हैं, लेकिन उसे (मसलन—लू शुन को) आप क्या कहियेगा जो कहता है: "मेरी समझ में क्रान्ति के इस केन्द्र में लेखक यह दावा करना पसन्द करते हैं कि साहित्य की भूमिका काफ़ी बड़ी होती है...लेकिन मेरे विचार से इस प्रकार के लेखन में आन्तरिक ताक़त की कमी होती है, क्योंकि अच्छी साहित्यिक रचनाएँ आदेश से नहीं लिखी गयी हैं।" तो क्या इससे यह नतीजा निकाला जाये कि क्रान्ति और साहित्य का परस्पर कोई रिश्ता नहीं है? इस बारे में तो ख़ैर कोई शक नहीं होना चाहिए कि क्रान्ति एक सामाजिक और सामूहिक संकल्प का नतीजा होती है और साहित्य एक वैयक्तिक सर्जना। एक सम्मिलित और समवेत निर्णय है, दूसरा एक व्यक्ति का रचनात्मक चुनाव। लेकिन ज़रा ग़ौर किया जाये कि क्या सामाजिक बदलाव की इच्छा और व्यक्ति की रचना एक-दूसरे से असर नहीं लेती या एक-दूसरे पर असर नहीं डालतीं? कलावादी भी इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि साहित्य लोगों के मन को, उनकी बनावट, संस्कार और संवेदना को बदलता है, उसमें भावात्मक और वैचारिक परिवर्तन लाता है। जाहिर है यह परिवर्तन बहुत सूक्ष्म होता है, लेकिन क्या उतना ही बुनियादी भी नहीं? तो लोगों के मन की बनावट, भाव, विचार, रुख़ों और नज़रियों में होने वाली इस तब्दीली की क्या सामाजिक बदलाव की इच्छा में कोई भूमिका नहीं हो सकती? इस बात को कैसे भुलाया जा सकता है कि रूसी समाज की वास्तविकताओं को उजागर करने वाली तालस्ताय और दास्तायेव्स्की की बहुध्वन्यात्मक (पालीफ़ोनस) रचनाओं का क्रान्ति की ज़रूरत और पहचान पर गहरा असर रहा है। यह ठीक है कि उससे रूसी क्रान्ति नहीं हुई, उसके लिए लेनिन की प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर अपने साहित्य से सोच का एक नया ढंग, नयी मानसिकता और क्रान्तिकारी संवेग, क्रान्ति की मानसिक

यह भी ठीक है, वकील लेनिन, कि सामाजिक ढाँचे में साहित्य महज़ एक छोटा-सा पुर्ज़ा है, लेकिन उसका अविभाज्य और अनिवार्य अंग भी तो है कि एक भी पुर्ज़े के बिना बड़ी-से-बड़ी मशीन भी ठप्प हो जाती है। शायद इसलिए लेनिन ने जनता की आध्यात्मिक ज़रूरत के रूप में साहित्य और संस्कृति की जनवादी भूमिका पर ज़ोर दिया था। अधिक न सही, परिवर्तन के एक न्यूनतम मंच के रूप में साहित्य की हैसियत और भूमिका को नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता। ब्रेख्त ने सही कहा था : "मैं कर ही क्या सकता था ? फिर भी शोषक अधिक सुरक्षित होते अगर मैं न होता, और यही मेरी उम्मीद थी।"...साहित्य से इतनी भी उम्मीद करना क्या असाहित्यिकता होगी ? क्या इतनी भी जागरूकता उसकी ज़िम्मेदारी नहीं हो सकती ?

यह जागरूकता, अपने समय के सवालों और संकटों का एहसास और अपनी नियति को खुद तय करने का आदमी का भरोसा, आधुनिक साहित्य की थीम रही है; खासकर उन देशों के साहित्य में जहाँ कि क्रान्तियाँ हुई हैं और मुक्ति-युद्ध चले और चल रहे हैं। आदमी और उसको घेरे हुए दुनिया के बीच विषमता का एहसास पहली बार ही नहीं हुआ है : हालात और इतिहास को बनाने-बिगाड़ने वाली ताक़तों और रचना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों का सिलसिला रचनात्मकता की शुरुआत से ही चला आ रहा है। आज फ़र्क यह आ गया है कि पहले उस विषमता के कारण, तर्क और रिश्ते, हमारी समझ के बाहर थे, रहस्यमय शक्तियों को सौंप दिये गये थे। आज उनकी पहचान साफ़ हो गयी है कि उत्पादन-साधनों के वितरण, सामाजिक रिश्तों की बनावट और पूँजीवादी व्यवस्था को ही हम उस सबके लिए ज़िम्मेदार पाते हैं। और उनसे मुक्ति को आदमी का अधिकार और ज़िम्मेदारी भी समझते हैं। यही क्रान्ति का अधिकार और ज़िम्मेदारी है जो मानवीय गरिमा, स्वतंत्रता, पूर्णता और सतर्कता का दावा और सत्यापन है। इसीलिए क्रान्ति उस सबके ख़िलाफ़ होती है जो आदमी के अपने सार्थक होने के ख़िलाफ़ होता है।

जब तक कोई समाज इस भावात्मक एहसास, वैचारिक उत्तेजना और रचनात्मक बेचैनी के साथ परिवर्तन की जरूरत महसूस नहीं करता, क्रान्ति नहीं कर सकता। क्रान्ति में साहित्य की भूमिका से हमारा मतलब ठीक इसी तरह के एहसास, उत्तेजना और बेचैनी का माहौल बनाना है। हम जानते हैं कि यह काम साहित्य अपनी शर्तों पर ही कर सकता है और साहित्य की कोई भी शर्त मानवविरोधी नहीं हो सकती। रचनात्मकता का तर्क मानवीय हित का विरोधी नहीं है। सवाल सिर्फ साहित्य की शर्तों और रचनात्मकता के नाम पर चलनेवाली राजनीति का है, जिसके प्रति सिर्फ मुस्तैद होने की ज़रूरत है। अनुभवों की तात्कालिकता के प्रति रचनात्मक और मानवीय निष्ठा और आलोचनात्मक रुख़ों

नज़रिया कही गयी है, जो मौजूदा हालात की पहचान और उनसे नजात पाने की एक लगातार भावात्मक, मानसिक और भौतिक कोशिशों से पैदा होता है। वह इस एहसास और चेतना से पैदा होता है कि चीज़ें और हालात बदले जा सकते हैं और बदले जाने चाहिए। इस एहसास और चेतना की दुनिया ही 'शब्द' और 'भाव' की दुनिया है, जिससे साहित्य रूपायित होता है और बदलाव की बेचैनी का माहौल बनता है और कर्म की उत्तेजना आती है। इसमें कोई शक नहीं कि यह चेतना, सामाजिक अस्तित्व से ही रूपायित होती है। जब समाज की भौतिक और उत्पादन शक्तियाँ मौजूदा उत्पादन-सम्बन्धों से टकराती हैं, जब वे सम्बन्ध उत्पादक-शक्तियों के विकास के लिए बेड़ियाँ बन जाते हैं तभी सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात होता है। इस सबका एहसास और उसका इज़हार साहित्य का सरोकार है।

किसी भी विचार-दर्शन, भावना, एहसास और चेतना की दुनिया शब्द की दुनिया है जिसके आगे कर्म का संसार शुरू होता है। मौजूदा हालात, विसंगतियों, सामाजिक अन्तर्विरोधों, वर्गवैषम्य, सामाजिक असमानता और शोषण का एहसास क्रान्ति की ज़मीन तैयार करते हैं। इस स्तर पर साहित्य और शब्द की अपनी एक सूक्ष्म लेकिन बुनियादी भूमिका हो सकती है। वह क्रान्ति को प्रेरित करने में अपना रोल अदा कर सकते हैं, बशर्ते अपने प्रासंगिक धर्म और सरोकारों के प्रति वे जागरूक हों। यह भी ठीक है कि शब्द और कर्म आपस में अपनी जगह नहीं बदल सकते। शब्द को आप न तो तलवार में बदल सकते हैं और न बन्दूक में। महज़ शब्द से न कभी कोई व्यवस्था बदलती है और न क्रान्ति होती है। यह भी एक खुशफ़हमी ही कही जायेगी कि शब्द से सत्ताओं के आसन डोल जाते हैं, लेकिन यदि व्यवस्था और सत्ता साहित्य और लेखक की परवाह नहीं करती तो इसकी कुछ तो ज़िम्मेदारी उनके चरित्र पर भी है। इसका सीधा मतलब यह भी है कि उसका कोई असर अपने पाठकों और लोगों पर नहीं है। फ्रान्स में लेखक की खास स्थिति का आख़िर कारण क्या है ? वहाँ लेखक और बुद्धिजीवी खासी इज़्ज़त का मालिक होता है। अपनी जनता से उसका रिश्ता कुछ इतना अहम है कि सामाजिक और राजनीतिक सवालों पर उसके बयानों की क़द्र की जाती है। अपनी रचना की दुनिया से बाहर भी उसकी हैसियत और भूमिका होती है और उससे एक सार्वजनिक ज़िम्मेदारी की भी उम्मीद की जाती है। और यदि लेखन किसी व्यवस्था के लिए इतना ही फ़ालतू है तो फिर पास्तरनाक, कूज़नेत्सेव और सोल्झेनित्सिन के मामलों में इतने हंगामे और शीतयुद्ध का मतलब ही क्या हो सकता है ? क्या उनसे यह एक बात साबित नहीं होती कि साहित्य का लोगों की मानसिकता पर कुछ-न-कुछ असर होता है : बशर्ते वह अपने वक्त के सवालों से टकराता हो और प्रासंगिक हो।

यह भी ठीक है, वकील लेनिन, कि सामाजिक ढाँचे में साहित्य महज एक छोटा-सा पुर्ज़ा है, लेकिन उसका अविभाज्य और अनिवार्य अंग भी तो है कि एक भी पुर्जे के विना बड़ी-से-बड़ी मशीन भी ठप्प हो जाती है। शायद इसलिए लेनिन ने जनता की आध्यात्मिक ज़रूरत के रूप में साहित्य और संस्कृति की जनवादी भूमिका पर ज़ोर दिया था। अधिक न सही, परिवर्तन के एक न्यूनतम मंच के रूप में साहित्य की हैसियत और भूमिका को नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता। ब्रेख्त ने सही कहा था : "मैं कर ही क्या सकता था ? फिर भी शोषक अधिक सुरक्षित होते अगर मैं न होता, और यही मेरी उम्मीद थी।"...साहित्य से इतनी भी उम्मीद करना क्या असाहित्यिकता होगी ? क्या इतनी भी जागरूकता उसकी ज़िम्मेदारी नहीं हो सकती ?

यह जागरूकता, अपने समय के सवालों और संकटों का एहसास और अपनी नियति को खुद तय करने का आदमी का भरोसा, आधुनिक साहित्य की थीम रही है; खासकर उन देशों के साहित्य में जहाँ कि क्रान्तियाँ हुई हैं और मुक्ति-युद्ध चले और चल रहे हैं। आदमी और उसको घेरे हुए दुनिया के बीच विषमता का एहसास पहली वार ही नहीं हुआ है : हालात और इतिहास को बनाने-बिगाड़ने वाली ताक़तों और रचना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों का सिलसिला रचनात्मकता की शुरुआत से ही चला आ रहा है। आज फ़र्क यह आ गया है कि पहले उस विषमता के कारण, तर्क और रिश्ते, हमारी समझ के बाहर थे, रहस्यमय शक्तियों को सौंप दिये गये थे। आज उनकी पहचान साफ़ हो गयी है कि उत्पादन-साधनों के वितरण, सामाजिक रिश्तों की बनावट और पूंजीवादी व्यवस्था को ही हम उस सबके लिए ज़िम्मेदार पाते हैं। और उनसे मुक्ति को आदमी का अधिकार और ज़िम्मेदारी भी समझते हैं। यही क्रान्ति का अधिकार और ज़िम्मेदारी है जो मानवीय गरिमा, स्वतंत्रता, पूर्णता और सतर्कता का दावा और सत्यापन है। इसीलिए क्रान्ति उस सबके ख़िलाफ़ होती है जो आदमी के अपने सार्थक होने के ख़िलाफ़ होता है।

जब तक कोई समाज इस भावात्मक एहसास, वैचारिक उत्तेजना और रचनात्मक बेचैनी के साथ परिवर्तन की जरूरत महसूस नहीं करता, क्रान्ति नहीं कर सकता। क्रान्ति में साहित्य की भूमिका से हमारा मतलब ठीक इसी तरह के एहसास, उत्तेजना और बेचैनी का माहौल बनाना है। हम जानते हैं कि यह काम साहित्य अपनी शर्तों पर ही कर सकता है और साहित्य की कोई भी शर्त मानवविरोधी नहीं हो सकती। रचनात्मकता का तर्क मानवीय हित का विरोधी नहीं है। सवाल सिर्फ साहित्य की शर्तों और रचनात्मकता के नाम पर चलनेवाली राजनीति का है, जिसके प्रति सिर्फ मुस्तैद होने की ज़रूरत है। अनुभवों की तात्कालिकता के प्रति रचनात्मक और मानवीय निष्ठा और आलोचनात्मक रुख़ों

से क्रान्ति की जरूरत की बौद्धिक पहचान को जब तक अमूर्तन के संसार से निकालकर ठोस स्थितियों और मसलों से नहीं जोड़ा जाता तब तक क्रान्ति महज़ कल्पना की दुनिया में सीमित शाब्दिक बहस होकर ही रह सकती है। ऐसी क्रान्तियाँ साहित्य में बहुत हो चुकी हैं। भावात्मक और बौद्धिक क्रान्ति को वस्तुपरक और ठोस चीज़ों और मक़सदों से जोड़ने की ज़रूरत आज का तक़ाज़ा है। यह ठीक है कि सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के पहले दृष्टिकोणों और मानसिकताओं में परिवर्तन ज़रूरी होता है, लेकिन इस तर्क पर समग्र, आध्यात्मिक, बुनियादी, लगातार और निरपेक्ष क्रान्ति का नारा कई बार जितना आकर्षक होता है उतना ही उसकी निहित मंशा उन विकृतियों और विसंगतियों और व्यवस्था को बरकरार रखना भी होता है जिनसे कि आदमी पीड़ित और संत्रस्त होता है।

क्रान्ति का सक्रिय सरोकार उस मौजूद अमानवीय व्यवस्था को बदलना है जो आदमी के ख़िलाफ़ होती है। इसीलिए क्रान्ति का मतलब महज़ वैचारिक और बौद्धिक या भावात्मक क्रान्ति नहीं है, एक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ दूसरी बेहतर और मानवीय व्यवस्था को खोजने और पाने की तड़प और समवेत कोशिश है। वह व्यक्तिवादी अराजकता और भावुक उत्साह की हममानी नहीं है। वह प्रतिक्रियावादी छद्मों और उग्र और अतिवादी हीरोइक्स में भी निवास नहीं करती। वह निश्चित और ठोस आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम के (लिए और के) द्वारा पायी जाती है, अतः क्रान्ति महज़ एक शब्द और दर्शन नहीं है, वह सामाजिक आर्थिक योजना भी है जिसके ज़रिए 'सार्वजनीनता' पायी जा सकती है, 'विशेष' और 'विशिष्टताएँ' ख़त्म की जा सकती हैं। क्रान्ति मानवीय स्वतंत्रता, पूर्णता और सार्थकता के लिए प्रतिबद्ध है, लेकिन वह पूँजीवादी समाजव्यवस्था की असीमित स्वतंत्रता के ख़िलाफ़ एक सक्रिय और ज़िम्मेदार प्रतिवाद है जो शोषक वर्ग के द्वारा शोषित मानवता के ख़िलाफ़ इस्तेमाल होती है, जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता, मानवीय स्वतंत्रता के ख़िलाफ़ होती है, जहाँ अभिव्यक्ति की स्वतत्रता के मानी छद्मों की रचना की स्वतंत्रता, आचरण की आज़ादी का मतलब साज़िश की आज़ादी और निजी सम्पत्ति के अधिकार का मतलब शोषण की छूट हो जाती है। क्रान्ति दरअसल मानवीय स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मर्यादा का एहसास भी है।

क्रान्ति और साहित्य की स्वतंत्रता के प्रसंग में अकसर लेखकीय ईमानदारी और राजनीतिक लक्ष्यों का द्वन्द्व खड़ा कर दिया जाता है। लेखकीय स्वतंत्रता और क्रान्ति के राजनीतिक चरित्र और सामाजिक मक़सदों में एक अन्तर्विरोध का हौआ भी अकसर पेश किया जाता है। क्रान्ति की राजनीतिकता और साहित्य की सौन्दर्यनिष्ठा में एक बुनियादी बैर मानने वालों की रुझानें, आप ग़ौर करें तो

कलावादी से अधिक व्यक्तिवादी होती हैं और उनका सीधा सूत्र पूंजीवादी व्यवस्था में होता है। साहित्य और सामाजिक तब्दीली के आशयों की द्वन्द्वात्मकता की खोज हमारे वक्त की तात्कालिक ज़रूरत है। क्या साहित्य और क्रान्ति दोनों अपने-अपने ढंग से विसंगतियों में (से) संगति खोजने और पाने की कोशिशें नहीं हैं? साहित्य का सरोकार अनुभव है और सामाजिक क्रान्ति का सरोकार वह सामाजिक संसार है, अनुभव-संसार जिसका अंग-अंश है और जिसे बदलने के लिए अभी और यहीं संघर्ष ज़रूरी है। साहित्य चीज़ों की व्यवस्था और विन्यास के ख़िलाफ़ सोचकर अपना एक प्रतिसंसार रचता है और क्रान्ति का मंशा भी तो मौजूदा व्यवस्था को दूसरी बेहतर और मानवीय व्यवस्था में बदलकर एक प्रतिसंसार रचना ही है। साहित्य की प्रतिबद्धता मानवीय स्वतंत्रता, गरिमा, पूर्णता और सार्थकता है और क्रान्ति उसे पाने का हथियार है। साहित्य जिस मानवीय प्रयोजन और मूल्यों का पक्षधर होता है, क्रान्ति उसे अर्थ और आकार देने का ज़रिया है। क्रान्ति किसी को साहित्यकार बनाए चाहे न बनाए, लेकिन साहित्य के मानवीय सरोकार और ज़िम्मेदारी उस क्रान्ति में भागीदारी और पक्षधरता से गुरेज़ नहीं कर सकते जिसका मक़सद उस गरिमा, स्वतंत्रता, पूर्णता और सार्थकता को पाना है।

साहित्य की अपनी भूमिका और ज़िम्मेदारी यहीं असरदार हो सकती है कि हमारे युग में ही नहीं, सभ्यता के लगभग पूरे इतिहास में मानवीय नियति और स्थिति को परिणत करने वाली राजनीति और मानवीय वास्तविकताओं तथा सम्भावनाओं के द्वन्द्वात्मक रिश्तों को पहचानने की ज़िम्मेदारी आख़िर साहित्य की ही हो सकती है। वह उन बुनियादी और मानवीय सरोकारों पर लगातार, फिर-फिर कर ज़ोर देता रह सकता है जो क्रान्ति और राजनीति का अव्वल और आख़िरी मंशा होता है, होना चाहिए। वह क्रान्ति की ज़रूरत के एहसास को तीखा करने के साथ-साथ क्रान्ति के हर मुमकिन भटकाव से अपने समय को आगाह करता रह सकता है। और मैं नहीं समझता कि मानवीय सम्भावनाओं और सामर्थ्य को लगातार उत्तेजित करने के अलावा भी साहित्य का अपना कोई मानवीय और रचनात्मक सरोकार हो सकता है। वह उसी परिन्दे की मानिन्द है जो बार-बार कुँए की जगत पर आने और अपनी अनुभव-यात्रा के दौरान देखे गये सूरज और चाँद, आकाश चूमते पहाड़ों, हरी-भरी वादियों, उन्मुक्त हवाओं और क्षितिज तक फैले समन्दरों के गीत गाने के लिए मजबूर है। उसके गीतों की ज़रूरत और सामाजिक प्रासंगिकता कभी ख़त्म नहीं होती। 'नहीं होती, कहीं भी ख़त्म कविता नहीं होती कि वह आवेगत्वरित कालयात्री है।' (मुक्तिबोध) उस परिन्दे में भुस भरकर भी उसका ख़ात्मा नहीं किया जा सकता। चुनांचे साहित्य की प्रासंगिकता और सार्थकता का मरकज़ उस क्रान्ति की पक्षधरता है जो साहित्य

के प्रतिसंसार के सामाजिक रूपान्तरण का ज़रिया है। साहित्य की ज़रूरत और सार्थकता इस सन्दर्भ में वढ़ ही जाती है और आदमी को यह हक़ है कि वह अपनी सार्थकता के ख़िलाफ़ चीज़ों को अस्वीकार करे फिर चाहे वे कला, सौन्दर्य, स्वतंत्रता और स्वायत्तता के कितने ही आकर्षक शब्दजाल में ही पेश क्यों न की जा रही हो।

तो सवाल है कि क्रान्ति के प्रसंग में साहित्य की भूमिका और ज़िम्मेदारी की सिम्तें क्या हो सकती हैं या होनी चाहिए? अव्वल तो मैं समझता हूँ कि साहित्य अपने समय और समाज के अन्तर्विरोधों के वारे में हमारी जानकारी और जाग़रूकता वढ़ा सकता है। अन्तर्विरोधों की पहचान और उनसे नजात पाने की एक रचनात्मक कोशिश, साहित्य का चरित्र है: अन्तर्विरोध, जो होते हालांकि व्यक्ति के हैं, लेकिन उसे सौंपे समय और समाज द्वारा जाते हैं। क्रान्ति के प्रसंग में वास्तविकता की लगातार पड़ताल और छद्मों के ख़िलाफ़ लगातार मोर्चा तव साहित्य की रचनात्मकता का जुज़ हो जाता है। ये छद्म दो तरह के होते हैं: एक प्रतिक्रियावादी और दूसरा अराजकतावादी। प्रतिक्रियावाद 'सुधार' का झूठा नारा देता है, लेकिन मंशा उसका 'अपरिवर्तन' ही होता है। अराजकतावादी, 'क्रान्ति' का भ्रम खड़ा करता है, लेकिन दरअसल उसका कोई कार्यक्रम, योजना और दर्शन नहीं होता। इन दोनों अतिवादों से वचकर सम्भावनाओं की खोज और विस्तार वुद्धिजीवी का ज़रूरी चरित्र है। इसके लिए वास्तविक स्थितियों की पहचान और परख के साथ एक वौद्धिक और आलोचनात्मक विश्लेषण जितना ज़रूरी है, उतनी ही ज़रूरी झूठ और छद्म को नंगा करनेवाली मानसिकता भी है। इस बारे में अव शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि कला और साहित्य का भी अपना वर्गचरित्र होता है। उसका भी एक वर्गदर्शन, वर्गविचार और वर्ग-सौन्दर्य-बोध होता है।

अत: क्रान्ति के पक्षधर और क्रान्तिकारी साहित्य पर यह ज़िम्मेदारी आयद होती है कि वह शोषक और क्रान्तिविरोधी दर्शन, विचारधारा, मानसिकता और सौन्दर्यबोध की कलई खोले और अपने समानधर्मा एहसास, विचार, दर्शन और रचनात्मकता की हिमायत करे और उसे मजवूत करे। वदले में वह पाएगा कि उसकी हिमायत करनेवाला एक विशाल जन-समुदाय है जो ख़ुद परिवर्तन और क्रान्ति चाहता है। उसकी तकलीफ़ शायद सिर्फ़ इतनी है कि वह शब्द-विहीन है। इसीलिए जब-जब भी अपने समय के सार्थक और प्रासंगिक साहित्य के सामने चुनाव का मौक़ा आता है, वह उस सबका वरण करता है जो क्रान्तिकारी है। मुमकिन है, मौजूदा हालात और वास्तविकता उसके ख़िलाफ़ हो, लेकिन मानवीय सम्भावनाओं और सामर्थ्य का क्षितिज तक फैला विस्तार कभी आँख से ओझल नहीं किया जा सकता। मानवीय स्थिति और नियति के सवालों पर लगातार

पुनर्विचार और मानवीय गरिमा, स्वतंत्रता, पूर्णता और सार्थकता के बुनियादी मक़सद और कर्म की ओर लगातार संकेत, रचनात्मकता का ज़रूरी और मानवीय सरोकार है। चुनांचे क्रान्ति के प्रसंग में साहित्य पर विचार करते हुए देखना होगा कि अपने वक्त के सामाजिक यथार्थ को बदलकर शोषित मानवता के पक्ष में बनाने की रचनात्मक उत्तेजना उसमें कितनी है ? उसके मूल्य, नज़रिए और रचनाविन्यास का चरित्र किस वर्ग और विचारधारा के साथ है ? क्रान्ति के पक्षधर साहित्य में सामाजिक स्थिति के प्रति असंतोष, पीड़ा-भाव, और आक्रोश तो होता है, लेकिन वह यहीं तक नहीं रुकता, वह शिकायत और प्रतिवाद से आगे बढ़कर वस्तुस्थिति के प्रति जागरूकता और मुस्तैदी बढ़ाता है। वह बदलाव की उत्तेजना, विकल्प की चेतना और निर्णयों का आवेग देता है। वह वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष को बढ़ाने का कारगर हथियार हो सकता है। वह मौजूदा आर्थिक सम्बन्धों के आलोचनात्मक और विवेकपूर्ण विश्लेषण के ज़रिए मानवविरोधी विचारधारा, व्याख्या और उसके छद्मों का पर्दाफ़ाश करके सामाजिक बदलाव की ज़रूरत का एहसास जगा सकता है।

—'हस्तक्षेप' से साभार

के बारे में साफ़ हो लें और तब आगे की चर्चा करें। कम-से-कम मैं संस्कृति के बारे में अपनी सोच को स्पष्ट कर देना चाहूँगा। कारण, आगे मैं जो कुछ कहना चाह रहा हूँ, संभव है कि वह संस्कृति के बारे में चली आ रही सोच से कुछ भिन्न प्रकार का हो। मैं दामोदर धर्मानंद कोसंबी की इस मान्यता से सहमत हूँ कि संस्कृति ही क्यों, इतिहास और समाज-विकास की हमारी धारणा भी बहुत सुसंगत नहीं है।

उदाहरण के लिए, कोसंबी का कहना है कि इतिहास-लेखन के जो स्रोत अब तक मान्य समझे जाते हैं यदि उन पर आधारित हुआ जाय तो अनेक लोगों के स्वर में स्वर मिलाकर यह कहना पड़ेगा कि भारत का कोई इतिहास नहीं है। "निश्चय ही रोम या यूनान के इतिहास की तरह प्राचीन भारत का तथ्यपूर्ण और ब्यौरेवार इतिहास प्रस्तुत करना संभव नहीं है। लेकिन इतिहास क्या है? यदि इतिहास का अर्थ केवल बड़ी-बड़ी लड़ाइयों और कुछ खास अहंकारी नामों का सिलसिला ही है तो भारत का इतिहास लिखना कठिन है। परन्तु यदि किसी राजा के नाम के बजाये यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसके राज्य के किसान हल का इस्तेमाल करते थे या नहीं, तो भारत का इतिहास मौजूद है।" (प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति)

इतिहास की परिभाषा कोसंबी ने इस प्रकार दी है: "उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का काल-क्रम से प्रस्तुत किया गया विवरण ही इतिहास है।" इसी प्रकार संस्कृति के बारे में उनका कहना है—"कुछ लोग संस्कृति को धर्म, दर्शन, कानून, व्यवस्था, कला, संगीत आदि के साथ जोड़-कर नितांत बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में ही ग्रहण करते हैं। कभी-कभी इसका विस्तार करके शासक वर्ग के शिष्टाचारों का भी इसमें समावेश कर लिया जाता है। इन पंडितों के मतानुसार इतिहास ऐसी ही संस्कृति पर आधारित है और इतिहास में केवल इसी संस्कृति का विवरण होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार की संस्कृति को इतिहास का प्रेरणा-स्रोत मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।"

कोसंबी इसीलिए संस्कृति का यह अर्थ न लेकर पुनः उत्पादन के साधनों और उत्पादन-सम्बन्धों की चर्चा करते हैं और किसी भी समुन्नत संस्कृति का मूलाधार अनाज या अन्य उपजों की सुलभता अर्थात वास्तविक उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बची हुई उपज की सुलभता मानते हैं। वह संस्कृति का सम्बन्ध रोटी से, व्यापक अर्थों में समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन में चलने वाले कार्यकलापों से जोड़ते हैं। उनके अनुसार, "यह सही है कि आदमी केवल रोटी पर ही जीवित नहीं रहता, परन्तु यह भी सच है कि आज तक आदमी की कोई ऐसी नस्ल तैयार नहीं की जा सकी है जो रोटी अथवा किसी-न-किसी प्रकार की भोजन सामग्री के अभाव में जीवित रह सके।" (वही)

ज़ाहिर है कि लोग, इसके पहले कि वे विज्ञान, कला, दर्शन आदि में गति प्राप्त करें, उन्हें भोजन, वस्त्र और आवास की आवश्यकता होती है जिनके लिए उन्हें काम करना होता है, भौतिक संपदा का उत्पादन करना होता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जीवन-निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन और परिणामतः विकास उस जनगण का अथवा उस युग के अंदर उपलब्ध आर्थिक विकास का स्तर, वह आधार होता है जिसपर जनगण की राज्यीय संस्थाएँ, कानूनी धारणाएँ, कला और यहाँ तक कि उनके धर्म-सम्बन्धी विचार विकसित हुए होते हैं। उसकी रोशनी में ही इनकी व्याख्या की जानी चाहिए, न कि इसके उलटे तरीके से, जैसाकि अब तक होता आया है।

इसी संदर्भ में हम मार्क्स की इस स्थापना को समझ सकते हैं कि मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व का स्थान पहले है, उसके चेतनागत कार्यकलापों का बाद में कि मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी सामाजिक चेतना को तय करता है। सामाजिक अस्तित्व के अंतर्गत समाज का भौतिक जीवन, और सबसे ऊपर भौतिक उत्पादन के क्षेत्र में मनुष्यों की क्रियाशीलता, तथा उत्पादन की प्रक्रिया के अन्दर उनके आपसी आर्थिक सम्बन्ध आते हैं (उत्पादन-सम्बन्ध)। सामाजिक चेतना जनता का आत्मिक जीवन है, वे भावनाएँ, मत और दृष्टि-बिन्दु हैं जो उनके सारे कामों में उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य और संस्कृति को निरपेक्ष रूप में, समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन से काटकर देखने और समझने के बजाय ज़रूरी है कि हम उन्हें मनुष्य और समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन की सापेक्षता में देखें और समझें तथा इस आर्थिक-भौतिक जीवन के साथ, अर्थात आधार के साथ, उनके, अर्थात आधार के ऊपर खड़ी बाह्य संरचना के, सम्बन्धों को समझें। तभी हम साहित्य और संस्कृति को उनकी वास्तविकता में समझ सकेंगे, अन्यथा इस बारे में हमारे जो भी निर्णय होंगे वे अधूरे, ग़लत या एकांगी निर्णय होंगे, जैसा कि बहुधा देखने में आता है।

समाज का आर्थिक-भौतिक जीवन (उत्पादन के साधन और उत्पादन-सम्बन्ध) अर्थात आधार इस कारण महत्त्वपूर्ण है कि वह अपने ऊपर खड़ी बाह्य संरचना की, जिसके अन्तर्गत समाज के राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक, नैतिक, सौन्दर्य-बोधात्मक एवं धार्मिक विचार और उनके समनुरूप रिश्ते, संस्थाएँ एवं संगठन आदि आते हैं, नींव का काम करता है। आधार ही अपने ऊपर खड़ी बाह्य संरचना को अस्तित्व में लाता है और वह उसके साथ अटूट रूप में जुड़ा होता है। यह बाह्य संरचना आधार पर ही आश्रित होती है। सामाजिक विकास में बाह्य संरचना की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, गोकि निर्णायक आधार ही होता है।

वर्ग-विभक्त समाज में, जैसा कि हमारा समाज है, आधार अनेक अंतर्विरोध लिये होता है जो विभिन्न वर्गों के अपने-अपने हितों के कारण जन्म लेते हैं।

ज़ाहिर है कि ऐसे समाज में वाह्य संरचना अपने आधार के अंतर्विरोधों को प्रतिविंवित करती है, अतएव उसमें भी अंतर्विरोध होता है। समाज का हर वर्ग अपने हितों के अनुरूप विचार तथा संस्थायें खड़ी करता है जिनमें निश्चय ही टकराव भी होता है। लेकिन वर्ग-विभक्त समाज में बोलबाला उसी वर्ग के विचारों और संस्थाओं का होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, अर्थात जो स्वामी या सुविधासंपन्न वर्ग होता है। यही कारण है कि वर्ग-विभक्त समाज में साहित्य तथा संस्कृति से सम्बन्धित सारे क्षेत्रों में शासक वर्ग के विचार ही प्रमुख भूमिका निवाहते देखे जाते हैं। वे सामान्य जनता के चिन्तन में भी अपनी घुसपैठ कर लेते हैं। वर्ग-विभक्त समाज में साहित्य तथा संस्कृति भी वर्ग-साहित्य तथा वर्ग-संस्कृति के रूप में ही सामने आते हैं।

अब तक के विवेचन में हम बार-बार इस तथ्य पर जोर देते रहे हैं कि साहित्य तथा संस्कृति-सम्वन्धी कोई भी विचार सामाजिक जीवन में श्रमरत मनुष्य के कार्यकलाप से कटकर नहीं किया जा सकता। संस्कृति मनुष्य की ही होती है, साहित्य का रचयिता भी मनुष्य ही है, जो समाज में रहता और श्रम करता है। मनुष्य की आदि अवस्था से लेकर आज तक का साहित्य, कला एवं सभ्यता तथा संस्कृति का सारा विकास मनुष्य और समाज के विकास का ही परिणाम है।

लाखों वर्षों के इस समूचे दौर में प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करते हुए मनुष्य ने न केवल समाज को वदला और रूपांतरित किया है, इस क्रम में अपना रूपांतरण भी किया है। साहित्य और संस्कृति की थाती उसे किसी दिव्य लोक से भेंट के रूप में नहीं मिली है, इसे उसने लाखों वर्षों के अपने इस संघर्ष के क्रम में अर्जित किया है। ये उसके अनथक श्रम की ही देन हैं। मनुष्य के बर्बर अवस्था से सभ्य अवस्था तक आने का इतिहास अपने में रोमांचक तो है ही, उसकी निरन्तर चलनेवाली जययात्रा का भी साक्षी है। मानवीय इतिहास में वह क्षण कदाचित सबसे अधिक निर्णायक और क्रांतिकारी कहा जायेगा, जबकि पहली बार मनुष्य ने अगले पैरों से चलना वन्द कर उन्हें हाथ का रूप दिया। मनुष्य के हाथ स्वतंत्र हुए और वे उसके श्रम के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बने। पहली वार मनुष्य अपने मेरुदंड के बल सीधा खड़ा हो सकने में समर्थ हुआ और चारों ओर के परिदृश्य को देख सकने में सफलता पायी।

अपने जिन हाथों से आदिम मनुष्य में कभी पत्थर के अनगढ़ हथियारों को तैयार किया था, हज़ारों वर्षों के अन्तराल में पत्थरों को नुकीला करना सीखा था, इसे हाथों और मनुष्य के श्रम, और क्रमश: विकसित होते हुए उसके मस्तिष्क का जादू मानना चाहिए कि उसके वही हाथ आगे चलकर ताजमहल का निर्माण करने में समर्थ हुए, वही हाथ वीणा के तारों में जादुई संगीत की सृष्टि कर सके, और उन्हीं हाथों ने अजंता की, और दुनिया की महत्तम चित्र-कृतियों को जन्म दिया।

हाथ वस्तुतः श्रम का साधन ही नहीं, मानव-श्रम की उपज भी हैं।

मस्तिष्क के विकास के साथ ही मनुष्य का इंद्रिय-बोध भी परिमार्जित और परिष्कृत हुआ है। कहा जा सकता है कि मानवसंस्कृति का विकास वस्तुतः मनुष्य के निरंतर अधिक मानवीय बनते रहने का इतिहास है। मानव-श्रम की, इस इतिहास के निर्माण में क्या भूमिका रही है, कदाचित अब इस पर अधिक कहने की जरूरत नहीं है। यह मानवीय श्रम उत्पादन के साधनों और उत्पादन-सम्बन्धों के सन्दर्भ में नये-नये आयामों पर फलित होते हुए साहित्य, संस्कृति और सभ्यता की मशालें जलाता रहा है। डॉ० कोसंबी ने इतिहास की जो परिभाषा प्रस्तुत की है वह वस्तुतः मानव-सभ्यता और संस्कृति के इतिहास से ही सम्बन्ध रखती है, जिसे ही किसी राष्ट्र या समाज का सही इतिहास कहा जा सकता है।

समाज का इतिहास हमें यह बताता है कि उत्पादन के साधनों और उत्पादन के सम्बन्धों के बदलने के क्रम में ही वह विकसित हुआ है और क्रमशः आदिम साम्यवादी समाज से, जिसमें वर्ग नहीं थे, वर्गविभक्त दास-व्यवस्था, सामंतवादी व्यवस्था तथा पूँजीवादी व्यवस्था से होते हुए समाजवादी व्यवस्था तक पहुँचा है, जिसके अंतर्गत एक बार पुनः वर्गहीन समाज का स्वप्न साकार हो सका है। साहित्य तथा संस्कृति के सम्बन्ध में होने वाली हमारी किसी भी चर्चा का सन्दर्भ, जैसा कि हम कह चुके हैं, वर्ग-विभक्त समाज में जन्म लेनेवाले और विकास करने वाले साहित्य तथा संस्कृति की ही चर्चा का सन्दर्भ होगा।

सवाल है कि तब क्या साहित्य या संस्कृति के सर्वमान्य और स्थायी मूल्यों की चर्चा की ही नहीं जा सकती? क्या साहित्य और संस्कृति की अपनी सापेक्ष स्वतंत्रता भी नहीं है? क्या वे आधार का प्रतिबिंब मात्र हैं? वस्तुतः ऐसा नहीं है। मार्क्सवाद साहित्य और संस्कृति की सापेक्ष स्वतंत्रता को स्वीकार करता है। इसका कारण इनकी अपनी विशिष्ट प्रकृति है।

यह सही है कि आधार का प्रतिबिंब इनमें पड़ता है और ये आधार द्वारा नियमित होती हैं, किन्तु ये आधार को प्रभावित भी करती हैं और उसके बदलने से एकदम यांत्रिक रूप में बदल नहीं जाया करतीं। मार्क्स ने ही यह सवाल उठाया था कि इतना समय बीत जाने के बाद ग्रीक कला आज भी हमें क्यों आकर्षक लगती है, और आज की कला के लिए आदर्श का काम करती है जबकि वह एक प्रारंभिक अवस्था की, समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन के आरंभिक दौर की सृष्टि है? इसी प्रकार सवाल किया जा सकता है कि कालिदास हमें आज क्यों आकर्षित करते हैं या कि अजंता की चित्रकृतियाँ आज भी हमें आनन्द क्यों प्रदान करती हैं, आदि-आदि?

यह सही है कि युग और व्यवस्थाओं के बदलने के साथ हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक अभिरुचियाँ, हमारी मान्यताएँ, हमारे विचार-विश्वास बदलते हैं,

और उनके अनुरूप साहित्य और संस्कृति का भी नया रूप सामने आता है जो उनकी गतिशीलता, उनकी जीवंतता और उनकी शक्ति का परिचायक है, किन्तु ऐसा नहीं है कि उनके भीतर जो स्थायी तत्त्व हैं वे समाप्त हो जाते हैं। साहित्य तथा संस्कृति की हर युगानुरूप आकृति अपने भीतर पिछले युगों के जीवंत रूपों को आत्मसात किये रहती है। यही साहित्य तथा संस्कृति की निरंतरता है।

वर्ग-विभक्त समाज में शासक और शासित की विचारधारा तथा उनकी संस्कृति अलग होती है और उनमें टकराव भी होता है। शासक वर्ग के विचार और उसकी अभिरुचियाँ प्रधान विचार और अभिरुचियों के रूप में आती हैं, किन्तु टकराव के साथ-साथ उनमें अनेक बिंदुओं पर सामंजस्य की स्थितियाँ भी रहती हैं। किसी भी नयी समाज-व्यवस्था की शुरुआत में शासक वर्ग क्रांतिकारी विचारों को लेकर सामने आता है जो व्यापक रूप से मनुष्य और समाज के हित में होते हैं। इन्हीं बिन्दुओं पर साहित्य तथा संस्कृति के स्थायी मूल्यों को आकार मिलता है। यह या तो अपनी क्रांतिकारी भूमिका का निर्वाह करने के उपरांत जब इतिहास किसी व्यवस्था-विशेष के शासक वर्ग को निस्तेज और ह्रासशील कर देता है या कि जब कोई समाजव्यवस्था अपना ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न करके पतनशील हो जाती है तब वही शासक वर्ग अपने सारे क्रांतिकारी विचारों को ताक में रखकर जन-सामान्य के दमन पर उतारू हो जाता है, यहाँ तक कि उन आदर्शों के विपरीत कार्य करने लगता है जो अपने उन्मेष के समय उसने ही प्रचारित किये थे। फ्रांस की राज्यक्रांति का उदाहरण हमारे सामने है। आगे हम अपनी बात स्पष्ट करने का और भी प्रयास करेंगे।

बहरहाल, सवाल इस बात का है कि साहित्य या संस्कृति के स्थायी और सर्वमान्य मूल्य क्या हैं जिन्हें हम मनुष्यता की मूल्यवान धरोहर के रूप में सहेज सकें या कि जिनके कारण मनुष्य सही अर्थों में मनुष्य, और उसके द्वारा रची जाने वाली संस्कृति सही मायनों में मानव-संस्कृति है? वस्तुतः साहित्य और संस्कृति के स्थायी मूल्य वे हैं जिन्हें मनुष्य ने अपने लंबे सामाजिक जीवन में प्रकृति तथा परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अर्जित और समृद्ध किया है। इनकी स्थिति मनुष्य के इंद्रिय-बोध में, उसके भावजगत में, और उसके विचार-जगत में देखी जा सकती है। वस्तुतः साहित्य के अंतर्गत मनुष्य के इंद्रियबोध, उसके भावजगत, और उसके विचारजगत की ही अभिव्यक्ति भी होती है। साहित्य को इनकी समष्टि माना जा सकता है। संस्कृति के तत्त्व भी इन्हीं तीन आयामों पर अभिव्यक्त होकर साहित्य में अपनी स्थिति को सूचित करते हैं, उसका प्रभाव साहित्य में इन्हीं तीन आयामों के अंतर्गत देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि साहित्य के ये तीन अंगीभूत तत्त्व देशकाल से क़तई स्वतंत्र होते हैं या समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—प्रभाव ज़रूर पड़ता है, किन्तु इनकी

अपनी सापेक्ष स्वतंत्रता होती है, इंद्रियबोध की सबसे अधिक, भावजगत की उससे कम और विचारजगत की सबसे कम।

सबसे पहले हम इंद्रियबोध को लें। मनुष्य का इन्द्रियबोध अपेक्षाकृत सबसे स्वतंत्र है और प्रारम्भ से आज तक अपरिवर्तित कहा जा सकता है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार, "इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के सहारे कला की सृष्टि, यह अटल नियम मनुष्य के सामाजिक विकास के आदि से चला आ रहा है।' व्यवस्थाएँ बदल जाती हैं, नयी उत्पादन पद्धतियाँ तथा नये उत्पादन-सम्बन्ध कायम हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य का इन्द्रियबोध नहीं बदलता, उसका परिष्कार जरूर होता रहता है।

मार्क्स ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके अब तक के समूचे विकास का परिणाम है। पाँचों इन्द्रियों का निर्माण अब तक के समूचे विश्व-इतिहास का काम है।" इन्द्रियबोध पशुओं में भी होता है। रंग, रूप, शब्द, स्पर्श *और ध्वनि से वे भी प्रभावित होते हैं, किन्तु मनुष्य में यह बोध सर्वाधिक विकसित है* और मनुष्य अपने समूचे विकासक्रम में इसे निरन्तर विकसित और परिष्कृत करता आया है। यह कार्य उसने अपने विकसित विवेक के तहत किया है और उसके इस विवेक का मूलाधार उसका संस्कृतिबोध है जो स्वयं उसके विकास के साथ-साथ विकसित और परिष्कृत होता रहा है। सुन्दरता पर रीझना, स्वर और नाद पर मुग्ध होना, गंध से अभिभूत होना, ये मनुष्य की विशुद्ध अनभूतियाँ है और प्रारम्भ से आज तक वह अपने इस बोध को बनाये हुए है। उसने अपने इस बोध को निरंतर मानवीय बनाया है और मार्क्स ने इसे मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की बहुत बड़ी उपलब्धि माना है।

रंग, रूप, शब्द, स्पर्श और ध्वनि के जो आत्मीय और सुखद अनुभव आज से हज़ारों वर्ष पहले का मनुष्य करता था वही आज के मनुष्य का अनुभव भी है। उन अनुभवों पर नयी सान जरूर चढ़ी है। साहित्य इसी कारण विज्ञान, दर्शन तथा दूसरी विद्याओं से विशिष्ट है कि वह मूलतः रूपमय होता है। वह चित्रों के माध्यम से अपने को प्रकाशित करता है, इसलिए सजीव होता है। वहाँ केवल विचार नहीं हैं, वहाँ तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का संसार अपनी समूची ऐंद्रियता तथा मोहकता के साथ मौजूद है। गोकि इन्द्रियबोध मनुष्य में उसके सामाजिक बनने के पहले भी था, किन्तु अपरिष्कृत रूप में। अपने सामाजिक जीवन में वस्तुगत स्थितियों के बीच मनुष्य ने उसे विकसित, पुष्ट और समृद्ध किया है। असभ्य और सभ्य मनुष्य के इन्द्रियबोध में यही अन्तर है कि पहले में वह अपने नितांत अपरिष्कृत और प्रच्छन्न रूप में होता है, जबकि दूसरे में वह परिष्कृत और उन्नत मानवीय स्तर का होता है।

अजन्ता के चित्रों पर या ताजमहल के सौंदर्य पर जितना और जिस स्तर तक

एक सभ्य मनुष्य रीझ सकता है, असभ्य और आदिम मनुष्य नहीं। यहीं संस्कृति की भूमिका भी स्पष्ट होती है कि वह मानवीय विवेक को, मानवीय कला-चेतना को किस सीमा तक प्रभावित और पुष्ट करती है। सौंदर्य पर रीझना, जिसका सम्बन्ध इन्द्रियबोध से है, उन तमाम बातों में एक है जो मनुष्य को मनुष्य बनाये हुए हैं, उसे पशु के स्तर से अलग किये हैं अन्यथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध आदि तो मनुष्य और पशु में समान है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि पशु वही नहीं होते जिन्हें हम पशु के रूप में जानते-पहचानते हैं। उस आदमी को क्या कहेंगे, चाँदनी रात में ताजमहल को देखकर जिसके मन में यह प्रतिक्रिया हो कि इसे बनाने में ठेकेदार ने लाखों रुपये पैदा कर लिये होंगे? संस्कृति ही मनुष्य के सौंदर्यबोध तथा अन्य ऐंद्रियबोधों को मानवीय बनाती है, उन्हें जीवित रखती है। वह मनुष्य को निरन्तर मनुष्य, और एक अच्छा मनुष्य बनाए रहती है, और सही मनुष्य का यही प्रशस्त और परिष्कृत मानवीय इन्द्रियबोध साहित्य तथा कलाओं में प्रतिबिंबित होता है और सहृदयों द्वारा सराहा जाता है। मार्क्स ने इस विषय की चर्चा काफ़ी अन्तरंगता और विस्तार से की है। मनुष्य का यही परिष्कृत और संस्कृत इन्द्रियबोध उसे स्थूल ऐंद्रियता से बचाता है।

सुविधाभोगियों की पतनशील सांस्कृतिक अभिरुचियाँ जब उसके ज़र-ख़रीद साहित्यकारों द्वारा साहित्य तथा कला में स्थूल ऐंद्रियता के धरातल पर अभि-व्यक्त होती हैं, जनता की परिमार्जित सांस्कृतिक अभिरुचि उनके अपने रचनाकारों के माध्यम से साहित्य तथा कलाओं का एक नया संसार रचती है, और यही नहीं, वह पतनशील और कोरी ऐंद्रिय अनुभूतियों पर आधारित कला का विरोध भी करती है।

हिन्दी का अधिकांश रीतिकालीन साहित्य स्थूल ऐंद्रियता से सम्बद्ध होने के कारण ही नहीं सराहा जा सका। इसके विपरीत सूरदास की ऐंद्रियबोध वाली शृंगारी कविता इस नाते महान कविता के रूप में पहचानी जा सकी कि सूर के यहाँ एक कुंठाहीन व्यक्ति का परिष्कृत इन्द्रियबोध है। वस्तुतः सुविधाभोगी वर्गों की पतनशील सस्ती ऐंद्रियता का विरोध प्रत्येक युग में परिमार्जित सांस्कृतिक चेतना वाले विवेकवान रचनाकारों तथा पाठकों द्वारा हुआ है। ह्रासशील साहित्य और संस्कृति के विरोध में हर युग में उदात्त साहित्य तथा संस्कृति ने अपनी मुहिम चलायी है और उसे व्यापक जनता का सहयोग भी मिला है।

पूंजीवाद के आज के दौर में साधन-संपन्नों की सस्ती ऐंद्रिय अभिरुचियाँ जिस प्रकार साहित्य तथा संस्कृति के नये-नये आयामों में सेक्स तथा काम-विकृतियों को लेकर अभिव्यक्त हो रही हैं, उनसे हम परिचित हैं। उनका विरोध सजग रचना-कारों तथा प्रबुद्ध जनों की ओर से हो रहा है, यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य ने जो प्रशस्त सांस्कृतिक बोध अपनी अब तक की विकासयात्रा में अर्जित

किया है वह उसमें मौजूद है। वर्ग-विभक्त समाज में पतनशील तथा प्रगतिशील संस्कृति का यह टकराव स्वाभाविक ही है।

इन्द्रियबोध के उपरांत अब हम भावजगत की चर्चा करेंगे। साहित्य तथा संस्कृति के स्थायी मूल्यों को हम इस आयाम पर भी पाते हैं। इन्द्रियबोध की भाँति मनुष्य का भावजगत भी उसके लंबे सामाजिक विकासक्रम की देन है। इन्द्रियबोध के साथ इस भावजगत का सहज सम्बन्ध होता है। मनुष्य की भाव-सत्ता ऐंद्रिय ज्ञान के साथ ही जन्म लेती है। यह भावजगत इन्द्रियबोध की तुलना में तो कम, किन्तु मनुष्य के विचारजगत की तुलना में बहुत व्यापक होता है। हजारों वर्षों के कालखंड के दौरान भी यह लगभग अपरिवर्तित ही रहा है। प्रेम, दया क्रोध, घृणा, लज्जा आदि-आदि भाव मनुष्य में दीर्घकाल से हैं और अपनी समूची व्याप्ति के साथ रहेंगे भी। साहित्य की व्यापकता का, दर्शन और विज्ञान आदि की तुलना में उसके स्थायी प्रभाव का, कारण यह भी है कि साहित्य तथा कलाओं का सम्बन्ध मनुष्य के भावों से होता है। समाज के विकासक्रम में जैसे-जैसे मनुष्य का इन्द्रिय-बोध विकसित होता जाता है, उसका भावजगत भी समृद्ध होता जाता है।

मनुष्य का यह संपन्न भावजगत उसकी विकासशील सांस्कृतिक चेतना का परिचायक है। जब किसी समाज-व्यवस्था में शासक वर्ग अपनी क्रांतिकारी भूमिका निभा चुका होता है तो स्वभावतः वह पतनशील हो जाता है। उसका भावजगत सीमित हो जाता है और अपनी सतही सांस्कृतिक तथा कलागत अभिरुचियों की तुष्टि के लिए उसे रूप और शिल्प का सहारा लेना पड़ता है, चमत्कार तथा चकाचौंध में अपने मन को बहलाना होता है। अपने द्वारा पोषित रचनाकारों के माध्यम से वह अपनी इस सतही सांस्कृतिक अभिरुचि को जनता पर भी लादना चाहता है। किन्तु जनता की उदात्त सांस्कृतिक चेतना उसके समृद्ध भावजगत के साथ उसके प्रतिनिधि रचनाकारों तथा कलाकारों में अभिव्यक्त होती है।

भक्तों तथा संतों के काव्य में ऐसा क्या है जो उसे आज भी जनता की धरोहर बनाये हुए है? उसमें रूप-वैचित्र्य नहीं है, अलंकारों की छटा नहीं है, शिल्प का चमत्कार नहीं है, किन्तु उसमें सामाजिक जीवन के लंबे विकासक्रम में अर्जित और निरन्तर समृद्ध होता हुआ परिष्कृत मानवीय भावों का ऐसा सागर जरूर लहरा रहा है जो चमत्कृति के अभाव में भी हमें पूरी तरह अपने में लीन कर लेता है। चूँकि भावजगत भी अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील है, यही कारण है कि करुणा, प्रेम, वात्सल्य, उत्साह आदि भावों से समन्वित यह काव्य इतना जीवंत है। तभी वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि-आदि कवि आज भी हमें उतने ही प्राणवान प्रतीत होते हैं जितने वे पहले थे।

वस्तुतः शिल्प का समारोह भाव की दरिद्रता को ढकने के लिए ही जुटाया जाता है और कहने की जरूरत नहीं कि ऐसा उन्हीं के यहाँ होता है जो किसी युग

के सुविधाभोगी वर्गों की पतनशील सांस्कृतिक अभिरुचियों के प्रवक्ता होते हैं या कि अपनी दुर्बल चेतना तथा खंडित मानवीयता के फलस्वरूप उनके प्रभाव में अनायास आ जाते हैं। इसके विपरीत जिन रचनाकारों की चेतना जन के साथ एकात्म होती है, जो साहित्य सामाजिक जीवन में गहराई से अपनी जड़ें रोपे रहता है, शासक वर्ग की पतनशील अभिरुचियाँ उसकी चेतना को विकृत नहीं कर पातीं। ऐसा साहित्य अधिकांशतः विरोध का (डिसेंट) साहित्य होता है, जैसा कि हमारा भक्ति साहित्य है, जिसके रचनाकार शासक अथवा प्रभु वर्गों के आगे बिके नहीं, जो जनता से भीतर तक जुड़े रहे।

रामकथा तुलसी ने भी लिखी और उससे अधिक पंडिताई के साथ केशवदास ने लिखी, किन्तु समाज, संस्कृति तथा जन के बीच उनकी क्या स्थिति है, यह कहने की बात नहीं है। इस बात से यह भी प्रमाणित होता है कि महान प्रतिभावाले साहित्यकार, बावजूद इस तथ्य के, कि हर युग की कला अपने युग के शासक वर्ग के विचारों को प्रतिबिंबित करती है, अपने युग की प्रधान विचारधारा का अतिक्रमण करते हैं और उनके इस अतिक्रमण में भी साहित्य तथा संस्कृति के स्थायी मूल्यों को, ह्रासशील तथा विकासशील संस्कृति के टकराव को पहचाना जा सकता है।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत कलाकारों की इस प्रगतिशील चेतना को स्वीकार किया गया है, अन्यथा मार्क्स और एंगेल्स शेक्सपीयर, बाल्ज़ाक, तालसताय और गेटे जैसे रचनाकारों के मुक्त प्रशंसक न होते तथा नये रचनाकारों के लिए उन्हें प्रेरणा का स्रोत न मानते। अतीत की सांस्कृतिक धरोहर का यदि मार्क्सवाद अपने को सच्चा संरक्षक कहता है तो अपने इसी विवेक के बल पर कि किसी भी संस्कृति की इमारत शून्य में खड़ी नहीं होती, परम्परा से चली आ रही संस्कृति की जीवंत उपलब्धियों को वह कृतज्ञता के साथ अंगीकार करती है, उसके प्रभावों को आत्मसात करती है।

अब हम मनुष्य के विचारजगत की चर्चा करेंगे जो साहित्य तथा कला-रचना में अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सर्वाधिक परिवर्तनशील होता है। उत्पादन के साधनों पर आधारित समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। नयी उत्पादन-पद्धति के साथ नयी समाज-व्यवस्था आते ही विचारों के जगत में भी परिवर्तन होता है; कारण हर नयी व्यवस्था अपना औचित्य साबित करने के लिए विचारों के शस्त्रों से लैस होकर ही सामने आती है। गत व्यवस्था के विचारों तथा नयी व्यवस्था के विचारों में टकराव भी होता है, गोकि हर नयी व्यवस्था गत व्यवस्था के अनेक-अनेक विचारों को आत्मसात भी करती है। संस्कृति के धर्म, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि आयाम इस विचारजगत में अपनी महत्त्वपूर्ण व्याप्ति सूचित करते हैं और साहित्य तथा कलाओं को भी

प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

शासक वर्ग के विचार निश्चय ही इन सभी आयामों में प्रमुखता से अभिव्यक्ति पाते हैं और साहित्य तथा कला में भी प्रतिबिंबित होते हैं। भारतीय साहित्य में शुरू से लेकर अब तक इस तथ्य को लक्ष्य किया जा सकता है कि किस प्रकार प्रत्येक युग के साहित्य में, महान लेखकों के साहित्य तक में, उनके अपने युग के संपत्तिशाली वर्गों के राजनीतिक, अर्थनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक विचारों की गहरी छाप है। यही इन साहित्यकारों की युग-सीमा है। जहाँ ये युग की सीमा का अतिक्रमण करने में समर्थ हुए हैं, वहाँ वे आगे के लिए प्रेरणास्रोत बने हैं, किन्तु जहाँ वे युगीन विचारों से बँधे रह गये हैं वे हमें प्रेरणा नहीं देते। उनके साहित्य का महत्त्व इन बिन्दुओं पर हमारे लिए विचारों के स्तर पर नहीं, महज़ इन्द्रियबोध तथा भावों के स्तर पर ही है।

कालिदास, वाल्मीकि, तुलसी आदि-आदि के अनेक विचारों से हमारी सहमति आज नहीं हो पाती, किन्तु हमें उनका साहित्य इन्द्रियबोध तथा भावों के स्तर पर आज भी स्वीकार होता है। जहाँ इनके विचार युग की सीमा का अतिक्रमण करने में समर्थ हुए हैं वहाँ वे विचारों के स्तर पर भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। तुलसी की तुलना में कबीर हमें आज इसलिए अपने अधिक निकट लगते हैं कि उनके यहाँ बहुत दूर तक अपने युग के प्रभु-वर्गों की विचारधारा के ख़िलाफ़ विद्रोह है। पतनशील तथा उभरती हुई संस्कृति की सीधी टक्कर विचारों के क्षेत्र में ही होती है। साहित्य और कलाओं पर दोनों का ही प्रभाव पड़ता है।

विश्व के साहित्य का उदाहरण लें तो सहज ही बात स्पष्ट हो जायेगी। बीसवीं शताब्दी को सांस्कृतिक संकट की शताब्दी कहा गया है। पश्चिम में यह सांस्कृतिक संकट अपने समूचे परिणामों के साथ सतह पर विद्यमान है। व्यक्तित्व के विघटन और मूल्यों के ह्रास की चर्चाएँ व्यापक स्तर पर हो रही हैं। दो महायुद्धों के दौरान क्षयग्रस्त, निराशावादी तथा व्यक्तिवादी दर्शनों की एक पंक्ति विचारों के क्षेत्र में उभरी है। अकेलेपन और संत्रास में डूबे दिशाहीन साहित्य की बाढ़-सी आ गयी है, या कि सब प्रकार की विषयवस्तु से रहित केवल शब्द और रूप पर आधारित साहित्य और साहित्यचिन्तन का बाज़ार गर्म है। पश्चिमी जगत में आज साहित्यिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर यह जो दिशाहीनता दिखायी दे रही है इसका एकमात्र कारण पूँजीवादी व्यवस्था का गहराता हुआ संकट है।

पूँजीवाद समाज के विकास में अपनी ऐतिहासिक भूमिका संपन्न कर अब विनाश के कगार पर है। नयी समाजवादी व्यवस्था की शक्तिशाली चुनौती उसके सामने है। अपने उत्कर्ष के दौर में जिस पूँजीवाद ने मानव-समता, स्वतंत्रता तथा बंधुत्व का नारा दिया था, आज वही अपने इन घोषित संकल्पों को पैरों के नीचे रौंद रहा है। साम्राज्यवाद और युद्ध आज पूँजीवाद के सबसे आम हथियार बन

गये हैं जिन्हें वर्गों में बँटी, सामाजिक असमानता और गुलामी की जंजीरों में जकड़ी जनता के ऊपर आज वह पूरी शक्ति के साथ आजमा रहा है। दूसरी तरफ़ उभरती हुई संस्कृति युद्ध-विरोध, सामाजिक समता, राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन, शांति तथा निर्माण के दर्शन के साथ सामने आ रही है और ह्रासशील पूंजीवादी संस्कृति को शिकस्त दे रही है। यदि आज हमें एक ओर पूंजीवाद के आसन्न संकट से ग्रस्त मूल्यहीन और दिशाहीन साहित्य तथा कला के दर्शन हो रहे हैं तो दूसरी ओर, ऐसा साहित्य भी समान ताक़त के साथ सामने आ रहा है जिसमें निर्माण तथा आस्था और संकल्प के स्वर हैं, जो नये और स्वस्थ मूल्यों का, नयी संस्कृति का वाहक साहित्य है। जार्ज लुकाच ने आधुनिक विश्व के सांस्कृतिक संकट पर टिप्पणी करते हुए कहा :

> यह सच है कि हमारी संस्कृति इस समय अँधियारे के बीच से गुज़र रही है, परन्तु इतिहास-दर्शन के ऊपर यह दायित्व है कि वह इस बात का निर्णय ले कि जो अँधियारा इस समय छाया हुआ है वह हमारी संस्कृति की, और हमारी अंतिम नियति है, अथवा भले हम तथा हमारी संस्कृति एक लम्बी, अँधेरी सुरंग के बीच से गुज़र रहे हों, अन्ततः हम उससे बाहर आयेंगे और प्रकाश के साथ हमारा साक्षात्कार एक बार फिर होगा। बुर्जुआ सौन्दर्य-शास्त्रियों का विचार है कि इस अँधियारे के चंगुल से उबरने का कोई भी रास्ता शेष नहीं बचा, जबकि मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन मनुष्यता के विकास की व्यवस्था के क्रम में हमें यह निष्कर्ष देता है कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मनुष्य की यह विकास-यात्रा निरुद्देश्यता या निरर्थकता में ही समाप्त हो जाये। वह एक निश्चित, सार्थक गंतव्य तक अवश्य पहुँचेगी।
>
> (स्टडीज़ इनयूरोपियन रियलिज़्म)

यह अंधेरे के ऊपर प्रकाश की, संसार की निराशावादी विचारधाराओं तथा उनका पोषण करनेवाली पतनशील संस्कृति के ऊपर मनुष्य की, और उसकी अब तक की अर्जित संपूर्ण संस्कृति की विजय का शंखनाद है। हमें इस नाद को सुनना ही होगा।

पतनशील तथा विकासशील संस्कृतियों के इस निर्णायक संग्राम में, जो वर्ग-विभक्त समाज व्यवस्थाओं द्वारा मनुष्यता पर थोपा गया है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तरों पर हमारी साहित्यिक तथा कलात्मक उपलब्धियों को प्रभावित कर रहा है, जो हमारी मनुष्यता, हमारी आदमीयत के अस्तित्व से जुड़ा हुआ संग्राम है, और जिसमें हमारी, अर्थात अब तक की मनुष्य की सारी श्रेष्ठ उपलब्धियाँ, अतीत की मूल्यवान विरासत, एक बेहतर मानवीय जिन्दगी के लिए की जाने वाली वर्तमान की सारी जद्दोजहद तथा भविष्य के सपने दाँव पर लगे हुए हैं, हमें साफ़ तौर से बिना किसी द्विविधा के यह निर्णय लेना होगा कि इस संग्राम में हमारा

अपना पक्ष क्या है ? हमें यह तय करना होगा कि हम किस ओर हैं ?

व्यक्ति की मुक्ति और सबकी मुक्ति में हमें चुनाव करना ही होगा, इस बात के पूरे अहसास के साथ कि मुक्ति एक की नहीं होती, वह सबकी और एक साथ होती है। हिन्दी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध के शब्दों में :

इतने में
समुन्दर में कहीं डूबी हुई जो पुण्य गंगा वह
अचानक कूद करती सागरी तल में
उभर ऊपर
भयानक स्याह बादल पाँत बनकर
फन उठाती है दिशाओं में
(व मेरे कुंद कमरे के अँधेरे में
निरंतर गूँजती तड़तड़ तड़ातड़ तेज)
बाहर धूप में भी शब्द गड़ते हैं
कि टाइप कर रहा है आसमानी हाथ
तिरछी मार छींटों की।
घटाओं की गरज में
बिजलियों की चमचमाहट में
अँधेरी आत्मसंवादी हवाओं से
चपल रिमझिम
दमकते प्रश्न करती हैं—
मेरे मित्र
कुहरिल गत युगों के अपरिभाषित
सिन्धु में डूबी
परस्पर जो कि मानव पुण्य धारा है
उसी के क्षुब्ध काले बादलों को साथ लायी हूँ
बशर्ते तय करो
किस ओर हो तुम ?

—'दर्शन, साहित्य और समाज' से साभार

आशंसक या सहृदय

रमेश कुन्तल मेघ

निरीक्षक या सहृदय या आशंसक (आब्ज़र्वर)

हम शुरू में ही इस अंश की कुछ सीमाओं का उल्लेख कर दें। पहली, सौन्दर्य-बोधानुभव (एस्थेटिक ऐक्सपीरिएंस) एवं प्रेषणीयता (कम्युनिकेशन) दोनों ही 'निरीक्षक' या 'सहृदय' से संबद्ध हैं। लेकिन इनकी व्यापकता के कारण स्वतंत्र खंडों में इनका आकलन किया जायेगा। दूसरी, निरीक्षक या सहृदय का अगला उत्कर्ष आलोचक (तार्किक) तथा मूल्यांकनकर्ता (दार्शनिक) के रूप में होता है : और इन दोनों में चिन्तन-मनन की प्रधानता है जो आलोचना तथा निर्णय के क्षेत्र हैं। आलोचक पक्ष की चर्चा यथास्थान होगी। अस्तु।

इस खंड में निम्नलिखित मीमांसाएँ होंगी :

1. सौन्दर्यबोध शास्त्र में निरीक्षक या सहृदय की स्थापना तथा उसके लिए प्रयुक्त शब्दावली;
2. रुचि या अभिरुचि (टेस्ट) तथा फैशन;
3. आशंसा (एप्रिसिएशन);
4. आशंसा एवं रचना के अन्तर्सम्बन्ध;
5. निरीक्षक या सहृदय की सापेक्षता इत्यादि।

सबसे पहले निरीक्षक या सहृदय के लिए प्रयुक्त शब्दावली का पर्यवेक्षण समीचीन होगा।

हमारे अनुसार :

'निरीक्षक या सहृदय (तथा अन्य नाम) कलात्मक संस्कारों अथवा और मनोवृत्तियों वाला वह प्रत्यक्ष या परोक्ष व्यक्ति है जो तैयार की हुई या प्रस्तुत की जाने वाली कलाकृति के प्रति अपनी 'तात्कालिक', 'ऐंद्रियक', 'सौन्दय-बोद्धात्मक' रुचियों का तर्कबहिर्भूत प्रस्तुतीकरण करे; जो पेशेवर अथवा केवल दार्शनिक तार्किक न हो, बल्कि कृति के सौन्दर्य अथवा आनन्द अथवा कामना का एक 'अन्तर्मुखी' भोक्ता भी हो। उसमें शिक्षा, अध्ययन-अभ्यास

(वातावरण) आदि के संयोग से काल एवं स्थान के अनुरूप विकास या परिष्कार या परिवर्तन की गुंजाइश हो।'

नीचे इस परिभाषा का विस्तार मूल स्थापनाओं को स्पष्ट कर सकता है :

किसी भी निरीक्षक या सहृदय में दो ही बातें अपेक्षित हैं : उसमें या तो जन्मगत संस्कार हों या वह पर्यावरण से उन्हें उपलब्ध करे। समाज में संस्कारों की प्रमुखता के कारण ही दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यापारिक, इंजीनियर, डॉक्टर, कलाप्रेमी आदि हुआ करते हैं। ये बीज-अंकुररूप संस्कार वातावरण की उर्वर भूमि तथा जलवायु में लहलहा उठते हैं। किसी-किसी में कभी-कभी एक से अधिक संस्कार भी होते हैं। इसलिए कई कलाकार या कलाप्रेमी (जैसे लियोनार्दो, गोएथे, सरदार पूर्णसिंह, आचार्य शुक्ल ड्राइंगमास्टर) जीवशास्त्री, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक आदि भी होते हैं तथा कई वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, इंजीनियर आदि कलाप्रेमी भी। किन्तु अनुकूल संस्कार तथा अनुकूल वातावरण मिलकर सोने में सुहागे का काम करते हैं। इसके अलावा कलात्मक संस्कारों वाला एक व्यक्ति चौबीसों घंटे सौंदर्यानुभूति नहीं कर पाता। उसकी सौंदर्यतुष्टि के क्षण अकसर सीमित और विरले ही होते हैं। वह एक कलाभोक्ता के अलावा एक गृहस्थ, साइबर-नेटिक्सवेत्ता, नागरिक, किसी राजनैतिक विचारधारा तथा धर्म का अनुयायी, रोजी कमाने वाला कारीगर, मजदूर, किरानी, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि भी होता है। पारेटो ने एक ही आदमी की इन कई भूमिकाओं को विभिन्न कार्य-भूमिकाएँ (रोल्स) कहा है। अतः संस्कार तथा वातावरण की अनुकूलता या न्यून्याधिक्य के अनुपात से ही कोई विशेष या साधारण सहृदय अथवा निरीक्षक होता है।

सहृदय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही दशाओं में होता है। समसामयिक कलाकृतियों के लिए प्रत्यक्ष सहृदय सरल है, किन्तु अतीत की किसी कृति के उसी ऐतिहासिक काल का सहृदय—जो आशंसा का सच्चा और खरा प्रमाण है—नहीं मिल सकता। संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि में प्रत्यक्ष सहृदय की कल्पना सहज तथा अनिवार्य है ही; लेकिन नाटककार, थिएटर मैनेजर, दुकान सज्जाकार आदि के सम्मुख परोक्ष दर्शकों, निरीक्षकों या सहृदयों का काल्पनिक अस्तित्व भी हुआ करता है। इसी प्रकार मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि तो तैयार की हुई, लेकिन संगीत, रंगनाट्य, बैले, आपेरा, आदि तैयार की जाने वाली कलाकृतियाँ हैं।

निरीक्षक या सहृदय को सौंदर्यबोधात्मक रुचियों का प्रस्तुतीकरण करना लाजिमी है। इसके हेतु 'रुचि' और 'निष्कर्ष' (निर्णय) और 'तर्क' का पृथक्करण भी जरूरी है। रुचि का सम्बन्ध व्यक्तिगत रुझानों एवं ऐंद्रियिक तुष्टि से है और निष्कर्ष एवं तर्क का मूल्यांकन एवं विवेक से। इसी वजह से निरीक्षक या सहृदय और तार्किक या मूल्यांकनकर्ता के बीच अन्तर किया जाता है। कभी-कभी रुचि

तथा निष्कर्ष पारस रूप (तद्रूप) भी हो जाते हैं। अतः सहृदय या निरीक्षक का 'अंतर्मुखी भोक्ता' होना; ऐंद्रियिक स्तर 'पर ही' सौंदर्य या आनन्द या कामना की तुष्टि करने वाला होना; और दार्शनिक तथा पेशेवर न होना ही उसकी व्यापक अनिवार्यताएँ मानी जा सकती हैं। इन प्रसंगों का विवेचन आगे होगा।

शिक्षा, अध्ययन, अभ्यास आदि अर्थात वातावरण के संयोग से उसमें काल-स्थान के अनुरूप विकास, परिवर्तन या परिष्कार की गुंजाइश की स्वीकृति में एक ओर तो केवल मात्र संस्कारवादी निरपेक्षता की अस्वीकृति है, दूसरी ओर एक देशकाल-निरपेक्ष सहृदय की 'आदर्श' कल्पना की असंभवता का निर्देश है तथा तीसरी ओर वातावरण की समानधर्मा महत्ता की प्रतिष्ठा करके अधिक योग्य या कम योग्य, समसामयिक या पुरातनवादी, मार्मिक या सतही क्षमताओं का भी प्रकाश है।

इसके बाद अब निरीक्षक या सहृदय के लिए प्रयुक्त सौंदर्यबोध शास्त्रीय शब्दावली का लेखाजोखा हो सकता है।

'समसामयिक ग्रहीता' एक आदर्श तथा कल्पित संभावना माना जा सकता है। विशेष रूप से ऐतिहासिकता के परिवेश में यदि हमें कालिदास या तुलसी के समय का ही सहृदय या उसके प्रभाव या उसके आलेखन मिल सकें, तब तत्कालीन रुचिबोध के साथ-साथ युग की सापेक्ष्य सौंदर्य-चेतना के किसी पक्ष का सच्चा तथा सही ज्ञान हो सकता है। बहुधा शताब्दियों के व्यवधान के कारण हमें ऐसा सम-सामयिक ग्रहीता तो नहीं मिल पाता, लेकिन उसी चेतनावृत्त में पल्लवित-पुष्पित 'आचार्य' या 'आलोचक' कभी-कभी मिल जाते हैं। प्राचीनकालीन कुछ उन टीका-कारों को 'समसामयिक ग्रहीता' की परिधि में समेटा जा सकता है, अगर वे काल की दृष्टि से बहुत आगे न हों या काल-भेद के बावजूद भी उसी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना में आद्यंत पगे हों। संस्कृत में कालिदास के काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ, नाटकों के राघवभट्ट, नैषध के नारायण भट्ट, भवभूति के गोवर्धनाचार्य तथा जयमंगल यशोधर आदि की टीकाएँ ऐसी ही हैं। यहाँ रुचि तथा मूल्यांकन दोनों के एकीकरण की भी विशेष दशा मिल जाती है जिसे सहृदय तथा मूल्यांकन कर्ता का संधिकूट माना जा सकता है।

इसी के ठीक विपरीत कुछ कला-दार्शनिकों के सहृदय या निरीक्षक सम्बन्धी 'आदर्श प्रारूप' हैं। बहुधा ये दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिभास और एक सर्वोच्च मानदंड प्रस्तुत करने के प्रयास होते हैं। लोक जीवन में इनका मिलना ज़रूरी या पूर्ण संभव नहीं है, लेकिन ये रुचियों के परिष्कार या घटियापन के उन्मूलन में जबर्दस्त भूमिकाएँ अदा करते हैं। प्लेटो के अनुसार आदर्श निरीक्षक एक वीतराग, शिवत्व-पूजक, प्रत्यय (आइडोस) का अन्वेषी दार्शनिक है। तोल्सतोय एक अविकृत सरल ग्रामीण, धार्मिक किसान को आदर्श निरीक्षक मानते हैं। आनन्दवर्धन और

अभिनवगुप्त के अनुसार वासना, संस्कार, प्रतिभा तथा काव्यनुशीलनाभ्यास से युक्त, सत्वोद्रेकपूर्ण, निर्मल अन्तःकरण वाला व्यक्ति ही एक आदर्श सहृदय है।' इन तीन प्रसिद्ध उदाहरणों जैसे सहृदयों या निरीक्षकों के अन्य आदर्श टाइपों की परिकल्पनाएँ विंकेलमान, पेटर, शोपेनहावर, हीगल, कांट, कालरिज, मार्क्स, फ्रायड आदि कई चिन्तकों या कलादार्शनिकों ने की हैं। हमने तो केवल दिशादृष्टि-संकेत किया है।

तीसरी कोटि में अन्येतर संस्कार तथा वातावरण वाले भी कलाकृति के एक विशिष्ट प्रकार के सहृदय हो सकते हैं। यहाँ उनमें सौंदर्यबोधात्मक मनोवृत्ति की प्रधानता नहीं रह जाती। कुछ उदारण लिये जा सकते हैं : 'मनोवैज्ञानिक' कलाकार के अभ्यंतर के भावचक्र का ऊहापोह जानना चाहते हैं; 'समाजशास्त्री' तथा जातिशास्त्री (ईथ्नोलाजिस्ट) कलाकृति में सांस्कृतिक पैटर्न को समाज विकास के एक गतिशील कदम के रूप में खोजते हैं; 'रेडियोलाजिस्ट' आदि चित्रकला के रंग तथा रेखा-रचना के तकनीकी क्रम को खोजते हैं इत्यादि इत्यादि। यहाँ रुचि के साथ अर्जित विद्याज्ञान का संयोग होता है।

चौथी कोटि अप्रत्यक्ष ग्रहीताओं की है। हमने नाटककार तथा संगीतज्ञ के लिए काल्पनिक पाठकों, दर्शकों तथा श्रोताओं की उपस्थिति का संकेत किया है। रंगमंचीय अभिनय दूरस्थ न होकर बिलकुल सामने के ध्यानयोग का होता है जहाँ दर्शक तथा रंगमंचीय खेल करने वाला अभिनेता, दोनों प्रत्यक्ष मौजूद रहते हैं। इसी तरह संगीत में स्वर लिपिकार के रागों व रागिनियों को गाते समय संगीतज्ञ तथा श्रोताओं की दशा होती है। इन प्रस्तुत की जाने वाली कलाओं में कलाकृति-प्रस्तोता तथा ग्रहीताओं का तो अपृथक-सा रिश्ता कायम होता है, लेकिन कलाकार (नाटककार या स्वरलिपिकार) पीछे रह जाता है। नाटककार के विपरीत थिएटर मैनेजर को केवल प्रत्यक्ष दर्शकों की उपस्थिति की कल्पना करनी पड़ती है। इसी तरह एक प्रकाशनगृह के लिए अज्ञात पाठक-समूह, संग्रहालयों के लिए कला-सैलानी, दुकानों की सज्जाकला के लिए आगंतुक ख़रीददार, सिनेमा के लिए प्रचार संक्रमित फ़िल्म-प्रेमी आदि परोक्ष ग्रहीता होते हैं जो कालांतर में अपरोक्ष हो जाया करते हैं।

पाँचवीं कोटि में विभिन्न कलाओं से सम्बद्ध विभिन्न नाम, गुण, धर्मधारी निरीक्षक या सहृदयगण हैं। संगीत तथा काव्य के लिए श्रोता या श्रोतावृंद, (आडिएंस); नाटक के लिए सामाजिक, सुमनस, नागरक, प्रेक्षक, उपस्थ (स्पेक्टेटर); चित्र तथा शिल्प के लिए प्रेक्षक, दर्शक; वास्तु के लिए आवासक; काव्य के लिए सहृदय, रसिक, पाठक, विदग्ध, आस्वादक आदि कलाभोक्ता नाम व्यवहृत होते चले आ रहे हैं। कई या सभी कलाओं के लिए भी कुछ नाम हैं : जैसे आशंसक (एप्रिशिएटर), निरीक्षक (आब्ज़र्वर), कलापारखी (कोन्नीशोत) तथा (पहले)।

आश्रयदाता आदि। इनमें से अभिधेय शब्दों को छोड़कर कुछ की व्याख्या अपेक्षित है। सामंत युग (जिसका विस्तार कई शताब्दियों में है) में तो मूलतः कोई सम्राट या सामंत या रावराजा अपनी तथाकथित आभिजात्य संस्कृति और सत्ता-वैभव और साधनों के कारण 'आश्रयदाता' होकर सौंदर्यबोध का पंच भी होता था। उदयन, विक्रमादित्य, भोज, हर्षवर्धन, श्रीहर्ष, अकबर, जहाँगीर, छत्रसाल आदि ऐसे ही विशिष्ट सहृदय थे। अपनी सामाजिक और वर्गीय स्थितियों के कारण ये एक ओर तो अपने गहरे व्यक्तिगत प्रभावों से कला-संस्कृति की रुचियों का निर्माण करते थे और दूसरी ओर अपने आश्रित कलाकारों को अपनी रुचियों के अनुरूप ढालकर उन्हें नितांत भाग्यशाली तथा ऐश्वर्य से धनी कर देते थे। आश्रित कलाकारों का यही परम सौभाग्य तथा ऐश्वर्य होता था कि वे अपने आश्रयदाताओं के पूर्णतः अनुकूल हों। 'अभिनव भारती' में भी वैभव-संपन्न राजा द्वारा ही किसी महोत्सव के समय नाटक प्रयोग कराने का विधान है। अपनी राजगोष्ठियों में उपस्थित अन्य योग्य श्रोता, दर्शक आदि पांडित्य अथवा परिपाटी खूब पग जाने पर क्रमशः 'विदग्ध' और 'रसिक, कहलाते थे। लेविन एल० शूकिंग ने साहित्यिक अभिरुचियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हुए कहा है कि आश्रयदाताओं के लुप्त हो जाने पर, ऐतिहासिक दृष्टि से अट्ठारहवीं शती के बाद, प्रकाशक उसके बहुत-कुछ धर्म निबाहने लगता है...और प्रकाशन संस्था के मालिक की रुचियाँ युग-रुचि पर वास्तविक प्रभाव डालने लगती हैं। वह 'अज्ञान पाठकों' की ओट में समाज पर अपनी रुचियाँ थोपने लगता है। बहुत-कुछ यही स्थिति आधुनिक 'थिएटर मैनेजर' अथवा 'फ़िल्म प्रोड्यूसर' की भी है। सारांशतः यहाँ मार्क्स-सम्मत वर्गीय अभिरुचियों के अनुरूप कला तथा कला-भोक्ता की धारणा की ही पुष्टि होती है।

'सामाजिक', 'सहृदय' और 'रसिक' आदि की विशेषताओं को गिनाने में भारतीय साहित्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण देन है। भरतमुनि ने नाटक देखने वाले (प्रेक्षक) को ,सुमनस्' भी कहा है। उसके लिए ये बातें ज़रूरी हैं: अध्ययनगत कला तथा साहित्य का ज्ञान; मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाओं (विभावानुभाव संचारी) का परिचय; विभिन्न भाषाओं का ज्ञान; भावनगत एकाग्रताशक्ति, तीव्रग्राहिका शक्ति, तन्मयी भवन योग्यता तथा संस्कारगत बुद्धि और चरित्र एवं वासना आदि। अभिनवगुप्त ने 'सामाजिक' उसे माना है जो मनोरंजक नाटक के द्वारा शिक्षा दिये जाने योग्य, रागद्वेष से रहित (अवएव मध्यस्थ वृत्ति वाला), दर्पण के समान स्वच्छ हृदयवाला और रसास्वादन के योग्य हो ('क्रीड़ा प्रस्ताव व्याजोपदेशया:, विगतरागद्वेषा:, मध्वस्थवृत्तयो, निर्मल हृदय मुकुरे सति तन्मयी-भवन योग्यतोपेता आहित रसास्वादः सामाजिका'—अभिनव भारती)। अभि-व्यंजनावादियों ने मूलतः काव्य के लिए 'सहृदय' की धारणा का विकास किया। सहृदय वह है जिसका विमल प्रतिभाशाली हृदय हो, जिसके हृदय में स्थायीभावों

की अभिव्यक्ति तथा चर्वणा अर्पित हो, जिसमें रसज्ञाता हो (स्थायीभाव वासना-युक्त हों) और जो कविप्रयुक्त शब्दों का नैसर्गिक चारुत्व भी समझता हो। 'विमल हृदय' पर बल देने का कारण सत्वोद्रेकदशा को उन्मिषित करना अर्थात रजोमय मन की चंचलता और तमोमय मन की मोहांधता का लोप करना है। इसे ही वेदांती कलुषहीनता कहते हैं। सारांश में वासना संस्कार और भाग्यशालिता (अनंत जन्मों का पुण्यफल) और प्रतिभा एक ओर तथा काव्यनुशीलनाभ्यास दूसरी ओर, सहृदय की अनिवार्यताएँ हैं। यहाँ अभिनवगुप्त पुण्य जन्मकर्म का कारण नहीं मानते, जब कि अन्य आचार्य (और विशेषकर भोज) इस पर ज़ोर देते हैं। इस निरूपण में पहली बात यह स्पष्ट होती है कि सामाजिक तथा सहृदय के लक्षण समान-से हैं। दूसरी बात और : कवि तथा सहृदय का व्यापक भेद भी शेष नहीं रह पाता और वे वृत्ति की दृष्टि से एकात्म (प्रवृत्ति की दृष्टि से भिन्न) हो जाते हैं। कवि भी सहृदय ही है तथा सहृदय भी कवि के समान; केवल प्रवृत्तिकमूलक कर्तृव्य तथा भावत्व के कारण ही क्रमशः कवि एवं भावुक (सहृदय) में भेद हो जाया करते है। यहाँ रचना तथा आशंसा का सैद्धांतिक तादात्म्य है जिसकी विवेचना आगे होगी।...रसज्ञाता को प्रमुखता देने वाले सहृदय को 'रसिक' भी कहते हैं। भोज रसिक पर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार उसमें संस्कार (जन्म-जन्मांतरों के पुण्यफल) प्रधान होने चाहिए और उसे लोकहृदय की पहचान करनेवाला भी होना चाहिए ताकि सार्वभौम मानवमन का ऐक्य तथा समाज में शिवत्व की स्थापना भी होती रहे। ज़ाहिर है कि भोज सम्मत रसिक आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त सम्मत सहृदय की बराबरी में अधिक यथार्थोन्मुख किन्तु अधिक वातावरण पराङ्मुख है। बाद में तो सहृदय, सामाजिक तथा रसिक शब्द काव्य, नाटक, संगीतादि सभी कलाओं के 'आशंसकों' के लिए पर्याय जैसे हो गये। अतः हम 'आशंसक' शब्द का प्रयोग करेंगे।

हम इन सभी भेदों से विलक्षण एक आखिरी कोटि बनायेंगे। इनके अंतर्गत एक कलाकार जब दूसरी कला की आशंसा करता है और उस आशंसा के गहरे प्रभावों को अपनी कृत कला द्वारा प्रकाशित करता है। दोनों ही विशेष दशाओं में 'कलाकार रूप सहृदय' में भावयित्री शक्ति का उन्मेष तो होगा ही : किन्तु दूसरी दशा में इस उन्मेष की अभिव्यंजना आशंसित कला माध्यम के अंतर्मुखी भोग में न होकर कलाकार सिद्ध माध्यम द्वारा कारयित्री क्षमता में होगी। उदाहरण-स्वरूप, राजस्थानी, कांगड़ा और मुगल कलमों में 'गीतगोविंद', 'बिहारी सतसई', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' आदि पर जो चित्र मिलते हैं वहाँ चित्रकाररूप सहृदय ने अपनी आशंसा की अभिव्यक्ति अपने सिद्ध माध्यम (चित्र-रंग-रेखा) द्वारा की है। इसी प्रकार जब द्विवेदीयुग में राजा रविवर्मा के चित्रों पर मैथिली-शरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि ने पद्य लिखे तो वे काव्य-माध्यम द्वारा

चित्रकला की आशंसा माने जायेंगे। एक शर्त यही है कि यही 'कलाकृति' और अन्य माध्यमसिद्ध 'कलाकार'—'सहृदय' युगल के सामाजिक तथा सौंदर्यात्मक बोध में बहुत अधिक तादत्म्य होना चाहिए।

ऊपर की बातों के ये निष्कर्ष हैं : सहृदय या निरीक्षक प्रधानतः आलोचक या मूल्यांकनकर्ता न होकर एक आत्मोन्मुखी आशंसक या अन्य कलामाध्यम-सिद्ध कलाकार भी है जिसकी अपनी रुचियाँ, कामनातुष्टि होती हैं; जो उन तात्क्षणिक ऐंद्रिक सौंदर्य-प्रभावों को व्यक्त करता है जो व्यक्तिगत तत्त्वों से अनिवार्यतः आप्लावित होते हैं। जब यह सहृदय या निरीक्षक या आशंसक मुख्यतः मूल्यांकन अथवा निर्णय करने लगता है, तब वह शनैः-शनैः आलोचक या निर्णायक की अगली क़तार में प्रतिष्ठित हो जाता है।

रुचि या अभिरुचि (टेस्ट) तथा फैशन

हिन्दी में 'रुचि' शब्द पसंद (लाइकिंग), रुझान (हाबी)तथा अभिरुचि (टेस्ट) तीनों अर्थों में प्रचलित है। हमें इस पर कोई आपत्ति नहीं है; बस सहूलियत के लिए 'रुचि' को पसंद तथा 'अभिरुचि' को रसज्ञाता तथा ऐंद्रियिक सौंदर्यात्मक भोग के अर्थ में ग्रहण किया जायेगा।

'अभिरुचि' का आधार आत्मगत होता है। बहुधा आत्मगत आधार से विवेकशील क्रियात्मकता (रेशनल एक्टिविटी) को भी पृथक कर दिया गया है। इस प्रकार अभिरुचि एक ऐंद्रियिक सौंदर्यबोधमूलक क्रियात्मकता हो जाती है जो तर्कपूर्ण विचारों से अनियमित हो। हम इसे एक ओर तो मूलप्रवृत्तिमूलक क्षमता मानते हैं तथा दूसरी ओर इच्छात्मक क्रियात्मकता। आत्मगत होने की वजह से यह वैयक्तिक भी है। मूलप्रवृत्तिमूलक भी और इच्छाशक्तिसंभूत भी। तात्कालिक होने की वजह से यह विवेकबहिर्भूत (नान-रेशनल) भी है और आवेशमूल (इंपलसिव) भी। इस प्रकार ये अभिरुचि के तत्व ठहरते हैं। यहाँ मूलरूपेण 'अभिरुचि' तथा 'निर्णय' के बीच अंतर करने की चेष्टा हुई है, क्योंकि 'निर्णय' के तत्त्वों में विवेकशीलता, चिंतनप्रभुता, ज्ञानात्मक कार्यव्यापार तथा तार्किक विश्लेषण आदि भी शामिल हैं। इसीलिए 'अभिरुचि' को मुख्य रूप से तात्कालिक, व्यक्तिगत तथा विवेकबहिर्भूत माना जाता है। परिणामस्वरूप अभिरुचि के सवाल धारणाओं तथा बौद्धिक कानूनों के ज़रिये हल नहीं किये जा सकते।

यदि हम एक तालिका द्वारा 'रुचि' से 'मूल्यांकन' तक का विकास दिखायें तो वह प्रधानता की दृष्टि से यों होगा :
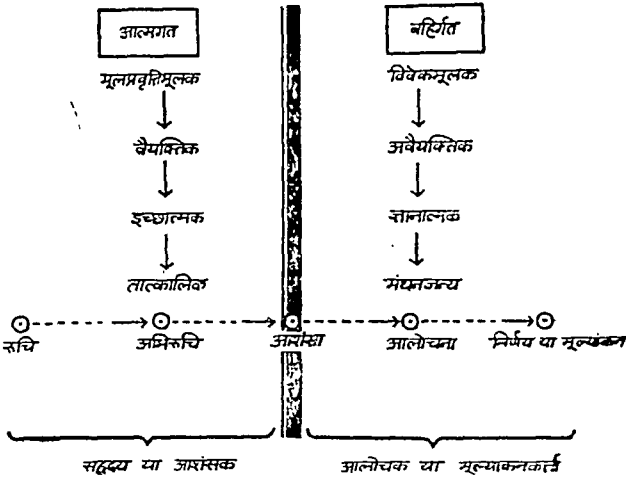
इस तालिका से स्पष्ट है कि मूलप्रवृत्ति कुछ संस्कारभूत रुचियों (पसंद) के बीज-रूप में रहती है जो व्यक्तिगत तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार की क्षमता-(शास्त्रीय शब्दावली में 'शक्ति') युक्त होते हैं। यह क्षमता वातावरण से घट-बढ़ सकती है, उससे अच्छी या बुरी, अधिक प्रिय या कम प्रिय आदि हो सकती है। रुचियों की आवृत्ति अभिरुचि हो जाती है। जितनी गहरी अभिरुचि, उतने गहरे मूलप्रवृत्तिमूलक संस्कार! जब रुचियों का परिवर्तन होता है अर्थात धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, जलवायवीय कारणों से रुचि-भेद हो जाता है तब मूल प्रवृत्तियों में संशोधन होता है। फलस्वरूप अभिरुचियाँ भी बदलती हैं। इसीलिए किसी भी युग की या किसी भी व्यक्ति की आद्योपांत एक ही अभिरुचि नहीं रह पाती, यद्यपि रुचिभेद में मूलप्रवृत्ति की बुनियादी एकता बरकरार रहती है। इसी प्रकार इसके इच्छात्मक (कोनेटिव) होने के कारण इसमें प्रेयस की प्रवृत्ति भी शामिल हो जाती है। कलाक्षेत्र में यह प्रेयस या तो कलाकृति अथवा कलाकार से तादात्म्य करके ही अभिरुचि को आलोकित कर सकता है तथा आवेश से ऊर्ज्वस्वित बन सकता है। इसीलिए इनका बोध तात्कालिक होता है।

अतः कला के क्षेत्र में 'अभिरुचि' वह मूल प्रवृत्तिमूलक क्षमता है जिसके द्वारा आशंसक (सहृदय) कलाकार के संवेगात्मक आवेश को 'तात्कालिक', 'व्यक्तिगत' स्तर पर समझता तथा उसमें भाग लेता है। यह इच्छात्मक क्रियात्मकता भी है जो वातावरण से बदल भी जाती है, एवं सहृदय तथा कलाकार के स्वभावों के बीच किसी क़दर समन्वय अथवा सहअस्तित्व क़ायम करती है (कभी कलाकार प्रिय लगता है, उसकी रचना नहीं; कभी उसकी रचना प्रिय लगती है, वह नहीं)।

यहाँ यह भी साफ़ हो जाता है कि अभिरुचि का सम्बन्ध चाहे कलाकार से हो या कलाकृति से, वह मूल रूप से कलाकार तथा आशंसक के स्वभाव के बीच तादात्म्य पर ही आश्रित है। और यह भी स्पष्ट होता है कि अभिरुचि का प्रभाव मूलतः एक व्यक्ति पर या एक ही प्रकार की रुचियों तथा अभिरुचियों वाले व्यक्तिकृत समूह पर ही पड़ता है। जब एक ही प्रकार की रुचियों तथा अभिरुचियों वाले व्यक्ति एक असंघटित समूह के रूप में आदान-प्रदान करते हैं तब भी अभिरुचि बदल जाया करती है। जब इस तबदीला का दायरा आशंसकों के आपसी अनुकरण पर आधारित होता है तब यह अनुकरणमूल अभिरुचि 'फ़ैशन' हो जाया करती है। यूं एक व्यक्ति पर तथा अनेक व्यक्तियों पर प्रभाव डालने की वजह से—आवेश और इच्छा-प्रवाह में बहा ले जाने के कारण—अभिरुचि को 'संक्रामक' (इंफ़ेक्शस) माना जाता है। यह संक्रामकता शुरू भी एक व्यक्ति से होती है और पर्यवसित भी एक व्यक्ति में। कभी-कभी यह संक्रामकता इतनी प्रबल और व्यापक होती है कि एक पूरा-का-पूरा युग ही एक विशेष 'कलादृष्टि' प्राप्त कर लेता है और अकसर कलाकृतियाँ एक या कुछ या कई निर्धारित पैटर्नों की पुनरावृत्तियाँ ही किया करती हैं जिन्हें हम 'शैली' कह चुके हैं। गुप्तयुग की मूर्तिकला, रीतिकालीन काव्य, मुगलकालीन चित्र आदि आत्मगत रुचियों के बहिर्गत शैली में रूपांतर के ज्वलंत उदाहरण हैं। जब यह संक्रामकता विभिन्न असंघटित या संगठित व्यक्ति-समूहों में विभाजित हो जाती है तब हमको एक ही युग में कई अभिरुचियां मिलती हैं; जैसे : रीतिकाल में रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त स्वच्छन्दतावादी कलाकारों की स्वभावानुकूलता। इन्हीं तथ्यों को लक्ष्य करते हुए लेविन एल० शूकिंग ने एक अर्धतथ्य कहा है :

> यह हमेशा घटा करता है कि एक विशिष्ट काल में एक विशिष्ट अभिरुचि का आधिपत्य हो जाये।...विविध प्रकार के सामाजिक वातावरणों का नतीजा विभिन्न सामाजिक विचार हुआ करते हैं—किन्तु...युग की एक चेतना नामक जैसी कोई चीज नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि युग की चेतनाओं की एक शृंखला होती है। अतः हमेशा ही यही ज़रूरी होगा कि जीवन तथा समाज सम्बन्धी नितान्त भिन्न आदर्शों वाले नितान्त भिन्न समूहों के बीच भेद किया जाये।

'सामन्त युग में तो वर्गीय चेतना के आधार पर आभिजात्य रुचियों तथा लोक-रुचियों का बड़ा साफ़ भेद नज़र आता है। अतएव,

> अभिरुचि एक प्रदत्त 'काल' तथा 'स्थान' में एक व्यक्ति या व्यक्तिगत सामाजिक समूह की ऐंद्रियक सौन्दर्यबोधात्मक क्रियात्मकता के परिवर्तन तथा सीमा को अभिहित करती है।

तो फिर अभिरुचि-परिवर्तन किस तरह होता है? जब अभिरुचि एक व्यक्ति

दूसरे व्यक्ति तक में भिन्न-भिन्न होती है तब इतनी अनंत अभिरुचियों में से एक प्रधान या कई अंगरूप अभिरुचियाँ कैसे जानें? वास्तव में व्यक्तिगत सामाजिक समूहों की अभिरुचियों का यह सवाल 'कला के समाजशास्त्र' के क्षेत्र का है। इसके लिए सबसे पहले अभिरुचि क्षेत्र के मापक घटकों पर विचार करना होगा जिनसे 'संस्कार' तथा 'परिवेश' दोनों शामिल हैं।

पहला घटक वैयक्तिक स्वभाव का है जिसके अन्तर्गत सुदर्शन की शक्ति (प्रतिभा), ध्यानयोग की आदत (भावना), सौन्दर्यबोधात्मक मर्मवेधकता (सहृदयत्व) शामिल हैं। दूसरा घटक वैयक्तिक प्रशिक्षण का है जिसमें समकालीन संस्कृति तथा कला का आधान (काव्यानुशीलन), कलाकृति से तादात्म्य स्थापित करने की कुशलता (तन्मयीभवन योग्यता) शामिल हैं। इन दोनों घटकों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से बहुत अधिक है। शेष घटकों में समाजशास्त्रीय दृष्टि प्रधान है। तीसरा घटक है राष्ट्रीयता। यह आधार संस्कृति को भौगोलिक तथा जलवायुगत कारणों से संलग्न करता है (जो प्रकृति के सौन्दर्य में दृष्टव्य है) और यह विश्वास कराता है कि राष्ट्र की संस्कृति विशाल मानवीय संस्कृति का अंग होते हुए भी अपने आपमें विशिष्ट तथा वैयक्तिक है। दो सांस्कृतिक पैटर्नों, दो राष्ट्रों के सांस्कृतिक अंतरावलंबन के—पारस्परिक संपर्क से भी एक नयी मिली-जुली संस्कृति और अभिरुचियों का विकास होता है। विभिन्न देशीय संस्कृतियों में पल्लवित अभिरुचियाँ पृथक-पृथक होंगी ही। चौथा घटक है एक या अनेक राष्ट्रों के सहृदयों के सामाजिक समूह या वर्ग की सामान्य चेतना। यह तत्त्व कलाकृतियों और सामाजिक यथार्थ के बीच बहिर्गत सम्बन्धों और मानवमूल्यों की खोज करता है और यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक कलाकृति में कलाकार तथा उसके आशंसकों की वर्गीय भावना एवं सामाजिक अवस्थाओं का अनिवार्य मेल होता है। आभिजात्य वर्ग, मध्यम वर्ग, या सर्वहारा वर्ग के आशंसकों की अभिरुचियों में भेद होगा, क्योंकि उनकी सामाजिक अंतरप्रतिक्रियाएँ, संघवादी निर्माण और संरक्षण की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न होंगी। यहाँ 'समाजशास्त्रीय तादात्मीकरण' भी होता है, जैसे: उच्चवर्गीय आशंसक का ग्रामीण रुचियों में एकतान होना, एक मध्यमवर्गीय आशंसक में उच्चवर्गीय अहंउपासना का आ जाना आदि। यह कलाकारों पर भी लागू होता है; जैसे: रायलिस्ट बालज़ाक का उदारतावादी और प्रजातंत्रवादी होना, सामंतकुमार तोल्सतोय का कृषकजन का रहनुमा होना, निम्नमध्यमवर्गीय प्रेमचन्द का ग्रामीण जीवन में एक प्राण हो जाना आदि। पाँचवाँ घटक ऐतिहासिक एवं वर्गीय नज़रिये का है जो मूलतः सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक और राजनैतिक तनावों, और फलस्वरूप सामाजिक तथा सांस्कृतिक तबदीलियों की उपज है। इसी में 'युग की अधिकारी चेतना' का आधान है जो प्रधानतः 'काल' से प्रक्षेपित होती है। जब किसी काल में कोई सामाजिक, राज—

नीतिक, धार्मिक या कलात्मक विचार-आन्दोलन अपने पूर्ण उत्कर्ष पर चहुँ ओर व्याप्त हो जाता है, तब उसके प्रभाव-क्षेत्र में पूरी-की-पूरी पीढ़ी आकर उसके रंग में ढल जाती है। आन्दोलन के अनुरूप रुचियाँ तथा अभिरुचियाँ (सहज और चेतन अवचेतन ढंग से प्रेयस होकर) उस पीढ़ी के सभी समूहों का-सा स्वभाव बन जाती हैं। ऐसे आन्दोलनों में साधारण कोटि के कलाकार तथा पिटी-पिटाई रुचियों वाले आशंसक भी साधिकार श्रेष्ठता का दावा कर सकते हैं और महानता हासिल कर सकते हैं, क्योंकि उनके पीछे निश्चित नियमों एवं चिरपरिचित अनेकावृत्त पैटर्नों की अभ्यस्तता हुआ करती है। इस प्रकार इन पाँच मापक घटकों पर अभिरुचि आधारित है। स्पष्ट है कि इनमें आद्योपांत चिन्तन और विवेचन का भी परोक्ष समावेश होता जाता है। इनमें छोटी बड़ी रद्दोबदल अपने अनुपात से अभिरुचि में भी परिवर्तन करते हैं।

किन्तु किसी ऐसी स्थिति में जब एक पीढ़ी या वर्ग या समूह अनुभवों की बहुत सीमित राशि का अभ्यस्त हो जाता है, किसी भी प्रकार का नया परिवर्तन या तो अरुचिकर होता है या अपरिचित अथवा दुर्बोध। केवल कुछ अधिक मर्मचेता आशंसक उस पर मुग्ध होते हैं। तो, अभिरुचिभेद में 'अपरिचयता' की एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अपरिचयता, अभिनव सौन्दर्य तथा दुरूहता दोनों का निमित्त होती है, क्योंकि वह आशंसकों के स्वभावमार्ग के लिए (शुरू में) अजनबी हुआ करती है। परंपरा के रूप में कला-इतिहास हमें व्यापक अनुशीलन तथा कई सामान्य मान (नार्म्स) देता है जिसकी वजह से प्राचीन कला की आशंसा में अपेक्षाकृत अपरिचयता नहीं के बराबर रह जाती है, किन्तु उसी काल में नयी-सी कलाकृति का प्रवेश हमें चकित करता है। बहुधा अतीत के विषयों में भी अभि-रुचियों का प्रत्यावर्तन होता है। ऐसी 'चमत्कारक अपरिचयता' के लिए आवश्यक है कि वह समूहात्मक अथवा व्यक्तिगत तो हो, किन्तु अंहलीन तथा घोर वैयक्तिक क़तई न हो। अन्ततः उसमें निहित प्रत्यक्ष या परोक्ष 'सामूहिकता' को व्यक्तिगत रूप से सहृदयों को प्रभावित करना ही होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो यह अपरिचयता आशंसकों के स्वभाव मार्ग के अन्तर्गत नहीं आ पाती, कुछ आलोचकों की ऊहापोह का मसाला भले ही बन जाये। बहुधा अपरिचयता को परिचित बनाने में काल एक प्रमुख सूत्रधार होता है; कालान्तर में अपरिचयता स्वीकृत होकर मान्य हो जाती है और बाद में परंपरा का एक स्थायी भाग भी। इस प्रकार पहले जो परंपरा में एक नया आवर्त था, वह कालांतर में आशंसकों के स्वभाव-मार्ग में परिचित तथा अभ्यस्त होकर स्थायी परंपरांश हो जाता है। किन्तु कभी-कभी कई सहृदय अपने स्वभाव-मार्ग के इतने दृढ़प्रतिज्ञ हो जाते हैं कि अपरि-चयता को कभी भी परिचित अभिरुचि नहीं बना पाते। कहा जाता है कि ऐसे आशंसक दकियानूस या समसामयिक बोध से विहीन होते हैं। वास्तव में वे अपने

पुराने या गहरी आस्था वाले 'सामान्य मानों' के मोहजाल में आत्ममुग्ध या पुनरुत्थानवादी हो जाया करते हैं।

इस निरूपण में जो एक तथ्य वरबस ही आकर्षित कर लेता है वह है आशंसक की अनुकरणमूलक द्वितीय स्थानीय भूमिका। हम जानते हैं कि अभिरुचि-निर्माण में वैयक्तिक तत्त्वों की महत्तम भूमिका होती है और सहृदय या आशंसक भी वैयक्तिक रुझानों के आधार पर कलाकृति का भोग करता है। सहृदय की भूमिका कलाकार की न होकर, कलाकार के संवेगात्मक आवेशों का मर्मस्पर्श करने वाले की होती है। अतः अभिरुचि के परिवर्तन के बिगुल को पहले कलाकार द्वारा वजाये जाने की बात हम इसलिए करते हैं कि हमारे पास उसकी कलाकृतियाँ मौजूद हैं, लेकिन सहृदय अपनी द्वितीयक स्थिति के कारण ऐसे कोई प्रमाण नहीं दे पाता। तिस पर भी कलाकार बिगुल पहले क्यों वजाता है? इसीलिए कि कुछ अधिक मर्मस्पर्शी आशंसक नयी अभिरुचियों का तकाज़ा करते हैं, किन्तु वे कलाकार न होने के कारण मजबूर रहते हैं। कलाकार उन्हें मूर्त्त रूप दे देता है। अतः हम कह सकते हैं कि अधिक मर्मस्पर्शी सहृदयों की नयी चेतना परोक्ष रूप से पहले कलाकार की वैयक्तिक चेतना का सहनिर्माण करती है और बाद में कलाकार अपनी कलाकृति के द्वारा सामान्य सहृदयों की एक सामूहिक या युगीन चेतना का पुनर्निर्माण करता है। यह नाता उभयपक्षीय है। कलाकार और तलस्पर्शी आशंसक दोनों ही सामान्य से कुछ विलक्षण होते हैं, दोनों ही एक ही परिवेश की उपज हुआ करते हैं; किन्तु दोनों के धर्म कुछ बदले हुए हैं: एक में कर्तृत्व है, दूसरे में भावत्व। अतः हमें केवल आभास होता है कि कलाकार पहली आहुति देता है।

इन बातों के संदर्भ में 'अभिरुचियों का इतिहास' बड़ा रोचक प्रतीत होगा, क्योंकि यह "लुप्त प्रेमों और पूर्वाग्रहों का इतिहास है; और जो भी कोई इसमें दख़ल रखेगा वह इस अर्थ में नुकसान में रहेगा कि उसे खुद भी तो अपने सक्रिय प्रेमों और पूर्वाग्रहों की कृपा पर निर्भर रहना पड़ेगा। निष्पक्षता तो एक ऐसा आदर्श है जिसे कोई भी इतिहासकार नहीं प्राप्त कर सकता।" भारतीय अभिरुचियों के इतिहास का सैद्धांतिक विवेचन आश्चर्यपूर्वक लगभग एक-सा रहा है, जो कि नामों के क्षेपकों से स्पष्ट है। यूरोपीय जगत में इसके आरंभिक संकेत वार्ची, माइकेल एंजिलो, टासो, सिसरो, क्विंतिलियन, ग्रःशियन आदि के ग्रन्थों में मिलते हैं, लेकिन बामगार्टन, शेफ़्ट्सबरी, कांट और उन्नीसवी-बीसवीं शती के कई लेखकों ने इसका दार्शनिक एवं सौन्दर्यबोधशास्त्रीय विवेचन भी किया। वहाँ तो सत्रहवीं सदी में यह ललित कलाओं के दर्शनशास्त्र में एक प्रमुख पारिभाषिक शब्द बन गया था। शेफ्ट्सबरी तथा बामगार्टन ने अभिरुचि को सौन्दर्य का वह ज्ञान माना जो संवेगों की मध्यस्थता से प्राप्त हो और जो विज्ञान की अपेक्षा धूमिल होते हुए भी वहिर्गत यथार्थता का बोध कराने की एक सक्रिय

विधि हो। कांट ने 'क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट' में इसे पुरानी रोमन विचारधारा के अनुसार 'निर्णय' से जोड़ते हुए इसको सुख (प्लेज़र) की अनुभूति माना, न कि धारणाओं (कंसेप्ट्स) की। उन्होंने इसे वैयक्तिक मानते हुए भी एक मानवतावादी सार्वभौम स्वरूप प्रदान किया। अभिरुचि इच्छाशक्ति का लीलाविलास है, अनुकूल तथा आकर्षक है और सभी को बराबर मुग्ध करता है तथा एक चारू 'रूप' की उपस्थिति (कलाकृति) में अनुभूत होता है। (अन्य निर्देश 'आशंसा' के संदर्भ में किए जायेंगे)।

'फ़ैशन' को 'अभिरुचि की भावात्मक अनुकृति' माना जा सकता है। अभिरुचि में स्वरुचि की प्रधानता होती है, किन्तु फ़ैशन में सामूहिक स्वौचित्य की; अभिरुचि में नितांत वैयक्तिकता भी क़ायम रहती है, किन्तु फ़ैशन में एक व्यक्तिगत यांत्रिक अनुकरण-सा होने लगता है। अभिरुचि में आशंसक कलाकार की मूलसंवेदना से तादात्म्य करता है, किन्तु फ़ैशन में वह अन्य आशंसकों से प्रभावित होता हैं; अभिरुचि का विकास शनैः-शनैः होता है, लेकिन फ़ैशन का प्रसार आकस्मिक और बहुत तेज़ होता है। अतः अभिरुचि की अपेक्षा फ़ैशन बहुत तेज़ी से बदलता-बनता-ठनता है। मूलतः अभिरुचि और फ़ैशन में गुणभेद कम तथा मात्राभेद अधिक होता है। अभिरुचिसंपन्न आशंसकों में कारयित्री भावना भी हुआ करती है किन्तु फ़ैशनसंपन्न आशंसक बहुत ज़्यादा असर्जनात्मक, बहुत जल्दी प्रभावित हो जाने वाले हुआ करते हैं। अभिरुचि की तरह फ़ैशन भी समाज के एक विशेष स्तर पर प्रभाव डालता है, किन्तु यहाँ पर आशंसक भावात्मक अनुकर्त्ता अधिक होते हैं। एरिक न्यूटन का कथन है कि :

> फ़ैशन का पैंडुलम अभिरुचि के पैंडुलम की अपेक्षा केवल अधिक वेग से ही नहीं, बल्कि अधिक आवेश से भी डोलता है। फ़ैशन एक विशिष्ट 'काम्य' गुण को तो अतिरंजित तथा पृथक कर देता है और बाक़ी को तिरस्कृत। यही नहीं, यह सभी वस्तुओं को उसी गुण के मुताबिक़ ढालता है। बाद में इसका नतीजा महज़ नीरसता की यांत्रिकता होती है। फलस्वरूप यह स्वतः ही एक के बाद एक क्रांतियाँ उत्पन्न करता है जो अभिरुचि की क्रांतियों की अपेक्षा अधिक क्षिप्र या द्रुतगामी होती हैं।

फ़ैशन के प्रचार तथा प्रसार में सबसे प्रमुख तत्त्व है उस वस्तु की सहज और सरल उपलब्धि जिसमें विशिष्ट काम्य गुण ढाल दिया गया हो। यह उपलब्धि तभी होगी जब उसका मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन हो (उ० छपे चित्र), उसे बहुत अधिक लोग भोग सकें (उ० सिनेमा) या उससे बहुत अधिक लोग एक साथ प्रभावित हो सकें (उ० रेडियो, अख़बार द्वारा प्रचार)। यदि वह साधन मँहगा पड़ता है तो अधिक मूल्य के कारण उस वस्तु की माँग कम होगी। अतः तब वह एक विरली वस्तु हो जायेगा जिसे औसत धनी तथा बौद्धिक लोग ही प्राप्त कर सकेंगे।

यदि वह साधन सस्ता पड़ता है तो कम मूल्य के कारण उस वस्तु की माँग अधिक होगी। अतः वह एक घटिया या सर्वोपलब्ध वस्तु हो जायेगा जिसे औसत बौद्धिक लोग भी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इस उत्पादित वस्तु में यदि कोई आरंभिक नवलता है (तथा साथ में सस्ता मूल्य भी), तब उसे औसत अभिरुचिवाले लोग अधिकाधिक प्राप्त करते हैं। अतएव फैशन की वस्तु के मूल्य और सामाजिक स्तर के बीच एक ऐसा आर्थिक और समाजशास्त्रीय रिश्ता है।

आशंसा (एप्रिसियेशन) एवं आलोचना

हम आशंसा को 'अभिरुचि की शिक्षा' (निर्णय नहीं) मानते हैं। पुराने आचार्यों ने इसे काव्यानुशीलनाभ्यासजन्य माना है। यहाँ कलाकृति को समझने पर ज़ोर दिया जाता है। यहाँ के तर्क 'आत्मतर्क' तथा आत्मतर्क 'संवेगों के आत्मतर्क' होते हैं। इसमें थोड़े-बहुत कालखंड का समावेश ज़रूरी है, क्योंकि एक ओर तो वह हमारी अनुभूतियों एवं संवेगों को आलोकित कर देता है तथा दूसरी ओर ध्यानयोग (कंटेंप्लेशन) की दशा भी प्रदान करता है (इस दशा की उत्पत्ति के हेतु तो संस्कार होते हैं)। इसलिए आशंसा में अभिरुचि की जो शिक्षा होती है वह हमें एक ओर तो परंपरा से संबद्ध करती है तथा हमारे संस्कारों को आलोकित करती है तो दूसरी ओर संस्कार-जन्य क्षमता को कौशलयुक्त या दक्ष बनाती है। कौशलयुक्त क्षमता को अधिकाधिक स्तर तक 'प्रशिक्षित' भी किया जा सकता है ताकि प्रशिक्षणजन्य उचित अभ्यास से हमारी मार्मिक ग्राहिकाशक्ति और सूक्ष्मता अधिकाधिक अच्छी हो सके। व्यापक रूप से अभिरुचि की शिक्षा संस्कारों को आलोकित करनेवाले 'वातावरण' का काम करती है; उसका सतत व्यवहार अभ्यास है तथा आत्मतर्कपूर्ण आधान प्रशिक्षण है। इस प्रकार अभिरुचि की शिक्षा से हमारा तात्पर्य संस्कारों का प्रकाशन, अभ्यास और संवेगात्मक प्रशिक्षण है जो ग्राहिकाशक्ति और सूक्ष्मदृष्टि को अधिक उत्तम बनाते हैं। अतः अभिरुचियों की शिक्षा का एक गंभीर प्रभाव होता है यदि 'हम क्या जानते हैं'—इसमें संवृद्धि होती है तो स्वाभाविक रूप से 'हमारी क्या अनुमति है'—इसमें भी उसी अनुपात से संवर्धन होता है; दोनों अन्योन्याश्रित हैं। यह सही है कि आशंसा में केवल अभिरुचियों की ही शिक्षा होती है, उनका आमूलचूल रूपांतर नहीं होता अर्थात आशंसक के वंशानुक्रम (हेरिडिटी) का लोप तो नहीं हो सकता, किन्तु शिक्षा द्वारा उसकी अजन्मी क्षमताओं का विस्तार तथा परिष्कार ज़रूर हो सकता है। हम पत्थर पर कमल तो नहीं उगा सकते, लेकिन काली मिट्टी में उचित ऋतु में कपास ज़रूर खिला सकते हैं और उचित खाद देकर उसे अच्छी किस्म का भी बना सकते हैं। आशंसा में अभिरुचि की शिक्षा का जो समावेश होता है उसकी दो अतियाँ भी हो सकती हैं : हम कलाकार तथा उसके युग की बावत तो सभी कुछ जान जाते हैं,

किंतु कलाकार के जीवन तथा युग के विषय में बहुत कम। वास्तव में जब इन दोनों का समन्वय होता है तभी आशंसा पूर्ण होती है। अतः आशंसा में व्यक्ति स्वभाव, वैयक्तिक रुचि, वैयक्तिक साहचर्यादि के साथ-साथ शिक्षा का भी योग होता है। इस शिक्षा का कार्य मूल्यांकन न होकर, अभिरुचि-परिष्कार तथा कलाकृति से तादात्म्य स्थापित करना है। यदि आशंसक में कलाकृति से सर्वांगीण तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता का उन्मेष हो जाता है अर्थात कलाकृति को 'समझने' के उपरांत वह कलाकार के संवेगात्मक आवेश से भी एकभाव हो जाता है, तब आशंसा केवल पूर्ण ही नहीं, परिपूर्ण होती है। आशंसा के यथासंभव परिपूर्ण होने के लिए दो शर्तें और हैं : पहली, आशंसित व्यक्ति अथवा कृति के स्वभाव, जीवनदर्शन या मनोदशा से हमारा सान्निध्य हो तथा दूसरी, सामाजिक ढाँचे में सापेक्ष स्थिरता हो (क्योंकि यह अभिरुचि की स्थिरता का भी कारण है)। यहाँ पहली शर्त कला-कार-आशंसक के बीच विश्वासों की एकता-मतभेद तथा दूसरी 'युग की प्रमुख अभिरुचि' का हेतु है।

सारांशतः आशंसा के दो प्रकार हो सकते हैं : पहला सहृदय या निरीक्षक जिस ढंग से कलाकृति से प्रतिबद्ध 'होते हैं'; दूसरा, आशंसक को जिस ढंग से कलाकृति से प्रतिबद्ध 'होना चाहिए'। दोनों प्रकारों में क्रमशः अभिरुचि और अभिरुचि समेत-शिक्षा का संयोग है। दोनों ही ध्यान योग के प्रेयस तथा श्रेयस रूप हैं।

इन आधारों पर आशंसा के विषय में कई मत हैं। लांज (एल ए एन जी ई), ग्रूस तथा पार्कर जैसे सौंदर्यवेत्ताओं के अनुसार आशंसा एक 'काव्यात्मक विश्वास' (पोएटिक बिलीफ़) है अर्थात यहाँ सचेतन रूप से 'हठात विश्वास' (मेक बिलीफ़) या 'आत्म-भ्रांति' (सेल्फ़ डिसेप्शन) होती है; विश्वास या अविश्वास नहीं। यहाँ जो भी गल्पात्मक है, जो भी काल्पनिक है उसे, वैसा ही जानते हुए भी, आशंसक उस पर हठात विश्वास करता अथवा चेतना आत्मभ्रांति के साथ स्वीकार करता है। हम जानते हैं कि 'गोदान' होरी का चरित्र न था, न है और न होगा; न ही उसके सारे कार्य वास्तविक हैं; लेकिन होरी की तरह भारत के अनेक ग्रामीण किसान और इंसान जरूर हैं। और ऐसी दशा में होरी (व्यक्ति) या गोदान (कृति) के स्वभाव, जीवनदर्शन या मनोदशा से हमारा जितना सान्निध्य होता है उतना ही हम उसे सच्चा या झूठा, स्वीकार्य या अस्वीकार्य भी मानते हैं। अतः यहाँ हमारी 'अवस्था' भी शामिल हो जाती है। इस प्रकार आशंसा में केवल 'हठात विश्वास' ही नहीं, विश्वास और अविश्वास भी सक्रिय होते हैं। कालरिज ने एक सारगर्भित उक्ति कही है : आशंसा में हम 'अपने अविश्वास को ख़ारिज' कर देते हैं (सस्पेंड अवर डिसबिलीफ़)। जितनी दूर तक हम कलाकार या कलाकृति के साथ जाते हैं उतनी दूर तक हमारा विश्वास उसे स्वीकार करता चलता है तथा जितनी दूर के बाद हम कलाकारों के विश्वासों का साझा नहीं कर पाते वहाँ से हमारा हठात

विश्वास टूट जाता है और तब हम अस्वीकार करते जाते हैं। रचना तथा आशंसा के प्रसंग में यह चर्चा फिर होगी। फ़िलहाल हम इतना ही कहेंगे कि आशंसा में सांगोपांग हठात विश्वास, विश्वास-अविश्वास, इनके आंशिक रूप—इन तीनों का ही समाहार हो सकता है।

मनोविश्लेश्षणात्मक रोमानियत के संस्थापक फ्रायड के अनुसार आशंसक की भग्नाश यौन कामनाओं की तृप्ति या संतुष्टि ही कला की आशंसा है। कलाकार की तरह आशंसक भी अपनी अवचेतन यौन कामनाओं की काल्पनिक तुष्टि—अति-कल्पना तथा दिवास्वप्नों के द्वारा—करता है। कलाकार की तरह वह भी न्यूरोटिक ढंग से इन दमित कामनाओं का उदात्तीकरण करता है। इन संदर्भों में फ्रायड आशंसक और कलाकार की प्रक्रियाओं को एक समान मानते हैं।...पार्कर के अनुसार कलाशंसा में केवल यौन कामनाएँ ही नहीं, अपितु सभी कामनाएँ शामिल हैं; और केवल दमित या भग्न कामनाओं की नहीं, कामनाओं को अतिशयता तथा अतिरंजना की भी संतुष्टि होती है।

तोलसतोय ने आशंसा का संवेगवादी मत प्रस्तुत किया है। आशंसा कलाकृति में कलाकार द्वारा गुंफित संवेगों की आशंसा द्वारा साझेदारी तथा संवेगात्मक लिप्तता है। आशंसा में कलाकारों के संवेगों में तिरोभूत होने की जितनी अधिक निपुणता होगी, आशंसा की प्रक्रिया उतनी अधिक सिद्ध होगी। यदि ये संवेग मानतवावादी और धार्मिक हुए, जैसा कि होना चाहिए, तो आशंसा 'मनुष्यों का भाईचारा' क़ायम करने का भी एक मुनासिब साधन है। तोल्सतोय के अनुसार, आदर्श तथा सच्चे आशंसक तो अविकृत रुचियों वाले, धार्मिक वृत्तियों वाले, सहज भोले-भाले भावुक किसान हैं जो किसी भी देश—विशेषकर उनके समय के ज़ार-शाही रूस की जनसंख्या के 90 प्र० श० लोगबाग होते हैं। तोल्सतोय कलाकार और आशंसक के बीच एक विश्वास की पूर्ण दृढ़ता को पूर्व शर्त मान कर चले हैं। इन्होंने, अरस्तू की तरह, आशंसा का ध्येय संवेगों का 'उपचारमूलक शुद्धीकरण मानते हैं ताकि आशंसक परेशान करने वाले उन संवेगों को वहाँ, तथा अपने स्वतंत्र, बाह्य कलाकृति में अवस्थित करके प्रशांति और उपचार का लाभ करे।

ड्यूकाशे तथा बुलो के भी संवेगात्मक ध्यानयोग से संबंधित अभिमत हैं। सारांशत: वे आशंसा के निरूपण करने वाले संवेग को या कामना की तुष्टि या सह-भाग या ध्यानयोग को ही इसका मंगलाचरण मानते हैं।

इस मौके पर 'आलोचना' की चर्चा प्रासंगिक होगी। अब तक आशंसा और मूल्यांकन के पार्थक्य की पूर्ण अवस्था में हम उपर्युक्त मीमांसा करते आ रहे हैं। लेकिन कभी-कभी और बहुधा, ये एकस्थ भी होते हैं अर्थात सौंदर्यात्मक मूल्यों के क्षत्र का 'महत' और वैयक्तिक अभिरुचियों के क्षेत्र की 'तुष्टि' में संगति हो जाती है। ऐसी दशा में हम जिसके महत्तम होने का निर्णय करते हैं उसको सर्वाधिक रुचिकर

भी मानते हैं। इस प्रकार आलोचना में क्रमशः वैयक्तिक अभिरुचियों के बजाय व्यक्तिनिरपेक्ष निर्णय, तात्कालिक ऐंद्रियिक बोधों के बजाय चिंतनमूलक मूल्यांकन, आत्मदृष्टि के बजाय बहिर्दृष्टि तथा स्वतुष्टि के बजाय महत के परिज्ञान का उत्तरोत्तर उन्मेष होता चलता है। वास्तव में आशंसा में शिक्षा के कांत संयोग की अगली श्रेणी विवेकयुक्त होकर आलोचना या निर्णय या मूल्यांकन में परिणत हो जाती हैं। इस वजह से आशंसक ही आलोचक हो जाता है और बिना आशंसक की अगुआई के आलोचना नहीं हो सकती। तात्कालिक, वैयक्तिक और ऐंद्रियिक होने के कारण अभिरुचि तथा उसके प्रभेद 'आशंसित' तथा 'इच्छित' हैं; और चिंतनात्मक, निर्वैयक्तिक तथा विवेक-मुखी होने के कारण आलोचना तथा उसके प्रभेद 'आशंसनीय' तथा 'कामनायोग्य' हैं। इसलिए आलोचना में सत्य एवं मिथ्या, अच्छा एवं बुरा, उत्तम एवं निकृष्ट जैसे मूल्यपदों का व्यवहार होता है। जब आलोचना तथा आशंसा का संतुलित परिपाक न होकर अभिरुचिमूल आशंसा-प्रधान हो जाती है तब ग़लती से सुखद तथा सुप्रिय तक महान भी हो जाया करता है। अतएव आशंसक या ग्रहीता जितना अधिक संवेदनशील तथा साथ-साथ तार्किक होगा, वह उतना ही अधिक अभिरुचि और मूल्य के बीच फ़र्क भी कर सकेगा। हमारे अनुसार तो अभिरुचि रुझानों का संस्कार, फ़ैशन अभिरुचियों का भावात्मक अनुकरण, आशंसा अभिरुचियों की शिक्षा और आलोचना 'अभिरुचियों का निर्वैयक्तिक विवेक' है। ये भेद और विकासमान एकैक श्रृंखला, दोनों ही हैं। इनसे स्पष्ट है कि आलोचना में कलाकृति का ग्रहण, पहचान, अनुभूतियों में तन्मय होने की योग्यता के साथ-साथ मूल्यांकन और दृष्टिकोण प्रदान करने का सामर्थ्य भी शामिल हैं; इसमें ध्यानयोग और इसके उपरांत विश्लेषण, सिद्धांतस्थापन आदि भी शामिल हैं। आलोचक को कलाप्रेमी, मर्माभिभूत होने वाला भी होना चाहिए, जिस प्रकार वह तार्किक, विश्लेषक, अपने क्षेत्र के अनुभवी, सौंदर्यात्मक परंपरा में पगा आदि होता है। इसलिए आलोचक के धर्म पर विवाद तभी पूरा हो सकता है जब हम साथ-साथ कवि और दार्शनिक इन दोनों के धर्म और कार्य का भी संयोग करें, क्योंकि वह भावयित्री प्रतिभा-वाला (आशंसक) कवि तो होता ही है; इसके अलावा अनिवार्यतः वह किसी आलोचनात्मक विचारधारा या दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर, जाने अथवा अनजाने ही, अपने निर्णय प्रस्तुत करता है। जब वह कृति में नये सौंदर्यबोध या तथ्य या दिशा या व्यंजना का अन्वेषण करता है तब वह 'सर्जनात्मक' भी हो जाता है। एक प्रकार से आशंसक या सहृदय अपनी असर्जनात्मक दशा की क्षतिपूर्ति आलोचक होकर कर लेता है, जहाँ एक साथ कवित्व, सहृदयत्व, तर्क और दर्शन, चारों का संयोग है; और जहाँ उसे कृति का रसास्वादन-विश्लेषण-अन्वेषण-मूल्यांकनपरक पुनर्सृजन करना पड़ता है। सारांशतः आलोचना की उदात्त अवस्था

तो 'पुनर्सृजनात्मक' है।

आशंसा एवं रचना के अन्तर्सम्बन्ध

यों तो इन सम्बन्धों का काफ़ी फैला दायरा प्रेषणीयता तथा सौंदर्यानुभव या सौंदर्यबोधानुभव तक भी फैलता है जो यहाँ अप्रस्तुत्य है; फिर भी मुख्यत: यह कलाकार की कारयित्री तथा सहृदय या आशंसक की भावयित्री शक्तियों से सम्बन्धित है।

ये अन्तर्सम्बन्ध एक कलातत्त्व की ही दो प्रकार की रचना हैं : पहली, कलाकार की 'मूल रचना' तथा दूसरी, आशंसक द्वारा अपने मानस में उस मूल रचना की 'पुन: रचना' (अनुकृति नहीं)। यह तो बिलकुल साफ़ है कि कलाकार माध्यम, तकनीक, यंत्र और औज़ार आदि की मदद से कलाकृति को मूर्त या प्रकट रूप से प्रस्तुत करता है, जब कि आशंसक को न तो रचना की तकनीकी बारीकियों में सक्रिय ढंग से उलझना पड़ता है और न ही किसी भौतिक कलाकृति की पुनर्रचना करनी पड़ती है। इस प्रकार माध्यममूलक रचनाप्रक्रिया में कलाकार की सृजनशक्ति का जो व्यय, अपव्यय, अतिव्यय आदि होता है उसे आशंसक सुरक्षित, अव्यवहृत या अनजाना (अनिर्वचनीय) रख सकता है। फलस्वरूप वह आशंसा—भावात्मक पुनर्रचना—में उस अतिरिक्त शक्ति को भी केंद्रीभूत कर सकता है; और बहुधा कलाकार से अधिक तल्लीन होकर सौंदर्यानुभव करता भी है। एक दूसरी बात और है कि कलाकार तो कलाकृति की रचना करता है जहाँ उसके विचार, अनुभव, अनुभूति, विवेक, दार्शनिक सिद्धान्त आदि अनुस्यूत होते हैं, लेकिन आशंसक कलाकृति की पुनर्रचना नहीं करता, बल्कि परिपूर्ण कलाकृति ही उसके लिए माध्यम का काम करती है जिसके द्वारा वह कलाकार के विचार, अनुभव, अनुभूति, विवेक, दार्शनिक सिद्धान्तादि से हृदयसंवाद करता है।

सारांश यह है कि आशंसा तथा रचना के अन्तर्सम्बन्ध कलाकृतिरूपी वीणा के माध्यम से आशंसक तथा कलाकार के मानस की एक तान-बहुतान, समलय-विषमलय मूलक झंकार के द्वंद्व हैं।

यह जरूर सही है कि आशंसक तथा कलाकार के मस्तिष्क कदापि भी एक नहीं हो सकते; बहुधा वे एक-जैसे ज़रूर होते हैं। कलाकार की रचना के दो खंड हैं : पहला, मूल स्वयंप्रकाश्य, भावनात्मक तथा अमूर्त रचना; दूसरा, पहले खंड की भौतिक माध्यम-मूलक मूर्त पुनर्रचना। आशंसक के दो खंड हैं : पहला, मूर्तरचना का आशंसक के अनुसार बोध; दूसरा, आशंसक के पहले खंड के अनुभव का कलाकार की स्वयंप्रकाश्य, भावात्मक तथा अमूर्त रचना के अनुभवों के साथ तादात्मीकरण। आशंसक की रचना के दोनों खंड अमूर्त एवं भावनात्मक हैं; पहला अनुभवमूलक, दूसरा स्वयंप्रकाश्य। इस वजह से क्रोचे, मारीश्याँ और कुछ आदर्श-

वादी कलावेत्ता आशंसा को सृजनात्मक सक्रियता का ही एक उपरूप मानते हैं। वास्तव में आशंसक और कलाकार दोनों ही दो खंड में रचना करते हैं। जबकि कलाकार का दूसरा खंड भौतिक कलाकृति बना जाता है, आशंसक के दोनों खंड अमूर्त रह जाते हैं तथा कलाकार की भौतिक कलाकृति पर अनिवार्यतः आश्रित रहते हैं। कलाकार का आशंसक के मस्तिष्क से—सृजनक्षणों में—प्रत्यक्ष तौर पर कुछ सरोकार नहीं होता है, किन्तु आशंसक को मूल रूप से एवं प्रत्यक्ष तौर पर कलाकार के मस्तिष्क से अपने मस्तिष्क का तादात्मीकरण करना होता है, अर्थात वह कलाकार के अनुरूप अपने मस्तिष्क का एवं अपने अनुरूप कलाकार के मस्तिष्क का भी ऐच्छिक रूपांतर करता है। उसके द्वारा क्रियान्वित कलाकार के मस्तिष्क का यह रूपान्तर न तो कलाकार को सीधे 'बदलता' है, न ही कलाकृति को; अलबत्ता वह दोनों को अधिक 'आलोकित' अवश्य करता है। यदि दोनों सम-सामयिक हुए तो 'युग की अभिरुचियों' के निर्माता के रूप में आशंसकसमूह कला-कार तथा कलाकृति, दोनों को ही बदलता है।

लेकिन बहुधा जब आशंसा और रचना के सापेक्ष्य को भुलाकर आशंसा को माध्यम-निरपेक्ष ढंग से प्रतिपादित किया जाता है, तब कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। यदि रसिकव्यापारमुख से कहा जाये कि आशंसा तो कलाकार के मूल 'भाव' या 'विचार' से तादात्म्य करती है जिसके धारण के लिए कलाकृति एक माध्यम मात्र है तो इस कथन में कलाकृति के माध्यम तथा तकनीकी पक्ष की उपेक्षा मिलती है और रचना तथा आशंसा का भेद मिट जाता है। ऐसा नहीं है। माध्यम की चर्चा हमने अन्यत्र की है। कलाकार की चेतना में प्रत्यक्ष अनु-भवजन्य अथवा अघटित कल्पनापरक जो भाव या विचार आते हैं; वे सर्वांगीण पूर्ण या विकसित नहीं हुआ करते। माध्यम के सम्पर्क में आने पर उन्हें नयी तथा जटिल तकनीकी उलझनों को पार करना होता है, अर्थात अमूर्त 'भाव' विचार तथा मूर्त 'माध्यम' के बीच ग्राहकता की एक स्पर्धा छिड़ जाती है। फलस्वरूप विचार या भाव में संशोधन, परिवर्तन तथा विकास होता है। अतः कभी-कभी जो विचार या भाव मस्तिष्क को प्रीतिकर लगते हैं, वे माध्यम में सिद्ध होने में असंतोषजनक हो जाते हैं तथा जो काफ़ी धुँधले और अस्पष्ट हैं वे उचित माध्यम के मिलते ही अनहोनी तथा अनजानी विधियों से विकसित और परिवर्तित होने लगते हैं। अतः कलाकार के मूल भाव या विचार एक तो पूर्णतः विकसित नहीं होते; दूसरे, भौतिक रूपों (कलाकृतियों) में प्रस्तुत होने के लिए तकनीकी क्रियाओं के दरम्यान बदलते भी हैं। दूसरे शब्दों में, "भाव या विचार माध्यम पर प्रभाव डालते हैं, तथा माध्यम भी भाव और विचारों को प्रभावित करता है।" भाव या विचार को पत्थर पर खुदाई करके, पटल पर रंग-रेखाएँ भरकर, कागज़ पर शब्द या रागलिपियाँ लिखकर मूर्तिमान करना होता है। इसके लिए तकनीकी बारीकियों की सक्रियता

अपेक्षित होती है, रचना की उलझनें सामने आती हैं, कलाकार के स्नायुओं तथा मांसपेशियों में तनाव-खिचाव आता है, माध्यम की सिद्धहस्तता की जरूरत होती है इत्यादि; तब कहीं भाव या विचार को 'मूर्तिमान' किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में कैसा भी प्रेरणापूर्ण, उदात्त भाव या विचार हो, स्वतः तथा स्वयं बदलता ही है।

ऐसी दशा में हम आशंसा को मूल रचना की निरपेक्ष आवृत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि इस दृष्टिकोण में 'माध्यम' तथा 'तकनीकी पीड़ा' को या तो रचना से बिलकुल अलग कर दिया जाता है या पूरी तरह से धारणयोग्य, निष्क्रिय तथा प्रभावहीन मान लिया जाता है या उसे रचना की अपेक्षा बिलकुल गौण सिद्ध किया जाता है या आशंसा में एक आवश्यक बाधा और जटिल भटकाव समझा जाता है। इस दृष्टिकोण की वजह से ही आशंसा को एक अधिक सरल, उदात्त और वेगवान रचना माना जाता है, जहाँ तकनीकी क्रियाओं की पीड़ा न हो। किन्तु आशंसक कभी भी कलाकार के मूल भाव या विचार तथा तदनुरूप सृजनात्मक 'प्रक्रिया' को पुनरुत्पादित नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो 'अन्तिम तैयार की हुई कलाकृति' को आधार बनाता है। उसे भाव या विचार तथा माध्यम के बीच अन्योन्याश्रित प्रभावों तथा तकनीकी क्रियाओं की जटिलताओं का तो बिलकुल भी व्यावहारिक बोध नहीं होता। अतः वह स्रष्टा के अनुभवों का हू-ब-हू पुनरुत्पादन कर ही नहीं सकता। अतः रचना और आशंसा एक नहीं हैं। अतः कलाकार की 'प्रेरणा' (भाव या विचार) और उसका 'मूर्तिकरण' (माध्यम, कलाकृति) भी अलग-अलग नहीं, बल्कि एक तारतम्य है। अतः आशंसक मूर्तिकरण के बगैर कभी भी अपनी वृत्ति को सर्जना के समकक्ष नहीं रख सकता है और क्योंकि उसे आशंसक-रूप में मूर्तिकरण का अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए आशंसा और रचना व्यवहारतः न तो एक हैं, न ही समान। जिस क्षण वह माध्यम की सीमा, क्षमता तथा शक्ति के भी सम्पर्क में आ जायेगा, उस क्षण वह आशंसक न रहकर कलाकार हो जायेगा। सारांश यह है कि 'तैयार की हुई कलाकृति' का ही अवलम्ब लेकर अपनी तन्मयीभवन दशा में आशंसक कलाकार की सृजनात्मक प्रक्रिया का पुनरुत्पादन कभी भी नहीं कर सकता, क्योंकि 'भाव', 'विचार' माध्यम तथा तकनीक द्वारा बदलते व विकसित होते हैं। इसलिए आशंसा में रचना की हू-ब-हू भावात्मक अनुकृति एक निरपेक्ष और असम्भव धारणा है। आशंसा में 'ध्यानयोगपरक सहयोग' होता है, क्योंकि यहाँ 'अन्तिम तैयार की हुई' कलाकृति का आनन्द लिया जाता है। रचना में 'सक्रिय सहयोग' होता है, क्योंकि यहाँ 'तैयार होती जाती' कलाकृति का आनन्द लिया जा सकता है। रचना में अनुभव की गतिशीलता (अपूर्णता की वजह से) असंतुलित होती है, भविष्योन्मुखी होती है। आशंसा में अनुभव की गतिशीलता (पूर्णता की वजह से) शांत-संतुलित होती है, वर्तमान होती है। अतः आशंसा 'घिरा हुआ' अनु-

भव और निष्क्रियता है; रचना एक 'खुला हुआ' अनुभव और सक्रियता है।

आशंसक की सापेक्षता

एक आशंसक की सापेक्षता तो होती ही है—कलाकार, कलाकृति, ऐतिहासिक युग, सामूहिक संगठन, वैयक्तिक भिन्नता के संदर्भ में। यह हम स्वीकार भी कर चुके हैं। फिर भी मूल प्रवृत्तिमूलक संस्कारों की चिरंतनता इस समस्या पर पुनर्विचार करने को उकसाती है।

क्या आशंसक या सहृदय की 'मनोवृत्तियाँ' बदल सकती हैं? उत्तर है : हाँ। किस प्रकार? वातावरण तथा अन्य तत्त्वों के विनियोग द्वारा। ये 'अन्य तत्त्व' द्वंद्वन्याय के अनुसार समझे जा सकते हैं।

चूँकि चीज़ों के प्रधर्म (प्रापर्टीज़ ऑफ़ थिंग्स) उन प्रक्रियाओं के परिणाम हैं जिनके द्वारा वे वस्तुएँ बनी हैं, अतएव वस्तुओं, धर्मों की विवेचना करते समय उस सारी पृष्ठभूमि की भी जाँच-पड़ताल करनी पड़ेगी जो उनकी (वस्तुओं की) आधारशिला है। जैसे ही पृष्ठभूमि बदलेगी, वैसे ही वस्तु के धर्म बदल जायेंगे। इसलिए परिस्थितियों के एक समूह में कोई वस्तु या वस्तुओं का समूह हो सकता है, तो किसी दूसरे समूह में नहीं। उसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में लोग पुरानी व्यवस्था की परिस्थितियों में उत्पन्न आदतों व व्यवहारों को खोने लगते हैं। वस्तु के भौतिक वातावरण की भाँति इनसान का 'सामाजिक वातावरण' भी भिन्न हो जाता है; और क्योंकि वातावरण ही लोगों के चरित्र तथा व्यवहारों का अन्ततोगत्वा निर्णायक है, इसलिए इसके परिवर्तन से वे भी बदल जायेंगे। 'वंशानुक्रम' तो द्वितीयक महत्त्व का है। सहृदय मूलत: जन्मजात नहीं होते, बल्कि अभ्यास, अनुशीलन आदि से क्रमश: पूर्ण होते हैं। इसीलिए अगली नयी समाजव्यवस्था में—हम उसे समाजवाद मानते हैं—लोग पूँजीवाद की परिस्थितियों में उत्पन्न आदतों को खोने लगेंगे और एक 'नया मानव' जाग उठेगा। प्राचीन चतुर्वर्गीय विवेक तथा नाना निगमपुराणशास्त्रस्मृति के ज्ञान के स्थान पर जब हम नयी सामाजिक चेतना पायेंगे तो शिक्षा और कला और विद्या के धारणात्मक मूल्य भी बदलेंगे, एवं उन मूल्यों को कार्य रूपाकृति (एक्शन पैटर्न) में फ़िट होना पड़ेगा। फलत: आशंसक की मनोवृत्तियाँ भी बदलेंगी।

आशंसक या सहृदय के भावन स्तर की आदर्श दशा वह हो सकती है जबकि आशंसा और मूल्यांकन एकजुट हो जायें, अर्थात लोकबहुमत और विशेषज्ञमन के बीच सादृश्य से भी आगे बढ़कर तादात्म्य क़ायम हो जाये, अर्थात दोनों एक समीकरण से जुड़ जायें। किन्तु यह एक निरपेक्ष स्थिति है, क्योंकि हमेशा से एक काल में लोकमत तथा 'भाषा' (अभिव्यंजना) में भी अन्तर्विरोध रहता है। एक लिखित अर्थात कृत्रिम भाषा होती है, दूसरी अलिखित तथा सहज; एक विशाल व त

पारित जनमत होता है, दूसरा उच्चवर्गीय संस्कारपूजक अल्पमत। लिखित भाषा तथा अल्पमत केवल कौशल और आभिजात्य संस्कारों से सँजते-मँजते क्लासिकल और रूढ़ हो जाते हैं, जबकि जनभाषा तथा जनमत आगे-आगे नूतन अभिव्यंजना और नूतन अभिरुचि-बोध को विकसित करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। एक पीछे की ओर गमन करता है तो दूसरा आगे की ओर। जब यह 'दूरी' बढ़ जाती है तब जनमत और लोकभाषा भी क्रमशः अल्पमत एवं लिखित हो जाते हैं, अर्थात अपने क्रम में वे भी रूढ़ और क्लासिकल हो जाते हैं। अंततोगत्वा परिवर्तन का यह द्वंद्वन्यास चलता रहता है। इसी के फलस्वरूप संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बोलियाँ आदि द्वंद्वात्मक विकास के द्वारा आगे बढ़ी हैं। अतएव हमारे सामने व्यापक जनमत तथा अलिखित जनभाषा और अभिव्यंजना की विरासतों एवं सौंदर्यात्मक मूल्यों को सुरक्षित रखने की सामाजिक और भाषावैज्ञानिक समस्याएँ हैं। यह द्वंद्व भी सहृदय के वर्गीय स्तरों को स्पष्ट करता है।

फिर सहृदयों में भी केवल काव्य या संगीतकला के एकांत रसग्राहक ही नहीं होते। जैसे-जैसे विज्ञान तथा तकनालाजी बढ़ती है, वैसे-वैसे उनके उद्यम और उद्योग भी विकसित होते हैं। अतः उनकी सौंदर्यबोधात्मक संवेदना नये क्षेत्रों—क्रमशः नये क्षेत्रों—का अवगाहन करती है। पूर्ववर्णित 'ललिताविस्तर', 'शुक्रनीतिसार', 'कामसूत्र' तथा आधुनिक कलाओं की सूचियाँ इसी की द्योतक हैं। अतएव समाज में केवल अवकाश-भोगी सहृदयवृन्द ही नहीं, व्यावहारिक पुरुष, ज्योतिर्विद, इंजीनियर, डॉक्टर, अर्थशास्त्री, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक आदि भी होते हैं; और इनमें भी सहृदयत्व होता है। अतः किसी भी सच्चे अनुभव में सौंदर्यशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तकनालाजी आदि का समावेश हो जाता है। परिणामस्वरूप नये-नये वैज्ञानिक विकास हमारे अनुभवों के क्षितिजों का विस्तार करते हैं। अपोलो यान द्वारा चन्द्रमा तक प्रकृतिविजय एवं कंप्यूटर के जमाखाते वाले मानवसंवेग के बीच अन्तर्द्वंद्व (कंट्राडिक्शन) उत्पन्न होते हैं, जिनका समाधान कला-सृजन, आशंसा में भी होता है। ज्यों-ज्यों व्यावहारिक मानवीय क्रियाव्यापार अग्रसारित होता है त्यों-त्यों मानव का ज्ञानक्षेत्र भी। सिद्धान्त और व्यवहार की सापेक्ष असंतुलित किन्तु अटूट एकता द्वंद्वक्रम से बढ़ती जाती है। ज्ञानानुक्रम क्रियापरिवर्तन तथा क्रियानुरूप ज्ञानपरिवर्तन थोड़ा-बहुत मूल मनोवृत्तियों को भी संशोधित तथा जटिल करता है। अतः आशंसक का व्यक्तित्व भी बदला-बदला नज़र आता है।

सारांश में, आज का आशंसक या सहृदय, मूल संस्कारों तथा वातावरण दोनों की दृष्टि से, भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक कल्पित सहृदय से कई दिशाओं में भिन्न होगा, और है। आज के औद्योगिक युग के आशंसक (तथा कलाकार भी) अक्सर कला की ओर 'जातीय अवचेतन' के हेतु या ऐंद्रजालिक सामूहिक संवेग से

सम्पर्क के लिए उन्मुख नहीं होते, न ही मात्र अपनी मानसिक समस्याओं एवं तनावों को ढीला करने के लिए अभिमुख होते हैं, वल्कि वे 'यथार्थ' को समझने अथवा शायद उससे पलायन करने के लिए ऐसा करते हैं। किन्तु यदि दोनों ही अपनी-अपनी नितांत वैयक्तिक फैंटेसियों की 'आदर्श' दुनिया में पलायन करते जायें तो 'दूरी' बढ़ती जायेगी। और, यह व्यक्तिवादी दूरी बढ़ रही है। इस वजह से भी कलाकार और आशंसकों के वीच पुनः गहरी खाई पड़ गयी है।

—'**अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा**' से साभार

काव्य-भाषा और बिम्ब

नन्दकिशोर नवल

ध्वनियों का जब अर्थ से संयोग होता है तब शब्दों का निर्माण होता है। शब्दों के मिलने से वाक्य बनते हैं और वाक्यों से भाषा। भाषा का सम्बन्ध जब इंद्रिय-बोध से होता है तब उसमें बिंबात्मकता आती है। "हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी, आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी"—ये ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनमें कोई स्पष्ट बिम्ब नहीं है। इसके विपरीत "चारु चंद्र अवनि की चंचल किरणें / खेल रही हैं जल-थल में, / स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है / अवनि में और अम्बरतल में"—इन पंक्तियों में एक स्पष्ट बिम्ब है। तात्पर्य यह कि पहले उदाहरण में कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उसे ग्रहण करने के लिए इन्द्रिय-विशेष अर्थात नेत्र का सहारा लेना आवश्यक नहीं है, जबकि दूसरे उदाहरण में उसने जो कुछ कहा है उसे तब तक ग्रहण नहीं किया जा सकता, जब तक कि नेत्र का सहारा न लिया जाये। यही भाषा का इंद्रिय-बोध से सम्बद्ध होना है। इसके फलस्वरूप ही भाषा में बिम्बों की सृष्टि होती है। इस प्रकार बिम्ब भाषा का ही अंग है और इसलिए भाषा के अन्तर्गत ही विचारणीय है।

हिन्दी में सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह कहा कि "काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, विम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है।" अपनी इस बात को उन्होंने "समय बीता जाता है" और "समय भागा जाता है"—इन दो वाक्यों से समझाने की कोशिश की। उनके अनुसार पहले वाक्य से जहाँ मात्र अर्थ ग्रहण होता है, वहाँ दूसरे वाक्य से विम्ब-ग्रहण होता है, क्योंकि उससे आँखों के सामने एक भागते हुए आदमी का चित्र आ जाता है। इससे हम समय के व्यतीत होने की घटना को मूर्त रूप में देखते हैं। शुक्लजी ने कविता या कविता की भाषा के बिंबात्मक होने पर केवल इस कारण जोर नहीं दिया है कि इससे वह अधिक प्रभावशाली हो जाती है। वस्तुत: कविता के सम्बन्ध में उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि "उसमें गोचर रूपों का विधान अधिक होता है" और "अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है।" कविता में

गोचरता अथवा इंद्रिय-बोध का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि वह इस भौतिक जगत से ही सम्बद्ध होती है, किसी आध्यात्मिक जगत से नहीं। उन्होंने कहा है : "संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।" ऐसी स्थिति में रूप से भाव का सम्बन्ध-विच्छेद सम्भव नहीं है। भाव स्पष्ट और प्रभावशाली ढंग से ग्रहण किये जा सकें, इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें रूपात्मक बनाकर प्रस्तुत किया जाये। 'रूपात्मक' से केवल दृश्य होने का भ्रम हो सकता है, लेकिन यहाँ इस शब्द का अर्थ गोचर अथवा ऐंद्रिय है, जिसकी सीमा में श्रव्य, घ्रातव्य, स्पृश्य और आस्वाद्य—ये सभी वस्तुएँ आ जाती हैं।

यह ठीक है कि कविता का अनिवार्य सम्बन्ध इस भौतिक जगत से है, लेकिन यह सम्बन्ध सरल न होकर अत्यन्त जटिल सम्बन्ध है। भौतिक जगत कवि के भीतर ऐंद्रिय संवेदनाएँ जगाता है। इन संवेदनाओं के आधार पर नाना प्रकार की भावनाएँ और विचार निर्मित होते हैं। इनमें परस्पर मिश्रण भी होता रहता है। ऐसी स्थिति में यह एकदम स्वाभाविक है कि कवि के लिए सामाजिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली सामान्य भाषा अपर्याप्त प्रमाणित हो और वह आत्माभिव्यक्ति के लिए एक उच्चतर भाषा का अन्वेषण करे। इसी प्रयत्न में वह बिम्बात्मक भाषा की सृष्टि करता है और उसके द्वारा अपनी वक्तव्य वस्तु को दूसरों के लिए ग्राह्य बनाता है। कविता की भाषा और दर्शन तथा विज्ञान की भाषा में मुख्य अंतर बिम्ब को लेकर ही है। दर्शन तथा विज्ञान की भाषा धारणाओं से निर्मित होती है, जबकि कविता की भाषा बिम्बों से। धारणाओं का आधार भी मूलतः इंद्रिय-बोध ही होता है, लेकिन स्पष्टतः उनमें बिम्बों-जैसी ऐंद्रियता नहीं होती। इसी कारण धारणाएँ अस्पष्ट और खंडित होती हैं, जबकि बिम्ब स्पष्ट और पूर्ण होते हैं। बिम्बों के माध्यम से कविता यथार्थ से जुड़ती है। यथार्थ कवि को संवेदित करता है और उसके प्रभाव से निर्मित बिम्ब पाठक को। इस प्रकार बिंब कविता का निर्धारक तत्त्व है।

पिछले दिनों यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि कला मात्र अमूर्त होती है और उसका इंद्रिय-बोध से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसी के परिणाम-स्वरूप चित्रकला में ही नहीं, कविता में भी अमूर्तता की चर्चा की गयी है। हिन्दी में डॉ० नामवर सिंह के विचारों में कुछ लोगों को बिम्ब-विरोधी यूरोपीय चिन्तन की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ी है। नामवरजी का कथन है, "काव्य-भाषा के लिए भी प्रायः बिम्ब-योजना हानिकारक सिद्ध हुई है। बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अकसर दूर हटी है, बोलचाल की सहज लय खंडित हुई है, वाक्य-विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अन्तर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य-कथ्य की ताक़त कम हुई है।

इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित 'सपाट बयानी' अपनायी जा रही है, जिसमें फ़िलहाल काफ़ी सम्भावनाएँ दिखायी पड़ती हैं।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ बिम्ब के विरोध में जितनी बातें कही गयी हैं, उनमें से कोई भी बात कविता में बिम्ब के सही प्रयोग पर लागू नहीं होती। बिम्ब का बोलचाल की भाषा और उसकी लय, गद्यात्मक वाक्य-विन्यास, क्रियापद के प्रयोग, विशेषणों की सटीकता और कविता के कथ्य की सबलता से कोई विरोध नहीं है। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि यह वस्तुतः बिम्ब का नहीं, उस बिम्बवादी रुझान का विरोध है जो नयी कविता में जोर पकड़ता जा रहा था। इसका प्रमाण यह है कि नामवरजी ने जिस 'सपाट बयानी' की चर्चा की है, वह वस्तुतः बिम्ब से रहित नहीं है, क्योंकि उन्होंने इस बात की आशंका प्रकट की है कि कहीं "तथाकथित 'सपाट बयानी' में रचे-पचे रोजमर्रा की ज़िन्दगी से लिये गये जाने-माने बिम्ब" अनदेखे न चले जायें। इसी कारण उन्होंने सपाट बयानी के द्वारा "परिस्थितियों के सीधे साक्षात्कार" की बात कही है, वर्ना कोरी सपाट बयानी के द्वारा यथार्थ पर चिन्तन प्रस्तुत किया जा सकता है, उसका 'साक्षात्कार' नहीं किया जा सकता। यथार्थ के साक्षात्कार के लिए इन्द्रिय-बोध आवश्यक है। कविता को बिम्ब से अलग करने के प्रस्ताव को वस्तुतः सामान्य दार्शनिक समस्याओं से अलग करके नहीं देखना चाहिए। भाववादी दार्शनिक ज्ञान का आधार इस भौतिक जगत को नहीं मानते। उन्हीं का अनुगमन करने वाले साहित्यिक विचारक कविता को भी भौतिक जगत से पृथक एक अतीन्द्रिय अनुभूति की वस्तु बतलाते हैं। इस मान्यता की स्वाभाविक परिणति इस धारणा में हुई है कि कविता एक अमूर्त्त कला है और मूर्ति-विधान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

बिम्ब को प्रायः काव्य-बिम्ब का पर्याय समझा जाता है। वास्तविकता यह है कि सभी बिम्ब काव्य-बिम्ब नहीं होते। काव्य-बिम्ब के धरातल तक पहुँचने के लिए बिम्ब को कुछ विशेषताओं से युक्त होना होता है। 'सामने सूखा पेड़ खड़ा है' इस वाक्य में बिम्ब है, लेकिन यह बिम्ब काव्य-बिम्ब का उदाहरण नहीं है। कारण यह कि काव्य-बिम्ब वस्तु की प्रतिकृति मात्र नहीं होता। वह वस्तुनिष्ठ जगत का आत्मनिष्ठ अंकन होता है। आत्मनिष्ठ अंकन का अर्थ है वस्तु का सापेक्ष रूप में प्रस्तुत किया जाना। वस्तु जब कवि के भाव और विचार से युक्त हो जाती है, तब वह निरपेक्ष न रहकर सापेक्ष हो जाती है। बिम्ब की समस्या 'परावर्तन के सिद्धान्त' के द्वारा ही हल की जा सकती है। परावर्तन की प्रक्रिया एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है जिसका अर्थ यह है कि मनुष्य की चेतना निष्क्रिय दर्पण की तरह वस्तु को प्रतिबिम्बित नहीं करती, बल्कि वह वस्तु को प्रभावित और परावर्तित भी करती है। इसी क्रम में वस्तु कवि के भाव और विचार से युक्त होकर काव्य-बिम्ब का रूप ग्रहण कर लेती है। भाव और विचार मानसिक वस्तुएँ

हैं, इसलिए वे मूर्त्त न होकर अमूर्त होते हैं, वावजूद इसके कि इनका आधार भी इन्द्रिय-बोध अथवा यह भौतिक जगत ही होता है। भाव और विचार से युक्त होने के कारण काव्य-विम्ब एक स्तर पर मूर्त्त होते हुए भी दूसरे स्तर पर अमूर्त्त होते हैं। यह विशेषता काव्य-विम्ब को एक हद तक वास्तविकता की सीमाओं से मुक्त कर देती है। 'राम की शक्तिपूजा' में निराला द्वारा निर्मित एक विम्ब है :

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अंबुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यानमग्न; केवल जलती मशाल।

यह विम्ब निश्चय ही वस्तु की प्रतिकृति-मात्र न होकर एक काव्य-विम्ब है, क्योंकि इसमें निहित ऐन्द्रिय संवेदना कवि के भाव और विचार से युक्त है। कवि ने इस विम्ब के द्वारा केवल कथा की पृष्ठभूमि का निर्माण नहीं किया है, वल्कि इसके द्वारा राम और राम की सेना के भीतर व्याप्त निराशा और पराजय की आशंका को भी व्यक्त किया है। अमावस्या की रात्रि, दिशा-ज्ञान को समाप्त कर देनेवाला अत्यन्त सघन अन्धकार, अवरुद्ध वायु, निरन्तर गर्जन करता हुआ विस्तृत सागर और निश्चल पर्वत—ये बिम्ब सम्मिलित रूप से उक्त भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ 'केवल जलती मशाल' के द्वारा कवि ने उस चेतन की ओर संकेत किया है जिसे अभी तक निराश और पराजय की आशंका आच्छादित नहीं कर सकी है। यह चेतन-तत्त्व हनुमान के भीतर भी हो सकता है, क्योंकि "गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध" के साथ-साथ कवि ने यह भी लिखा है कि "रावण-महिमा श्याम विभावरी / यह रुद्र राम-पूजन-प्रताप तेज: प्रसार" और राम के भीतर भी, क्योंकि निराशा और पराजय की आशंका से ग्रस्त होते हुए भी राम निश्चेतन नहीं हुए हैं। कवि ने उनके बारे में कहा है : "हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त", "फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आई भर" और "वह एक और मन रहा राम का जो न थका" तथा "जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय।" सामान्य विम्ब, जो कि इन्द्रिय-बोध के धरातल पर ही निर्मित और स्थित होने हैं, रूप-मात्र होते हैं। उनमें सार-तत्त्व का अभाव होता है। इसके अलावा वे खंडित और अपूर्ण होते हैं। सामान्य विम्व के विपरीत काव्य-बिम्ब रूप के साथ-साथ सारतत्त्व से भी युक्त होते हैं और वे खंडित न होकर पूर्ण होते हैं। स्पष्टत: इसका कारण यह है कि वे भाव और विचार के धरातल पर पुनर्निमित होते हैं। आई०ए० रिचर्ड्स ने इसी प्रसंग में लिखा है : "बिम्बों के ऐन्द्रिय गुणों को हमेशा जरूरत से ज़्यादा महत्त्व दिया गया है। जो चीज बिम्ब को प्रभावोत्पादक बनाती है, विम्ब के रूप में उसकी सजीवता उतनी नहीं है जितना विलक्षण ढंग से ऐन्द्रिय संवेदना से युक्त उसका मानसिक घटना होना है।" काव्य-विम्ब की अन्य

विशेषता कल्पना से युक्त होते हुए भी उसका यथार्थ से अविच्छिन्न होना और विशिष्ट होते हुए भी सामान्य होना है।

ऊपर इन्द्रिय-बोध के आधार पर बिम्ब के प्रकारों का संकेत किया गया है, यथा—दृश्य, श्रव्य, घ्रातव्य, स्पृश्य और आस्वाद्य बिम्ब। कविता में दृश्य और श्रव्य बिम्ब अधिक मिलते हैं, घ्रातव्य, स्पृश्य और आस्वाद्य बिम्ब अपेक्षाकृत कम। दृश्य बिम्ब का सुन्दर उदाहरण पन्त जी की यह पंक्ति है—"लो, चित्रशलभ-सी, पंख खोल/उड़ने को है कुसुमित घाटी।" श्रव्य बिम्ब निराला की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—"कण-कण कर कंकन, प्रिय किण-किण रव किंकिणी,/रणन-रणन नूपुर, उर लाज/लौट रंकिनी।" घ्रातव्य बिम्ब का उदाहरण भी निराला की कविता से ही दृष्टव्य है—"खोलीं आँखें आतुरता से, देखा अमन्द/प्रेयसी के अलक से आती ज्यों स्निग्ध गन्ध" ('वन-वेला')। पन्त जी की पंक्ति "साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर,/शशि की रेशमी विभा से भर,/सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर" मे 'रेशमी विभा' और 'मृदुल लहर' इन दोनों प्रयोगों में हमें स्पृश्य बिम्ब मिलते हैं। इसी तरह निराला की ही पंक्ति "मधु-ऋतु-रात, मधुर अधरों की पी मधु, सुध-बुध खो ली" में प्रयुक्त 'मधुर अधर' ही नहीं, 'मधु-ऋतु-रात' में भी आस्वाद्य बिम्ब है। कविता में बिम्ब सरल अथवा एकल रूप में भी प्रयुक्त होते हैं और संश्लिष्ट रूप में भी। निराला की कविता 'संध्या-सुन्दरी' में संध्या का यह बिम्ब एक सरल बिम्ब है—"दिवसावसान का समय/मेघमय आसमान से उतर रही है/वह संध्या-सुन्दरी परी-सी/धीरे-धीरे", लेकिन पन्त जी की कविता 'एक तारा' का यह बिम्ब एक संश्लिष्ट बिम्ब है :

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त !
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
ज्यों वीणा का तारों में स्वर !
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलिहीन,
धूसर भुजंग-सा जिस्म, क्षीण !

काव्य-बिम्ब की एक विशेषता यह है कि कभी-कभी इसमें कई बिम्बों का मिश्रण हो जाता है। उदाहरण के लिए, पन्त जी की कविता 'अल्मोड़े का वसन्त' में "शीतल हरीतिमा की ज्वाला" में स्पृश्य (शीतल और ज्वाला) और दृश्य (हरीतिमा और ज्वाला) बिम्बों के मिश्रण को देखा जा सकता है। कविता में न केवल बिम्ब मिश्रित हो जाते हैं, बल्कि एक प्रकार के बिम्ब दूसरे प्रकार के बिम्ब में रूपान्तरित भी हो जाते हैं। पन्तजी ने ही लिखा है—"दूर उन खेतों के उस पार/जहाँ तक गयी नील झंकार।" इस पंक्ति में क्षितिज की नीलिमा का दृश्य बिम्ब 'झंकार' के श्रव्य बिम्ब में बदल गया है।

कविता में बिम्ब का प्रयोग प्रस्तुत रूप में तो होता ही है, अप्रस्तुत रूप में भी होता है। प्रस्तुत बिम्ब का उदाहरण है—"दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल/फला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल" और अप्रस्तुत बिम्ब का उदाहरण है—"उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशांधकार, चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हो कहीं पार।" अंग्रेज़ी में 'मेटाफ़र' के रूप में बिम्ब के प्रयोग पर बहुत बल दिया गया है। यह 'मेटाफ़र' रूपक का ही नहीं, अन्योक्ति का भी बोधक है। रॉबिन स्केल्टन ने 'मेटाफ़र' को औषम्यमूलक भी माना है और अन्योक्तिमूलक भी। अन्योक्ति के रूप में जब बिम्ब का प्रयोग किया जाता है तब बिम्ब प्रस्तुत न होकर अप्रस्तुत होता है और उससे प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना होती है। निश्चय ही कविता में बिम्ब का यह उच्चतर प्रयोग है। पन्तजी ने 'झंझा में नीम' शीर्षक अपनी कविता में बिम्ब का अन्योक्ति के रूप में ही प्रयोग किया है। इस कविता में "भीम नीम तरु" अप्रस्तुत-मात्र रह जाता है और उससे एक पुरुषार्थी व्यक्ति के प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना होती है। जब एक ही अर्थ में अन्योक्ति के रूप में बिम्ब की बार-बार आवृत्ति होने लगती है तब वह बिम्ब उस अर्थ में निश्चित होने लगता है। विशिष्ट अर्थ में निश्चित ऐसा बिम्ब 'प्रतीक' कहलाता है। मिट्टी का घड़ा रूढ़ि से नश्वर शरीर के अर्थ में निश्चित हो चुका है, इसलिए बच्चन की इन पंक्तियों में बिम्ब नहीं, बल्कि प्रतीक है—"मृदु मिट्टी के बने हुए,/मधुघट फूटा ही करते हैं।" इस प्रतीक की त्रुटि यह है कि इसमें प्रतीक बिम्ब सृजनात्मक ढंग से विकसित नहीं हुआ है। मिट्टी के घड़े का प्रतीकत्व उसमें कवि द्वारा लाया नहीं गया है बल्कि वह उसमें रूढ़ि से आया है। श्रेष्ठ कवि अपने बिम्बों से सृजनात्मक ढंग से प्रतीकों का विकास करता है। यह काव्य-भाषा की चरम प्रौढ़ता का प्रमाण है। कवि की कविता में जो वस्तुएँ उसके रचना-काल के आरम्भ में बिम्ब के रूप में आती हैं, वे उसके रचना-काल के परिपक्वतावाले दौर में प्रतीक में बदल जाती हैं।

आधुनिकतावाद के असर में लिखी गयी कविता में बिम्ब पूरी तरह से विघटित हो गये हैं। इसका कारण यही है कि कवियों ने बिम्ब-मात्र को यथार्थ के सीधे साक्षात्कार में बाधक माना। आज जो कविताएँ लिखी जा रही हैं, उनमें प्रायः बिम्ब नहीं, बल्कि धारणाएँ देखने को मिलती हैं। धारणाओं का भी वस्तु-जगत से लगाव होता है, लेकिन वह लगाव बिम्बों की तरह ऐन्द्रिय और भावात्मक नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि आज की कविता का एक बड़ा अंश ऐन्द्रिय और भावात्मक स्तर पर वस्तु-जगत से विच्छिन्न होता जा रहा है। कविता में धारणाएँ निषिद्ध नहीं होतीं। वे कविता में हमेशा ऐन्द्रियता और भावात्मकता से युक्त होकर ही आती हैं। कविता के सौंदर्यात्मक प्रभाव का यही कारण है।

बिम्बों के विघटन का कारण आधुनिक विश्व की उलझन और जटिलता के प्रति कवियों की सीधी और स्वचालित प्रतिक्रिया है। यह नितान्त नकारात्मक

व्यक्तित्व का लक्षण है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक सी० डे० लीविस ने इस प्रसंग में लिखा है कि यह गड़बड़ी कवियों को वहाँ ले जाती है जहाँ वे न केवल खंडित बिम्बों का निर्माण करते हैं और उन्हीं को घर बतलाते हैं, बल्कि यह दावा भी करते हैं कि यही आधुनिक स्थापत्य-कला है और अब हम इन्हीं को सही अर्थों में घर कह सकते हैं। लेकिन खूबसूरत मलबे का निर्माण करना मूर्खता है। लगातार जटिल होती हुई सभ्यता के लिए कविता में जटिल बिम्बों का निर्माण न्यायसंगत है; जो युग नया चिन्तन और नया इन्द्रिय-बोध प्रदान करेगा वह साहसपूर्ण नये बिम्बों के निर्माण की चुनौती देगा। लेकिन लीविस के अनुसार इससे यह निष्कर्ष निकालना ग़लत है कि विघटित सभ्यता का उत्तर विघटित कविता है। कविता के क्षेत्र में ह्रासोन्मुखता सर्वप्रथम बिम्बों के विघटन में प्रकट होती है। जब वस्तुजगत से कवि का ऐन्द्रिय और भावात्मक लगाव टूटने लगता है, तो बिम्ब भी, जो कि वस्तु-जगत से कवि के लगाव का परिणाम होते हैं, बिखरने लगते हैं।

—'**कविता की मुक्ति**' से साभार

भारतीय काव्यशास्त्र और मार्क्सवाद

खगेन्द्र ठाकुर

भारतीय काव्यशास्त्र की रचना और विकास में कई शताब्दियों का लम्बा समय लगा है। वह न तो किसी एक सामाजिक एवं साहित्यिक दौर की देन है और न वह कोई एकात्मक शास्त्र है। इसमें लौकिकता और अलौकिकता का, काव्य की आत्मा और शरीर का, अलंकार्य और अलंकार का, वस्तु और रीति का संघर्ष चलता रहा है और यह सब संस्कृत भाषा में संस्कृत काव्य के आधार पर हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र का उदय भरत मुनि के साथ हुआ, जो इतिहासकारों के अनुमान के अनुसार ईसा पूर्व दो सौ वर्ष से लेकर ईसवी सन् की दूसरी सदी के बीच कभी हुए होंगे। इनके बाद भारतीय काव्यशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों तथा सभी सम्प्रदायों का विकास प्रायः छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक हो गया था। इसके बाद दो ही प्रमुख आचार्य हुए—कविराज विश्वनाथ (चौदहवीं सदी) और पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं सदी)। भरतमुनि के रस-सिद्धान्त के चार प्रमुख व्याख्याकार भट्ट लोल्लट आठवीं सदी में, शंकुक नवीं सदी में, भट्टनायक नवीं सदी में और अभिनवगुप्त दसवीं-ग्यारहवीं सदी में हुए। रसवादी परम्परा के अन्य प्रमुख आचार्य ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन नवीं सदी में, राजशेखर नवीं सदी के अन्त और दसवीं सदी के आरम्भ में हुए। मम्मट का समय बारहवीं सदी माना जाता है। इसी तरह अलंकारवादी आचार्य भामह छठी सदी में, दण्डी सातवीं सदी में, वामन आठवीं सदी में, रुद्रट नवीं सदी में और कुन्तक ग्यारहवीं सदी में हुए। स्वयं भरतमुनि का समय सामन्तवाद के उदय के पहले पड़ता है। उनके बाद के तमाम आचार्यों—भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक का लगभग एक हज़ार वर्षों का लम्बा काल-खंड, भारतीय सामन्तवाद के उदय, विकास और पतनोन्मुखता का दौर है। भरतमुनि को अपने नाट्यशास्त्र की रचना के लिए जो नाट्यपरम्परा मिली थी, वह मूलतः लोकनाट्य-परम्परा रही होगी, हालाँकि वह इतनी विकसित अवश्य हो गयी थी कि नाट्यकला से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं, जैसे नाट्य-विधा, उसके भेद, मंच-निर्माण, अभिनय, संगीत—इन सबके प्रभाव आदि के

विवेचन आवश्यकता पड़ गयी थी। यों भरतमुनि के पहले का जो साहित्य उपलब्ध है, वह वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत आदि ही है। लेकिन पाणिनि का व्याकरण रचा जा चुका था, जिससे भाषा-साहित्य की समृद्धि का पता चलता है। भरत के बाद के आचार्यों को अश्वघोष, कालिदास, भास, शूद्रक, श्रीहर्ष, विशाखदत्त, भारवि, दण्डी, माघ, भवभूति, बाणभट्ट, विष्णु शर्मा आदि नाटककारों, कवियों और कथाकारों की उत्कृष्ट रचनाएँ उपलब्ध थीं। भारत की मुख्य दार्शनिक प्रणालियों का विकास भरतमुनि तक हो गया था, यों कौटिल्य ने केवल सांख्य, योग और लोकायत का ज़िक्र किया है। ध्यान देने की बात है कि भरतमुनि ने अपने रस-सिद्धान्त-विवेचन में किसी दार्शनिक प्रणाली से कोई मदद नहीं ली। उनके द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त के अनुसार 'रसानुभूति' एक लौकिक एवं भौतिक क्रिया है। वे कहते हैं कि "आस्वाद आना ही रस है।" इस परिपाक और आस्वाद को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने भौतिक एवं लौकिक वस्तुओं के उपभोग का उदाहरण दिया है। उनका कहना है, "जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से छः रस बनते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव नाना भावों से युक्त होकर रस बनते हैं।" यहाँ 'युक्त होना' और 'बनना' का खास महत्त्व है। ये क्रियाएँ मनुष्य के द्वारा ही सम्पादित की जाती हैं। इसी तरह रस के आस्वाद के बारे में भरत कहते हैं कि "रस का आस्वाद कैसे आता है? जैसे सहृदय लोग भाँति-भाँति के व्यंजनों से पके हुए अन्न को खाते हुए रसों का आस्वाद प्राप्त करते हैं और प्रसन्न भी होते हैं, वैसे ही दर्शक लोग नाना भावों के अभिनय (नाट्य) से व्यंजित तथा वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त करते हैं।" ज़ाहिर है कि भरतमुनि रस-प्रक्रिया को समझाने के लिए किसी अलौकिक या अगोचर सत्ता का सहारा नहीं लेते; बल्कि गुड़, अन्न, व्यंजन आदि जीवन जीने के साधनस्वरूप द्रव्यों का सहारा लेते हैं। उनके लिए नाट्य से प्राप्त रस भोजन से प्राप्त रस-जैसा है, वह ब्रह्मानन्द सहोदर या ब्रह्मास्वादस्वरूप या चिदानन्दस्वरूप नहीं है, जैसा बाद के आचार्यों ने बताया। भरतमुनि को रस-चिन्तन की ऐसी ही लौकिक एवं भौतिक परम्परा उत्तराधिकार में मिली थी। उन्होंने खुद कहा है, "इस सम्बन्ध में परम्परा से आये हुए दो श्लोक हैं—जैसे बहुत द्रव्यों और व्यंजनों से मिले अन्न को खाते हुए लोग उसका आस्वाद लेते हैं, वैसे ही पंडितगण भावों के अभिनय से मिले हुए स्थायी भावों का मन से आस्वाद लेते हैं, इसलिए ये नाट्य-रस कहलाते हैं।" (नाट्यशास्त्र, 6/32-33)

भरतमुनि के सिद्धान्त की लौकिकता का पता इस बात से और भी लगता है कि उन्होंने रसों का रंग भी बताया है: "शृंगार श्याम, हास्य श्वेत, करुण कबूतर के रंगवाला और रौद्र लाल होता है। वीर गोरा और भयानक काला होता है। बीभत्स नीला और अद्भुत पीले रंग का माना गया है।" (42-43) 'माना गया'

का अर्थ है कि यह लोक-परम्परा से स्वीकृत है। रसों का रंग-निर्धारण इन्द्रिय-बोध के द्वारा प्राप्त विभिन्न प्रकार के लौकिक अनुभवों के आधार पर किया गया है। इसमें मनुष्य की संवेदनशीलता को भी स्वीकृति मिल गयी है। नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति के बारे में जो कथा दी गयी है, वह सच हो या न हो, उससे यह तो पता चल ही जाता है कि भरतमुनि ने स्वीकार किया कि वेद भी सामाजिक जीवन में जो भूमिका नहीं अदा कर सके वह नाटक, यानी साहित्य ने अदा की।

भरतमुनि के लौकिक एवं भौतिक आधार का कारण उस समय की सामाजिक रचना में निहित है। वास्तव में वह समय वैदिक समाज के टूटने और वैदिक मान्यताओं का प्रभाव घटने का समय था। कबीलाई समाज टूट चुका था, फिर भी सामाजिक संरचना संक्रमण के दौर में थी। बौद्ध, जैन आदि धर्मों के तहत और आजीवक पन्थ के माध्यम से वैदिक कर्मकांड एवं ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ जो आन्दोलन चले थे, उनका प्रभाव मौजूद था, ईश्वर स्थापित नहीं हुआ था, राज-तंत्र कहीं ब्राह्मणों, कहीं क्षत्रियों और कहीं शूद्रों के हाथों में भी था। इस तरह समाज में प्रमुखता के लिए संघर्ष चल रहा था। इस परिस्थिति में रस-सिद्धान्त की व्याख्या लौकिक के सिवा और किसी आधार पर नहीं हो सकती थी। भरत के समय की संक्रमणशीलता का पता वहाँ भी चलता है, जहाँ वे स्थायी भावों की विशिष्टता और अनुभवों की अनुचरता की व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं, "समान लक्षणवाले, समान हाथवाले, समान ज्ञानवाले पुरुष भी कुल, शील, विद्या, कर्म, शिल्प, चतुरता से युक्त होकर राजा बन जाते है, उन्हीं में थोड़ी बुद्धि-वाले पुरुष उन्हीं के अनुचर बन जाते हैं, वैसे ही विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के उपगत हैं।" जाहिर है कि उस समय तक 'राजा' का उदय हुए बहुत दिन न हुए थे, लोगों की समानता के अनुभवों की स्मृति लोकचेतना में मौजूद थी। समाज में किसी पुरुष के राजा बन जाने का कोई विशेष कारण भरत की दृष्टि में नहीं था, क्योंकि वह कोई विशिष्ट पुरुष नहीं, बल्कि अन्य लोगों की तरह ही था। यदि कोई विशेषता थी तो यही कि वह कुछ अधिक बुद्धिमान, कुछ अधिक चतुर था।

जब मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा होती है या भारतीय काव्यशास्त्र अथवा आज के यथार्थवाद-विरोधी काव्य-सिद्धान्तों की समीक्षा मार्क्सवादी दृष्टि-कोण से करने की बात की जाती है, तो कुछ लोग कहते हैं—साहित्य-सिद्धान्तों में दर्शन-विशेष को घुसाया जा रहा है! लेकिन ध्यान देने की बात है कि काव्यशास्त्र को दर्शन से ही नहीं, अध्यात्म तक से जोड़ने का काम मार्क्सवाद के उदय से दस-बारह सौ वर्ष पहले भारतीय आचार्यों ने किया। भट्ट लोल्लट ने रस-सिद्धान्त की व्याख्या मीमांसा-दर्शन के आधार पर करते हुए आरोपवाद या उत्पत्तिवाद की स्थापना की। शंकुक ने न्यायदर्शन के आधार पर भक्तिवाद का प्रतिपादन

लेकिन यहाँ तक, यानी नवीं सदी तक आते-आते सांख्य ने भी वेद-प्रामाण्य और वेदान्त के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था, इसलिए भट्टनायक ने रसानुभूति को परब्रह्मास्वाद-स्वरूप बताया। यों भारतीय काव्यशास्त्र में लोकोत्तरता या अलौकिकता का समावेश इससे भी पहले भामह (छठी सदी) के ज़रिये हुआ। उन्होंने काव्य की प्रशंसा करते हुए कहा—"अच्छे काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में और कलाओं में चतुरता तथा प्रीति एवं कीर्ति देनेवाली है।" (काव्यालंकार, 1/2) इस प्रकार काव्य को अर्थ और काम के साथ ही धर्म और मोक्ष से भी जोड़ दिया गया। दण्डी ने यद्यपि "इष्ट (अभीप्सित अथवा मनोरम) अर्थ से विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है" (काव्यादर्श, 1/10) कहकर अर्थ को उपयुक्त महत्त्व दिया है, फिर भी काव्य-हेतु के बारे में उन्होंने जो घोषणा की है, उसमें 'लोकोत्तरता' को पूरी तरह मान्यता मिल गयी है। वे कहते हैं, "(पूर्व जन्म के संस्कारों से सम्पन्न, ईश्वर-प्रदत्त) स्वाभाविक प्रतिभा (प्रज्ञा) विविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रों का ज्ञान तथा अत्यन्त उत्साहपूर्ण दृढ़ अभ्यास—ये सब एकत्र होकर कवित्व-सम्पदा के कारण बनते हैं।" (काव्यादर्श, 1/103) कवियों के लिए 'प्रज्ञा' और 'शास्त्रज्ञान' को महत्त्व देना सामान्यतः अच्छी बात है, लेकिन दण्डी के समय की दृष्टि से देखें तो इससे जो दो बातें निकलती हैं उनसे काव्य का क्षेत्र सीमित हो गया। पहली बात तो यह कि 'प्रज्ञा' या स्वाभाविक प्रतिभा को पूर्वजन्म के संस्कार का एक परिणाम तथा ईश्वर-प्रदत्त मान लिया गया। इसका मतलब यह कि प्रतिभा के निर्माण में लौकिक अनुभव की भूमिका नहीं है। दूसरी बात यह कि 'शास्त्रज्ञान' प्राप्त करने का अधिकार उस समय समाज के निम्नवर्गीय लोगों को, समाज के उत्पादक समूह को नहीं था, इसमे भी काव्य को सीमित समुदाय की वस्तु बना दिया गया। श्रमजीवी समुदाय और शिल्पियों से काव्य को अलग करने की कोशिश की गयी। भारतीय काव्यशास्त्र के विकास-क्रम में काव्य की आत्मा और शरीर की प्रमुखता को लेकर तीव्र संघर्ष हुआ है, लेकिन इस लोकोत्तर सत्ता का प्रभुत्व सब पर उसी तरह छा गया, जिस तरह भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं पर धीरे-धीरे 'वेद-प्रामाण्य' का सिद्धान्त हावी हो गया; फलतः न केवल सांख्य, न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा आदि, बल्कि बौद्ध दर्शन भी अपने मूल उद्देश्य से विचलित हो गया। देखने की बात है कि अभिनवगुप्त-जैसे रसवादी और ध्वनिवादी आचार्य भी मोक्ष के योग्य चित्तवृत्ति की रसावस्था प्राप्त करा सकने की बात पर ज़ोर देते हैं। इस तरह पूरी तरह लौकिक आधार पर प्रतिष्ठित भरतमुनि का रस-सिद्धान्त लोकोत्तर सत्ता से जुड़ गया और जितना ज़्यादा उससे जुड़ता गया, उतना ही जीवन और समाज की धारा से कटता चला गया।

यह विचारणीय है कि भारतीय काव्यशास्त्र लौकिक धरातल से उठकर अलौ-

किक एवं अगोचर के नज़दीक कैसे चला गया ? इस विकास-यात्रा तथा उसके विभिन्न मोड़ों के कारण और स्वरूप को समझने में मार्क्सवादी अध्ययन-पद्धति हमारी मदद करती है; क्योंकि यही पद्धति हमें बताती है कि हमारा सामाजिक अस्तित्व ही हमारी चेतना का निर्धारण करता है। फिर चेतना भी अपनी स्वतंत्र भूमिका समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अदा करती है। अत: यह देखना चाहिए कि जिस अलौकिक चेतना ने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास को बुरी तरह प्रभावित किया, स्वयं उसका विकास किस तरह हुआ ?

इतिहासकार प्राय: मानते हैं कि प्रारम्भिक वैदिक समाज गणों पर आधारित था, जिसमें विषमता नहीं थी। लेकिन उत्तर-वैदिककाल में ही वर्ग-समाज का उदय हो गया, महाकाव्यकाल में उसका और विकास हुआ, राज्य का उद्‌भव हो गया, स्थानान्तरण राज्यसत्ता के निकायों में हो गया और गणपति ही राज्य-संगठन का प्रधान बनकर राजा हो गया। इसी समय भरत हुए थे। भरत मुनि के बाद कुछ समय तक राज्य के लिए विभिन्न वर्णों में संघर्ष होता रहा। उत्तर-वैदिककाल में ही सामाजिक एवं साम्पत्तिक विषमता के आधार पर जिन दासों और शूद्रों का उदय हो गया था उनके बीच निम्नतम दस्तकार विकसित हुए। दस्तकारी और व्यवसाय ने वर्णों के भीतर जातियों का विकास किया और धीरे-धीरे वे आनुवंशिक बन गयीं। राजतंत्र ने वर्ण और जाति-प्रथा को सुदृढ़ कर दिया, वैदिक देवताओं की जगह एक ब्रह्म या ईश्वर की स्थापना करने की कोशिश की गयी, हालाँकि बहुदेववाद भी एक हद तक क़ायम रहा, लेकिन सीमित संख्या में और नये रूप में। वरुण, सोम, मित्र, इन्द्र, प्रजापति आदि ग़ायब हो गये और ब्रह्मा, विष्णु, महेश मान्य हो गये। इस तरह समाज में गणपतियों के स्थान पर राजा और विश्वासों के क्षेत्र में ढेर सारे देवताओं के स्थान पर ब्रह्म या ईश्वर और उसकी विभिन्न शक्तियों के प्रतीक के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश आ गये। आगे चलकर सामन्तवाद ने इन बातों को रूढ़ एवं दृढ़ बना दिया। भिन्न-भिन्न जातियों के बीच के दस्तकारों को, उनकी धारणाओं, भावनाओं, भाषाओं आदि को शासक वर्ग ने कोई मान्यता नहीं दी। शुंग वंश और गुप्त वंश के शासनकाल में वर्ण-व्यवस्था को अधिक कठोरता से लागू किया गया। दस्तकार, शिल्पी तथा निम्नवर्ग के लोगों द्वारा किये गये अन्य कलात्मक कामों को काव्य से अलग रखा गया। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में जिन चौंसठ कलाओं का ज़िक्र किया है, उनमें काव्य नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को कलाओं से अलग रखने का आधार समाज का वर्गीय विभाजन है। यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र के किसी भी सिद्धान्तकार ने आजीवकों, नाचनारों, आलवारों आदि के साहित्य को विचार में लिया ही नहीं। यही परम्परा आगे भी क़ायम रही और पंडितराज जगन्नाथ ने भी चौदहवीं से लेकर सोलहवीं सदी तक विकसित महान भक्तिकाव्य

को अपने काव्यशास्त्रीय विचारों के विकास का आधार नहीं बनाया।

हमारा महान संस्कृत साहित्य मुख्यतः राजाओं एवं अन्य प्रभुताशाली वर्गों को आधार बनाता है। दर्शन के क्षेत्र में उसने शैव, वैष्णव आदि दर्शनों को अथवा मीमांसा, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि को स्वीकार किया, लेकिन भारतीय परम्परा में विकसित भौतिकवाद की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। भारत में जो वैज्ञानिक चिन्तन का विकास हो रहा था, उसे भी नज़रअन्दाज़ किया गया। सामन्तवाद के विकास के दौर में अश्वघोष, कालिदास, श्रीहर्ष आदि ने यद्यपि धर्म-निरपेक्ष साहित्य की रचना की, मनुष्य के सुख-दुख और उसके भावोद्वेगों का, प्रकृति की बहुरंगी छवियों का मनोरम वर्णन किया, तथापि उनके चरित्रनायक आमतौर से राजा या उच्चवर्ग के महापुरुष ही हुए। रुद्रट (नवीं सदी का आरम्भ) ने तो स्पष्टतः नायकों के चरित्र-वर्णन को काव्य का प्रयोजन बताया और राजा ही उसके नायक होते थे। कभी-कभी कविगण नायकों के चुनाव में दुविधाग्रस्त हो जाते थे, क्योंकि राजाओं में संघर्ष होता रहता था और राजा बदल भी जाते थे। रुद्रट ने ऐसे कवियों की दुविधा का समाधान करते हुए कहा कि राजा बदल जाते हैं तो देवता तो हैं, कवि उनको चरित-नायक बनायें। राजशेखर ने स्पष्ट रूप से कहा कि "कवियों के कारण ही राजाओं की प्रसिद्धि हुई और राजाओं का आश्रय मिलने के कारण कविगण प्रसिद्ध हुए। अतः राजाओं के सिवा कवियों का उपकार करने-वाला दूसरा नहीं और कवियों के सिवा राजा का भी दूसरा सहायक नहीं।" धनंजय ने 'दश-रूपक' में नायकत्व के लिए उच्चकुल-सम्भूत होना आवश्यक बताया। कवियों ने राजाओं के व्यक्तित्व का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी किया, वास्तव में उनका दैवी-करण करने की कोशिश की, लेकिन इस विषय मे आचार्यो के बीच विवाद था। आनन्दवर्द्धन ने राजाओं के दैवीकरण पर आपत्ति की। आनन्दवर्द्धन की मान्यता का भी विरोध हुआ। ये दोनों बातें आनन्दवर्द्धन के इस कथन में दिखायी पड़ती हैं : "हम यह नहीं कहते कि राजाओ के प्रभातिशय्य का वर्णन करना अनुचित है। किन्तु केवल मानुष (प्रकृति)के आधार पर जो कथा कल्पित की जाये उसमें दिव्य (प्रकृति) के औचित्य को नही जोड़ना चाहिए।" अपनी इस मान्यता के समर्थन में वे भरतमुनि की मान्यता का हवाला देते हैं, "भरत (के नाट्यशास्त्र) में प्रख्यात वस्तु (कथा) को विषय और प्रख्यात उदात्त नायक का रखना अनिवार्य (आवश्यक कर्त्तव्य) प्रतिपादित किया है।" ज़ाहिर है कि भरत ने प्रख्यात यानी ऐतिहासिक अर्थात प्रामाणिक कथा और उसके नायक के चित्रण को अनिवार्य बताया था। इस परम्परा को मानने का झुकाव आनन्दवर्द्धन में है, इसलिए उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास आदि की धर्मनिरपेक्ष काव्यपरम्परा को अपने विवेचन का आधार बनाय। लेकिन यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ और भारतीय काव्यालोचन यथार्थ से दूर हो गया। जब जीवन के पुरुषार्थों मे धर्म और मोक्ष को भी स्थान मिल

गया, काव्यानुभूति या रसानुभूति के लिए भौतिक लगाव से मुक्त होने की प्रक्रिया को स्वीकृति मिल गयी, तो सम्भवत: कविता को भी मोक्ष दिलाने में भूमिका अदा करनी पड़ी। इस क्रम में कविता और अध्यात्म का सम्बन्ध गहरा हो गया। सामन्त-वाद के उत्कर्ष-काल में ही शंकराचार्य ने ब्रह्म के ही चरम सत्य होने और इस जगत के मिथ्या होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसका असर काव्यशास्त्र पर पड़ा। रस-सिद्धान्त के विवेचन में इस बात का विश्लेषण ज़्यादा किया गया कि कैसे पाठक या दर्शक आनन्द प्राप्त करने के लिए अहं का विसर्जन करता है, सांसारिक लगावों से मुक्त होता है और तब 'तन्मयी भवन योग्यता' प्राप्त करता है। काव्य-विवेचन और आध्यात्मिक, दार्शनिक विवेचन के इस घनिष्ठ सम्पर्क ने काव्य और काव्य-शास्त्र दोनों को देश-काल-निरपेक्ष बनाने की कोशिश की। इस मान्यता की स्थापना के लिए काव्य-वस्तु को इन्द्रिबोध की प्रक्रिया से अलग करके एक शाश्वत सत्य से जोड़ना ज़रूरी था। यह भी किया गया। काव्य के प्रभाव के स्वरूप का जो विवेचन किया गया वह जीवन से अलगाव पैदा करनेवाला माना गया, जीवन के प्रति सम्बद्धता पैदा करनेवाला नहीं। इस तरह "रस-चर्चा में कलाकृति तो गौण वस्तु बन गयी और रस-चिन्तन कलाकृति के विवेचन और मूल्यांकन से अलग स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तन की वस्तु बन गया या रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया (साधारणीकरण) तक सीमित रह गया।" (शिवदानसिंह चौहान, आलोचना के सिद्धान्त, पृ० 43)

भारतीय काव्यशास्त्र में जो संघर्ष चला है, उसका कुछ उल्लेख ऊपर हुआ है, लेकिन वास्तव में वह संघर्ष अनेक बिन्दुओं पर लम्बे समय तक चला है। हमने देखा कि सामाजिक और दार्शनिक क्षेत्र के संघर्ष का गहरा असर काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर पड़ा है। अविनश्वर ब्रह्म की धारणा से प्रेरित होकर काव्यानन्द को देश-काल से मुक्त करने की कोशिश की गयी, लेकिन अलंकारवादी होते हुए भी दण्डी ने देश-काल की सीमा को स्वीकार किया है। उनका कहना है, "यदि कवि के प्रमाद से कुछ भी प्रसिद्धि के विपरीत वर्णित होता है, तो वही देशकालादि-विरोधी (दोष) माना जाता है।" (काव्यादर्श, 6 / 164) जाहिर है, दण्डी देश-काल के औचित्य के उल्लंघन को 'दोष' मानते हैं। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हर विवेचक को देश-काल के तक़ाजे का ध्यान रखना चाहिए। इसी तरह अभिनवगुप्त ने सापेक्षता की बात कही है। वे शोक और दुख को भी सापेक्ष मानते हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में निरपेक्ष मानवतावाद की बात करनेवालों को अभिनवगुप्त के सापेक्षता-सिद्धान्त पर ग़ौर करना चाहिए। अभिनवगुप्त ने शोक या दुख व्यक्त करने के लिए उसके सन्दर्भ को देखने का आग्रह किया है। जैसे यह कि सबकी मृत्यु शोक का कुछ कारण नहीं बनती, इसलिए यह देखना ज़रूरी है कि मृत पात्र कौन है। इसी आधार पर अभिनवगुप्त साफ़-साफ़ कहते हैं कि शत्रु का दुख हर्षकारक

होता है। यह बात आज भी सच है और जब तक समाज वर्ग-विभाजित एवं वैमनस्यपूर्ण रहेगा, तब तक सच रहेगी। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार और अलंकार्य का संघर्ष भी स्पष्ट है, हालाँकि वह उग्र नहीं है। संघर्ष का कारण है भारतीय समाज की बहुस्तरीय संरचना। आचार्यों पर विभिन्न सामाजिक स्तरों का दबाव था, परम्परा का भी दबाव था, लेकिन संघर्ष उग्र नहीं हो पाया, इसका कारण यह था कि सभी आचार्यों ने सामन्ती ढाँचे को स्वीकार कर लिया था। इसी में जिन आचार्यों ने सामाजिकों (यानी दर्शकों और पाठकों अथवा श्रोताओं) को महत्त्व दिया उन्होंने अर्थ को यानी अलंकार्य को महत्त्व दिया और जिन आचार्यों ने सामाजिकों के बदले आश्रयदाता, राजाओं अथवा नायकों को महत्त्व दिया, उन्होंने अलंकार को महत्त्व दिया। भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा में सर्वप्रथम भामह ने अलंकारों को ही काव्य-सौन्दर्य का एकमात्र कारक घोषित किया। ये हमारी काव्यशास्त्रीय परम्परा में रूपवादियों के आदि-गुरु हैं। इनके बाद वामन (8वीं सदी) ने 'रीति' को काव्य की आत्मा और विशेष प्रकार की पद-रचना को 'रीति' कहा। वास्तव में काव्य की सामाजिक, वैचारिक ही नहीं, संवेदनात्मक भूमिका का निषेध करने के उद्देश्य से ही अलंकार या रीति को ही काव्य-आत्मा कहा जाने लगा। काव्य की उपर्युक्त भूमिका का निषेध सामन्ती समाज के प्रभुताशाली वर्गों के हितों के अनुकूल था। यह आकस्मिक नहीं है कि आज के रूप-वादी भी भिन्न भाषा में, भिन्न सन्दर्भ में साहित्य और कला की सामाजिक एवं वैचारिक भूमिका का निषेध कर रहे हैं। वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्त्तक कुन्तक (दसवीं-ग्यारहवीं शती) ने अलंकारवादियों में सबसे अधिक संगत दृष्टि-कोण अपनाकर शब्द, अर्थ और अलंकार की समष्टि को काव्य कहा, लेकिन जब उन्होंने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल कहा तो वे भी कथनभंगी को सर्वोच्च महत्त्व देकर रूपवादियों की क़तार में खड़े हो गये।

भारतीय काव्यशास्त्र में आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त का अनोखा स्थान इसलिए है कि उन्होंने रूपवाद (अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय) के ख़िलाफ़ संघर्ष किया। इन आचार्यों ने काव्यालोचन के उन प्रश्नों का विवेचन किया जो उस समय (नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं सदी में) उठे थे—जैसे यह कि कवि और अकवि की पहचान कैसे की जाये, काव्य किसे कहा जाये, काव्य की सृजन-प्रक्रिया का स्वरूप क्या है और उसमें कल्पना या कवि की इच्छा की क्या भूमिका है, आदि-आदि। इन आचार्यों ने कवि को 'स्रष्टा' की मान्यता दी और मन की संकल्प-शक्ति (कल्पना) तथा प्रतिभा की भूमिका को स्वीकार किया। आनन्दवर्द्धन ने इसी सिलसिले में जो अर्थ-विचार किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अर्थ के जो दो भेद वाच्य और प्रतीयमान (भावात्मक) बताये, वे आज भी विश्व के पैमाने पर स्वीकृत हैं। रिचर्ड्स और काडवेल-जैसे विद्वानों

ने भी अर्थ के ये ही दो भेद किये हैं। आनन्दवर्द्धन ने वाल्मीकि और कालिदास-जैसे महान कवियों की कृतियों को अपना आधार बनाया, जिनमें लौकिकता की प्रधानता है, शायद इसीलिए वे प्रतीयमान अर्थ को पकड़ पाये। इनमें लौकिक सत्य को परखने की ललक है। अभिनवगुप्त ने सामाजिक और नैतिक मूल्यों (शिव और सत्य) को महत्त्व देते हुए प्रतिपादित किया कि इनसे विच्छिन्न होकर कला-सृजन सम्भव नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण है कि अभिनवगुप्त ने काव्य-सृजन में जिस ज्ञान की भूमिका स्वीकार की, उसे परिभाषित करते हुए अनुभव-जन्य चेतना और विवेक का योग कहा। विवेकहीन कलाकार 'अहंकार' से ग्रस्त होता है, फलतः उसकी सर्जनात्मक शक्ति कुंठित हो जाती है। एक तरफ़ आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त एवं दूसरी तरफ़ वामन, दण्डी, कुन्तक, महिम भट्ट आदि के बीच का संघर्ष वास्तव में रसवाद और अभिव्यंजनावाद के बीच का संघर्ष है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों के इस संघर्ष का समाधान करने की कोशिश बाद में अभिनवगुप्त के शिष्य तथा औचित्यवादी आचार्य क्षेमेन्द्र ने की और मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, आदि भी इसी प्रयत्न की परम्परा में आते हैं। क्षेमेन्द्र ने कहा कि "औचित्य ही काव्य का दृढ़-अविनाशी जीवन है।" इनका उद्देश्य सिद्धान्त-निरूपण में अतियों से बचना रहा है। असल में हमारे विभिन्न काव्य-सिद्धान्त-सम्प्रदायों की एक बड़ी कमी यह रही है कि 'काव्य की आत्मा' की खोज में ही सभी लग गये और सबने अपने ही सिद्धान्त को काव्य की आत्मा कहा, जैसे रसवादियों ने रस को, तो अलंकारवादियों ने अलंकार को, रीतिवादियों ने रीति को और वक्रोक्तिवादियों ने वक्रोक्ति को। इस प्रकार के मताग्रह ने कई बार हास्यास्पद स्थिति पैदा कर दी। इसी पृष्ठभूमि में समन्वय का प्रयत्न किया गया, जिसमें मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ का विशेष महत्त्व है। लेकिन यह स्पष्ट है कि इन आचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त को स्वीकार किया। विभिन्न सम्प्रदायों की स्वीकार्य बातों का समाहार करने का प्रयत्न करते हुए भी दार्शनिक-आध्यात्मिक प्रभाव के कारण वे भरतमुनि के अभिप्राय को फिर से प्रतिष्ठित नहीं कर सके, यों इन्होंने आनन्दवर्द्धन के सहृदयता-सिद्धान्त और कारयित्री एवं भावयित्री-सिद्धान्त का समर्थन किया। पंडितराज जगन्नाथ ने वेदान्तदर्शन के प्रभाव में रस को 'चिदानन्द-स्वरूप' कहा। ज़ाहिर है, इसीलिए वे रस-विवेचन में लौकिकता को वापस नहीं कर सके। मम्मट (बारहवीं सदी) ने अवश्य काव्य के प्रयोजन का सवाल उठाया और उसमें अर्थ, व्यवहार-कुशलता, कान्तासम्मित उपदेश आदि के साथ 'शिवेतर की क्षति' को भी जोड़ा। आम तौर से यह देखा जाता है कि रस-वादी एवं ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य के सामाजिक प्रयोजन को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है और अभिव्यंजनावादियों ने उसे अस्वीकार किया है। इस संघर्ष के ज़रिये काव्य-चिन्तन की जिस महान परम्परा का विकास हुआ, उससे

भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" कविता को सबके हित में लगाना और इसी आधार पर उसकी श्रेष्ठता की पहचान करना नयी बात थी। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रसंग में उनका यह कहना ध्यान देने लायक़ है— "अरथ अमित अति आखर थोरे।" भक्ति-काव्य में नये जनतांत्रिक काव्य-सिद्धान्तों के विकास की सम्भावना थी, लेकिन एक तो पीड़ित जनों को भी ईश्वर की सेवा में ही अर्पित कर देने के कारण, दूसरे लोकभाषा में लिखने के कारण, तीसरे लोकभाषा में आचार्यत्व की परम्परा नहीं रहने के कारण वह सम्भावना शास्त्रीय रूप नहीं ले सकी। एक बड़ा कारण यह भी हो सकता है कि भक्ति-काव्य का विकास सोलहवीं सदी के बाद अवरुद्ध हो गया और पतनशील सामन्तवाद ने साहित्य को ग्रस लिया, जिसकी अभिव्यक्ति रीति-काव्य के रूप में हुई। आगे चलकर कबीर-तुलसी की परम्परा का विकास नहीं होकर, केशवदास की परम्परा हावी हो गयी। जीवन का कोई उदात्त लक्ष्य नहीं रह गया, विलासिता और दरबारीपन छा गये, इसलिए रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की उदात्त एवं सामाजिक प्रयोजनपरक मान्यताओं को दरकिनार करके गौण तथा अलंकारवादी मान्यताओं को प्रमुख बना दिया। रसों में भी शृंगार को रसराजत्व का पद दिया जाना राजाओं की विलास-वृत्ति का सूचक है। फलतः इस युग में काव्य और काव्य-चिन्तन दोनों का अवमूल्यन हो गया, जो वास्तव में जीवन का ही अवमूल्यन हो जाने का, जीवन और काव्य के सम्बन्ध टूट जाने का दुष्परिणाम था।

आज भी भारतीय काव्यशास्त्र को चुनौती मार्क्सवाद या मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र ने नहीं, बल्कि आधुनिक युग के तत्त्वों ने दी है, जिनके प्रभाव से मनुष्य की चेतना और भावधारा में तथा उनके फलस्वरूप साहित्य के स्वरूप में भारी परिवर्तन हो गया। आधुनिक युग के तत्त्व क्या हैं? मोटा-मोटी हम कह सकते हैं कि मनुष्य के पुरुषार्थ (उसकी भौतिक शक्ति) की प्रतिष्ठा, आम जनता, खास करके उत्पादक जनता की बढ़ती हुई भूमिका तथा ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उसकी स्थापना, लौकिक एवं भौतिक अनुभवों और भावों की बढ़ती हुई मान्यता, वैज्ञानिक शक्ति की लगातार विजय तथा सामाजिक एवं भौतिक शक्तियों की गतिशीलता के आलोक में परम्परा के विकास की समस्या आदि आधुनिक युग के प्रमुख तत्त्व हैं। आधुनिक चेतना का बीज वास्तव में तब पड़ा जब मनुष्यों में यह बोध जागा कि मनुष्य अपनी स्थिति को अपने उद्यम से बदल सकता है और प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित कर सकता है। यह इतिहास-बोध मनुष्य को प्राचीन और मध्यकालीन मनुष्य से अलग करता है और इतिहास की प्रेरक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करता है। आधुनिक मनुष्य विज्ञान की शक्ति पर चढ़कर प्राचीन या पौराणिक मनुष्य के द्वारा कल्पित लोक के भेद क्रमशः खोलता जा रहा है। वह कल्पना-लोक हमारे समकालीन यथार्थ की परिधि में आता जा रहा है। इसी

हमें अनेक कालगत एवं सिद्धान्तगत सीमाओं के बावजूद अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्राप्त होते हैं। रस-चर्चा के ज़रिये काव्य की अन्तर्वस्तु का विवेचन, अर्थ-विचार, ध्वनि-सिद्धान्त, साधारणीकरण के ज़रिये सहृदयों के चित्त पर काव्य के प्रभाव का विवेचन, शब्द और अर्थ के सहभाव का विवेचन, शब्द-गुणों का विवेचन, देश-काल के प्रभाव की स्वीकृति, प्रत्यक्षीकरण, आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्व विरासत के रूप में हमें प्राप्त हैं। लेकिन काव्य की रचना-प्रक्रिया में अन्तर्जगत और बाह्यजगत के सम्बन्धों को समझने के प्रयत्न के अभाव में वे आचार्य रचना या कलाकृति के स्वरूप का विवेचन नहीं कर सके।

अन्तर्जगत और बाह्यजगत के सम्बन्धों की समझ प्राप्त कर लेने से हमें सामाजिक परिस्थिति से साहित्य के सम्बन्ध तथा साहित्य के बदलते हुए स्वरूप को तथा भिन्न-भिन्न समय के रचनाकारों के अन्तर को, यानी वाल्मीकि और कालिदास या भवभूति के अन्तर को समझने में आसानी होती है। भारतीय काव्य-शास्त्र इस प्रक्रिया को समझने में हमारी मदद नहीं करता, क्योंकि हर सम्प्रदाय के आचार्यों में एक सीमा आम तौर से पायी जाती है कि वे कहीं तो अन्तर्जगत, और कहीं कल्पित अदृश्य शक्ति के विवेचन में उलझे रहे और कहीं शरीर को ही सजाने के प्रयत्न में, फलतः वे अपने सामाजिकों या सहृदयों को यथार्थ से दूर लेते चले गये। अतः भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा से जुड़ने का प्रयत्न हम उसके सकारात्मक पहलुओं को लेकर, आज के यथार्थ धरातल पर खड़ा होकर ही कर सकते हैं; क्योंकि आज की चुनौती है आज की आवश्यकताओं की पूर्ति, आज के प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न। इसके लिए भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा को पूरी तरह नकारने की ज़रूरत नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र को, जो मुख्यतः संस्कृत काव्य पर आधारित शास्त्र है, पहली चुनौती यथार्थवाद ने नहीं, बल्कि भक्ति-आन्दोलन के सन्तों और भक्त-कवियों ने दी। भक्ति-काव्य के द्वारा चुनौती दिये जाने का आधार यह है कि वह विराट आन्दोलन मुख्यतः समाज में दलित-पीड़ित जनों का था, जो उत्पादन की प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका अदा करने के कारण ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सामाजिक वर्ग का टकराव सामन्तवादी ताक़तों से हो रहा था। इस टकराव में सामान्यजनों के पक्ष में खड़े सन्त एवं भक्त-कवि आम जनता को जगाते फिर रहे थे, वे राजाओं का मनोरंजन नहीं कर रहे थे, बल्कि राजसत्ता का तिरस्कार भी कर रहे थे। यह नयी बात थी। इसी पृष्ठभूमि में कबीर ने मूर्ति के 'पाहन' से अधिक महत्त्वपूर्ण चक्की के पत्थर को बताया, क्योंकि उससे "पीस खाय संसार"। इसीलिए उन्होंने यह भी कहा कि "संसकिरत है कूप जल भाखा बहता नीर।" 'भाखा' सामाजिक जीवन की भाषा थी। तुलसी ने भी केवट और कोल-किरातों को अपनाया, रावणत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष किया, इसलिए कहा, "कीरत भनिति

भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" कविता को सबके हित में लगाना और इसी आधार पर उसकी श्रेष्ठता की पहचान करना नयी बात थी। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रसंग में उनका यह कहना ध्यान देने लायक़ है—"अरथ अमित अति आखर थोरे।" भक्ति-काव्य में नये जनतांत्रिक काव्य-सिद्धान्तों के विकास की सम्भावना थी, लेकिन एक तो पीड़ित जनों को भी ईश्वर की सेवा में ही अर्पित कर देने के कारण, दूसरे लोकभाषा में लिखने के कारण, तीसरे लोक-भाषा में आचार्यत्व की परम्परा नहीं रहने के कारण वह सम्भावना शास्त्रीय रूप नहीं ले सकी। एक बड़ा कारण यह भी हो सकता है कि भक्ति-काव्य का विकास सोलहवीं सदी के बाद अवरुद्ध हो गया और पतनशील सामन्तवाद ने साहित्य को ग्रस लिया, जिसकी अभिव्यक्ति रीति-काव्य के रूप में हुई। आगे चलकर कबीर-तुलसी की परम्परा का विकास नहीं होकर, केशवदास की परम्परा हावी हो गयी। जीवन का कोई उदात्त लक्ष्य नहीं रह गया, विलासिता और दरबारीपन छा गये, इसलिए रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की उदात्त एवं सामाजिक प्रयोजनपरक मान्यताओं को दरकिनार करके गौण तथा अलंकारवादी मान्यताओं को प्रमुख बना दिया। रसों में भी शृंगार को रसराजत्व का पद दिया जाना राजाओं की विलास-वृत्ति का सूचक है। फलतः इस युग में काव्य और काव्य-चिन्तन दोनों का अवमूल्यन हो गया, जो वास्तव में जीवन का ही अवमूल्यन हो जाने का, जीवन और काव्य के सम्बन्ध टूट जाने का दुष्परिणाम था।

आज भी भारतीय काव्यशास्त्र को चुनौती मार्क्सवाद या मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र ने नहीं, बल्कि आधुनिक युग के तत्त्वों ने दी है, जिनके प्रभाव से मनुष्य की चेतना और भावधारा में तथा उनके फलस्वरूप साहित्य के स्वरूप में भारी परि-वर्तन हो गया। आधुनिक युग के तत्त्व क्या हैं? मोटा-मोटी हम कह सकते हैं कि मनुष्य के पुरुषार्थ (उसकी भौतिक शक्ति) की प्रतिष्ठा, आम जनता, खास करके उत्पादक जनता की बढ़ती हुई भूमिका तथा ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उसकी स्थापना, लौकिक एवं भौतिक अनुभवों और भावों की बढ़ती हुई मान्यता, वैज्ञा-निक शक्ति की लगातार विजय तथा सामाजिक एवं भौतिक शक्तियों की गति-शीलता के आलोक में परम्परा के विकास की समस्या आदि आधुनिक युग के प्रमुख तत्त्व हैं। आधुनिक चेतना का बीज वास्तव में तब पड़ा जब मनुष्यों में यह बोध जागा कि मनुष्य अपनी स्थिति को अपने उद्यम से बदल सकता है और प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित कर सकता है। यह इतिहास-बोध मनुष्य को प्राचीन और मध्यकालीन मनुष्य से अलग करता है और इतिहास की प्रेरक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करता है। आधुनिक मनुष्य विज्ञान की शक्ति पर चढ़कर प्राचीन या पौराणिक मनुष्य के द्वारा कल्पित लोक के भेद क्रमशः खोलता जा रहा है। वह कल्पना-लोक हमारे समकालीन यथार्थ की परिधि में आता जा रहा है। इसी

यथार्थ पर खड़े होकर आज की जनता ने राष्ट्रीय एवं सामाजिक स्वतंत्रता के लिए तथा शोषण-मुक्त मानव-सम्बन्धों के निर्माण के लिए ऐतिहासिक भूमिका अदा की। इस सिलसिले में समाज-विकास की एक नयी ऐतिहासिक अवस्था विकसित हुई, जिसने यथार्थवाद को जन्म दिया। इसने मनुष्य को दैवी प्रेरणा या किसी अदृश्य सर्वशक्तिमान सत्ता के नियंत्रण से मुक्त कर दिया। इसने यह स्वीकार किया कि मनुष्य और प्रकृति तथा मनुष्य और समाज के अन्तस्सम्बन्धों को एवं समाज-विकास के नियमों तथा रास्ते को समझना ज़रूरी है। यह समझ साहित्य और अन्य कलारूपों में व्यक्त होने लगी, तो सामाजिक-मानवीय सम्बन्धों की नयी शक्तियों का उद्घाटन होने लगा, नये-नये घटना-क्रम तथा नये चरित्र सामने आये, साथ ही विकास की नयी सम्भावनाएँ भी दिखायी पड़ीं।

हमारे देश में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दुयुगीन साहित्य ने और बीसवीं सदी में राष्ट्रीयतावादी (मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, नवीन आदि) कवियों ने और स्वच्छन्दतावादी (छायावादी) कवियों ने एक हद तक आधुनिक चेतना को स्वीकार किया, फलतः उनके काव्य ने भारतीय काव्य-शास्त्र के शाश्वत, श्रेण्य और सम्भ्रान्त मूल्यों के अन्त का प्राथमिक आधार प्रस्तुत किया। रीतिवादी सिद्धान्तों को साहित्य से विदा ही कर दिया गया। आम मेहनतकश जनता ने इस युग में जो भूमिका अदा की है, उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा दी प्रेमचन्द ने, अपनी कहानियों और उपन्यासों में। उन्होंने सबसे अधिक जीवन और समाज के विविध रहस्यों का प्रत्यक्षीकरण इस क़दर कराया कि वे रहस्य रह नहीं गये। फिर प्रगतिशील कवियों-कथाकारों ने इस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया। जब मध्यकाल में कविता को 'मोक्ष' दिलाने की भूमिका अदा करनी पड़ी थी, तो आधुनिक युग में मनुष्य को शोषण-मुक्त करने में तो उसे और भी ठोस भूमिका अदा करनी थी। स्वभावतः इस दौर में मैथिलीशरण गुप्त ने कहा, "केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए", छायावादियों ने कविता को "कल्पना के कानन की रानी" कहकर 'मैं शैली' अपनायी, फिर भी अपने 'दुखी भाई' को दृष्टि से ओझल नहीं किया और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द ने नयी सौन्दर्य-दृष्टि अपनाने का सवाल उठाया। शुक्लजी ने "अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को जगाते रहने" की भूमिका कविता के लिए स्वीकार की (रसमीमांसा, पृ० 54), इसीलिए उन्होंने कहा, "सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूंढ़ा करते। वे फूस के झोंपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुंच सकती।" (उपर्युक्त, पृ० 54)। इसी तरह प्रेमचन्द ने भी सौन्दर्यदृष्टि को बदलने का आह्वान किया। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम लखनऊ-अधिवेशन

के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा, "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। अभी तक हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उनकी निगाह अन्त:पुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँडहर उनके ध्यान के अधिकारी नहीं थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था।" ज़ाहिर है कि अब मनुष्यता का आधार बदल गया, इसलिए सुन्दरता की कसौटी भी बदल गयी। प्रेमचन्द ने वैज्ञानिक समझ के आधार पर कहा कि "सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है।" (वही)। अभिनवगुप्त ने भी सापेक्षता की बात कही थी, लेकिन उन्होंने उसे पदार्थ के गुण के प्रसंग में नहीं देखा और न सामाजिक यथार्थ की गतिशीलता के सन्दर्भ में ही। अब उसे वैज्ञानिक और भौतिक आधार मिला था, जिसका उद्घोष प्रेमचन्द कर रहे थे। नये सन्दर्भ और आधुनिकता के तत्त्वों ने भारतीय काव्यशास्त्र के जीवन्त और रूढ़ तत्त्वों की पहचान करने तथा जीवन्त पक्ष को आज के दृष्टिकोण से जोड़ने की आवश्यकता पैदा की। इस आवश्यकता की पूर्ति अन्तत: मार्क्सवाद से ही सम्भव है। इसके पूर्व शुक्लजी और प्रेमचन्द के प्रयत्नों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

भारतीय काव्यशास्त्र, खास करके रस-सिद्धान्त ने कला-सृजन के कुछ नियम दिये, अर्थ-प्रेषण को उसका उद्देश्य बताया, उसके आस्वाद की प्रक्रिया बतायी, भावक यानी पाठक और दर्शक पर उसके प्रभाव के विश्लेषण की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। लेकिन उसकी सारी बातें आज उपयोग में नहीं हैं। यदि मनुष्य की चेतना का सम्बन्ध बाह्य जगत से है और इन्द्रियबोध के बिना ज्ञान नहीं होता, बल्कि यह कहना चाहिए कि चेतना का उद्भव ही इन्द्रियबोध के द्वारा होता है, तो फिर मानव-मन में कुछ स्थायी भावों का अस्तित्व कैसे सम्भव है? आहार, निद्रा, भय और मैथुन तो मानव-प्रकृति के अंग हैं, लेकिन क्रोध, उत्साह आदि को मनोव्यापार का अंग माना जाना चाहिए। प्रकृति, मनुष्य, समाज आदि की गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता से स्थायी भावों के अस्तित्व का मेल नहीं बैठता। साहित्य या कोई भी कला-रूप सामाजिक चेतना का ही विशिष्ट रूप है; सामाजिक चेतना में विविधता और जटिलता होती है, उसमें स्थायित्व नहीं होता। मनुष्य के भावों के विश्लेषण के प्रसंग में इस वैज्ञानिक सचाई को ध्यान में रखना आवश्यक है।

शब्द और अर्थ, वस्तु और रूप या अलंकार एवं अलंकार्य को लेकर जो झगड़ा भारतीय काव्यशास्त्रियों में होता रहा, उसका समाधान मार्क्सवाद ही

ठीक से करता है। तुलसीदास ने कहा कि "गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न", लेकिन इस प्रसंग में मूल प्रश्न उनकी भिन्नता या लगाव का नहीं, बल्कि यह है कि दोनों में प्रमुख कौन है? मार्क्सवाद बताता है कि प्रमुख है वस्तु, क्योंकि वस्तु ही रूप को निर्धारित करती है। इससे अर्थ के प्रेषण में रूप की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निषेध नहीं होता। अर्थ के प्रेषण के प्रसंग में ही साधारणीकरण सिद्धान्त द्रष्टव्य है। भट्टनायक ने सामाजिक की व्यक्ति-विशिष्ट मनोवृत्तियों को अर्थ-बोध में बाधक मानकर उनके निराकरण के लिए साधारणीकरण सिद्धान्त की स्थापना की। भट्टनायक, भट्टतौत, अभिनवगुप्त आदि ने इस प्रक्रिया की व्याख्या आध्यात्मिक आचरण में की। उनके बीच यह विवाद का विषय बना रहा कि साधारणीकरण वास्तव में किसका होता है? आचार्य शुक्ल ने लौकिक धरातल पर उसकी व्याख्या करते हुए कहा कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है और उसका इस रूप में लाया जाना कि वह सामान्य आलम्बन हो सके, साधारणीकरण कहलाता है। इसे और भी स्पष्टता एवं वैज्ञानिकता मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ने प्रदान की। रचनाकार और सामाजिक यानी पाठक या श्रोता के बीच मूल समस्या है प्रेषणीयता की। प्रयोगवादियों और व्यक्तिवादियों के लिए यह कोई खास समस्या नहीं है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ने रचना की अन्तर्वस्तु के सामान्यीकरण (जेनरलाइजेशन) पर जोर दिया है। वह इसलिए कि रचनाकार वास्तव में व्यापक सामाजिक अनुभवों के आधार पर वस्तु का या चरित्रों का सामान्यीकरण करता है। सामान्यीकरण रचना को प्रेषणीयता से सम्पन्न बना देता है। यह आज के साहित्य की आवश्यकता के अनुकूल सिद्धान्त है। ज़ाहिर है कि भारतीय काव्यशास्त्र की सीमाओं और उसकी प्रासंगिकता की सही पहचान आचार्य शुक्ल के बाद प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तकों ने की है, जिनमें डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, मुक्तिबोध, और डॉ० नामवरसिंह उल्लेखनीय हैं। मेरा यह मतलब नहीं कि इन सभी विचारकों ने भारतीय काव्यशास्त्र और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की सैद्धान्तिक समस्याओं पर विचार किया है, बल्कि कहना यह है कि इनके साहित्य-चिन्तन और साहित्यालोचन ने नये मनुष्य की सौन्दर्यशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया है।

जीवन और साहित्य के गहरे लगाव को देखते हुए आधुनिक काल में एक ऐसे सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है जो साहित्य और जीवन—दोनों को वैज्ञानिक, सृजनात्मक और संवेदनात्मक दृष्टि से देखने की क्षमता दे। यह काम भारतीय काव्यशास्त्र के पुराने विवेचन के आधार पर नहीं हो सकता। भारतीय काव्यशास्त्र के जो दूसरे आधुनिक विवेचक हुए हैं, जैसे डॉ० नगेन्द्र, वे नये सामाजिक यथार्थ और नये मनुष्य की सौन्दर्यशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सके, क्योंकि

वे काव्यानन्द को अलौकिकता की अवधारणा से मुक्त नहीं कर सके। इसके लिए ज़रूरी था 'आत्मा' की अवधारणा से मुक्त होना। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का विवेचन अवश्य नयी आवश्यकताओं के अनुरूप है, क्योंकि उन्होंने समकालीन जीवनानुभव को स्वीकार किया है और रीति या रूप की तुलना में 'वस्तु' को महत्त्व दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र को आगे बढ़ाने और विकसित करने का ऐतिहासिक कर्त्तव्य वही पूरा कर रहे हैं, जो समकालीन सामाजिक यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर विवेचन कर रहे हैं, जो अतीत के दाय को स्वीकार करते हैं और भविष्य की ओर उन्मुख हैं।

—'आलोचना' से साभार

रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता

कमला प्रसाद

सृजन और समीक्षण में अन्तराल

संस्कृत के प्रमुख शास्त्रकार वामन ने विकासमान कवियों के दो वर्ग माने। दोनों वर्ग के कवियों का निर्धारण उन्होंने अपने युग में फैले कवियों के झुंडों को देखकर किया था। उनके अनुसार पहले वर्ग में वे कवि थे, जो दोषयुक्त कविताएँ तो लिखते थे, पर कविता-विवेक का अभाव नहीं था। उचित गुरु या आलोचक का सम्पर्क न मिलने से वे पिछड़े रह जाते थे। काव्य-शिक्षा का सुयोग उनके लिए फलप्रद होता था। वे कवि वे—अरोचकी। काव्य-विवेक से रहित—सतृष्णाम्य-व्यवहारी कवियों को वे किसी प्रकार की शिक्षा का प्रावधान नहीं करते। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करते हैं कि "गन्दे पानी में कतक फल के डाल देने से मैल घुल जाता है और शुद्ध जल निकल जाता है, पर कीचड़ में डालने से कोई लाभ नहीं होता।"* वामन ने युग के विवेकरहित कवियों की खूब निन्दा की है। कवि-निन्दा की यह प्रवृत्ति वामन में ही नहीं, तमाम आचार्यों में मिलती है। इसके विपरीत पश्चिम में कवियों की ओर से आलोचकों की निन्दा अधिक मिलती है। उदाहरण के लिए, गेटे ने कहा कि "महान (कवि) व्यक्तित्व को समझने और उसके प्रति आदर-भाव व्यक्त करने के लिए हमें स्वयं भी कुछ होना चाहिए। जिन लोगों ने ओएरिपिदेस की उदात्तता को स्वीकार नहीं किया वे या तो इस उदात्तता को हृदयंगम करने में असमर्थदीन-हीन प्राणी थे, अथवा वे निर्लज्ज वंचक थे, जो अपनी मान्यताओं द्वारा अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहते थे, और किया भी उन्होंने ऐसा ही।"[1] इस कवि ने आलोचकों के अनुत्तरदायित्वपूर्ण रवैये के कारण क्रोध में यहाँ तक कहा है कि "वे कुत्ते हैं उन्हें, मार डालना चाहिए।"[2] दूसरे कवि कीट्स ने उन्हें काले वालों का आदमी कहा था।[3] भारत और पश्चिमके ये प्रमाण प्रवृत्तियों को दर्शाने के लिए हैं। पहली बात तो यह कि भारत की परम्परा में रचना के प्रसंग में आलोचकमुखी व्याख्या अधिक मिलती है, जबकि पश्चिम में कलाकार-मुखी। वहाँ अधिकांश समीक्षक-कवि रहे हैं, इसीलिए जहाँ वे रचना के अन्तरंग

रहस्यों पर प्रामाणिक विश्लेषण करते थे, वहीं आलोचक की ऐसी तटस्थता से चूक जाते थे जो कला-मूल्यों के सामान्य निष्कर्षों को एक साथ सामने ला सके। दूसरी बात यह है कि भारत में नाट्यशास्त्र के बाद जहाँ आलोचना की परम्परा में कला-मूल्यों की इतनी विदग्ध व्याख्याएँ हुईं कि यदि उनका सावयविक आकलन किया जाये तो रचना शास्त्र का विज्ञान बन जाता है, वहीं अधिकांश आलोचकों की कमज़ोरी रही कि उन्होंने अपने काल की रचनाओं से सम्पर्क छोड़कर सौन्दर्य-चिन्तन के निरपेक्ष मूल्यांकन के कारण रचनाकारों तथा आस्वादकों की गतिशील विश्वसनीयता खो दी। दोनों दिशाओं में एक तथ्य सामान्य है कि रचना और आलोचना का प्रकृत मार्ग समानान्तरता में स्थापित नहीं हुआ। दोनों को परस्पर शिकायतें रही हैं। हिन्दी में अभी भी रचना और आलोचना के बीच गहरी खाई है। इसका अर्थ यह है कि दोनों के प्रकृत मार्ग के प्रमाण नहीं रहे या चेष्टाएँ नहीं हुईं। मुश्किल यह है कि इन चेष्टाओं को गतिशील परम्परा का रूप नहीं दिया जा सका। आज भी ज्वलन्त प्रश्न है कि रचना और आलोचना के स्वस्थ सम्बन्ध क्या हैं—उनकी स्वाभाविकता को समाप्त करने के क्या उपाय हैं?

राजशेखर ने काव्य-हेतुओं के प्रसंग में प्रतिभा के दो भेद किये—कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा। कारयित्री प्रतिभा कवियों में होती है और भावयित्री(भाव) आलोचको में। कवि तीन तरह से रचना करने वाले : "सहजा—पूर्वजन्म के संस्कारों से ही कवित्व-शक्ति प्राप्त, ये सारस्वत कवि कहलाते थे। आहार्य—जो अभ्यास से कवि बनते थे वे अभ्यासिक थे और औपदेशिक, जो तंत्र-मंत्र से कविता करते थे—वे औपदेशिक कहलाते थे। राजशेखर के अनुसार तीन प्रकार के कवि होते थे—शास्त्र कवि, काव्य कवि और उभय कवि। उभय कवि श्रेष्ठ थे, क्योंकि वे सहजा शक्ति के साथ शास्त्राभ्यास के संयोग से रचना करते थे। महाकवियों की श्रेणी इन्हीं कवियों के बीच निकलती थी।"[4] भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न आलोचकों (भावक) के दायित्व के विषय में उनका कहना था कि वे कविता सत्ता को सफल बनाते हैं। कविता सुवर्ण की तरह है और आलोचना—कसौटी। कविता की आलोचना के ज़रिये परीक्षा होती है और इस तरह वह सिद्ध होती है। यह काम साधना है। सभी इसे पूरा नहीं कर पाते। अरोचकी किस्म के समीक्षकों को कोई रचना पसन्द नहीं आती। सतृणाम्य-वहारी—प्रत्येक रचना की प्रशंसा करते हैं, जब कि मत्सरी—ईर्षालु होते हैं। वे छिद्रान्वेषण में ही लीन रहते हैं। श्रेष्ठ समीक्षक तत्वाभिनिवेशी होते हैं। वे निष्पक्ष और सच्चे होते हैं। ऐसे समीक्षकों की विशेष जिम्मेदारी होती है कि वे, "शब्दों की रचना-विधि की परीक्षा करें, सूक्तियों और चमत्कार से आनन्द लें, काव्य के सघन रसामृत का पान करें, रचना के गूढ़ तात्पर्य की खोज करें। वे अपनी ओर से कुछ न कहें,

रिश्ता होता है, जो बहुत गहरा और अप्रत्यक्ष हो चुका होता है। लुकाच ने कलाकार की घटित स्वतःस्फूर्तता का अर्थ समझाते हुए लिखा कि, "स्वतःस्फूर्तता का अभिप्राय यह है कि कलाकृति का लक्ष्य जीवन की सूक्ष्मता, समृद्धि और असमापनीयता को चित्रित करना है और उसे गतिमान तथा सुस्पष्ट रूप में प्राणवत्ता प्रदान करना है—इसका लक्ष्य हमेशा ही विषय की सघन असमापनीयता को चित्रित करना रहेगा। इसका अर्थ है कि उसे अपनी कथा में इन सारे प्रमुख कारकों को सृजनात्मक रूप में समाविष्ट करने का लक्ष्य लेकर चलना होगा जो वस्तुपरक यथार्थ में किसी विशिष्ट घटना या घटना-संश्लिष्ट का आधार होते हैं और कलात्मक समावेशन से अभिप्राय यह है कि सारे कारक क्रिया में व्यक्तियों के निजी सहज गुणों, चित्रित स्थितियों आदि के विशिष्ट गुणों के रूप में प्रकट होंगे ताकि विशिष्ट और सामान्य की एकता प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर हो।"[8] स्वतःस्फूर्तता को लेकर अब भ्रम पैदा करने की कोई गुंजाइश नहीं है। अचेतन और स्वप्नों का घटित जीवन के साथ वस्तुपरक रिश्ता खोज लिये जाने के बाद कोई स्थिति रहस्यमूलक नहीं है। रहस्यमूलकता केवल अज्ञानता है। लुकाच ने जिसे सूक्ष्मता, समृद्धि और असमापनीयता कहा है, वह अचेतन-चेतन के सहज जोड़ से ही सम्भव होता है। अतीत-बोध और स्मृतियों से जुड़े बगैर असमापनीयता असम्भव है तथा अचेतन चेतन जोड़ के बगैर अतीत और स्मृतियों का जोड़ भी। इस तरह यह अन्योन्य-क्रिया है। रचनाकार के ध्यानयोग से इस तरह का जोड़ विस्फोटक क्रिया से हो पाता है। चेतन की ज़िम्मेदारी फिर उसके साधने की होती है। चेतन में विस्फोट से उपलब्ध धूमिल सामग्री का रचनात्मक उपयोग होता है। यहीं उसे स्पष्ट आकृति तथा ऐन्द्रिय चरित्र मिलता है। यहीं रचनाकार काव्य के विभिन्न साहचर्यों को सहेजता है। उस युग में प्रचलित विवेकप्रक्रिया, कलात्मक सन्दर्भ, चुनौतियाँ, उसकी रचनाओं के प्रति आम धारणाएँ, प्रखर आलोचकों के नज़रिये सभी कुछ यहाँ उस कथ्य के साथ उसे कचोटते हैं। वह बार-बार अचेतन से निकलकर बिखरी सामग्री को समेटता है, उभरी हुई धुँधली फ़ैन्टेसी को साफ़ करता है और विवेक की मंजूरी से इस क्रिया को अधिक सार्थक बनाने की चेष्टा में तल्लीन रहता है। 'पुन-पुन चन्दन पुन-पुन पानी' की क्रिया चेतन और कथ्य के द्वन्द्व की होती है, वह कथ्य जो निश्चित रचना-स्वरूप के लिए मचल रहा होता है। देवीशंकर अवस्थी ने इस प्रक्रिया की बाबत लिखा, "मनुष्य का स्नायविक संगठन कैसे काम कर रहा है, इसका समय आत्मसातीकरण कवि पहले करता है एवं अपनी सृजन-प्रक्रिया के दौरान इस स्नायविक प्रतिक्रिया के लय या साँचे को पकड़ने का प्रयास करता है, अथवा यों कहें कि अनुभूति-विशेष या विविध अनुभूतियों के लिए एक साँचा (पैटर्न) खोजता है और जब एक बार यह साँचा पकड़ में आ जाता है, तब वह उससे बाहर की ओर भी यदा-कदा संचरण

रचना की ओर से बोलें।"[5] आलोचकों की प्रशंसा में राजशेखर ने यहाँ तक कहा कि 'पुस्तकों के पात्रों पर लिखे हुए अनेक काव्य-प्रबन्ध तो घर-घर रखे हुए हैं, लेकिन आलोचकों की हृदयशिलाओं पर खुदे हुए काव्य प्रबन्ध इने-गिने दो-तीन ही हैं।"[6] 'श्रेष्ठ कृति के विषय में उनका प्रतिमान-रूप और है। वह यह कि "एक रचना कवि के घर में, दूसरी मित्रों के बीच तथा तीसरी सभी के मुख पर पदन्यास करती हुई विश्वभ्रमण की इच्छा पूर्ण करती है, अर्थात उनकी रचना के पद पठित तथा अपठित सभी के मुख पर स्थान प्राप्त कर लेती है।"[7]

श्रेष्ठ रचना और श्रेष्ठ आलोचक (भावक) के सम्बन्धों पर संस्कृत काव्य-शास्त्र में सर्वाधिक राजशेखर ने ही लिखा है। यद्यपि उनके ग्रन्थ के अठारह अधिकरणों में से एक ही अधिकरण उपलब्ध है, पर वह काव्य-रहस्य पर गम्भीरता से प्रकाश डालता है। उल्लेखनीय बात यह है कि राजशेखर ने रचना और आलोचना के अलग-अलग कर्मों की मान्यता के बावजूद दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को महसूस किया था। उनका कहना था कि कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के सहयोग से ही श्रेष्ठ रचना बनती है। विवेक के बिना कवि और सहज रचनाशील संस्कारों के बिना आलोचक अधूरे होते हैं। राजशेखर स्वयं कवि थे, इसीलिए आलोचनात्मक मीमांसा को काव्य-रूपक की तरह पेश किया है।

रचना प्रक्रिया का अन्तरावलम्बन

कवि और आलोचक को कितनी दूर तक एक-दूसरे के साथ रहकर अलग हो जाना चाहिए, इस प्रसंग में हमेशा विवाद रहा है। आज जबकि दोनों की मानसिक गतिविधियों और रचना-प्रक्रिया का प्रामाणिक विश्लेषण हो चुका है, कहने में सुविधा होती है कि दोनों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हुए रास्ते अलग-अलग हैं। रचनाकार के लिए कोई आदर्श आकृति पहले से उपलब्ध नहीं होती। वह बाह्य वास्तविकता से टकराता हुआ उसे अपनी चेतना के अनुकूल ढालता है। उसकी आत्मा में वास्तविकताएँ रूपांतरित होकर निवास करती हैं। वहाँ स्मृति, कल्पना आदि आन्तरिक शक्तियों के द्वंद्व से रूपान्तरित आकृतियाँ बार-बार नये-नये रूप में ढलकर बाहर आती हैं। रचनाकार जैसे ही मानसिक रूप से केन्द्रित होता है, उसकी अवचेतन-चेतन के बीच की बाधाएँ टूटती हैं और रचना का सृजन शुरू हो जाता है। यह क्रिया दूरगामी या अल्प अवधि की—कुछ भी हो सकती है। उसके सृजन की तीन स्थितियाँ प्रमुख रूप से होती हैं—प्रथम, अवचेतन चेतन की क्रिया; द्वितीय, चेतन की क्रिया; और तीसरी, माध्यम तथा अमूर्त्त अनुभूति की द्वन्द्वात्मक क्रिया। रचयिता की अवचेतन क्रिया स्वतःस्फूर्त होती है। उसका अचेतन से चेतन में विस्फोट होता है, यद्यपि उस विस्फोट का पूर्व में सामाजिक संवेदनाओं से

रिश्ता होता है, जो बहुत गहरा और अप्रत्यक्ष हो चुका होता है। लुकाच ने कलाकार की घटित स्वतःस्फूर्तता का अर्थ समझाते हुए लिखा कि, "स्वतःस्फूर्तता का अभिप्राय यह है कि कलाकृति का लक्ष्य जीवन की सूक्ष्मता, समृद्धि और असमापनीयता को चित्रित करना है और उसे गतिमान तथा सुस्पष्ट रूप में प्राणवत्ता प्रदान करना है—इसका लक्ष्य हमेशा ही विषय की सघन असमापनीयता को चित्रित करना रहेगा। इसका अर्थ है कि उसे अपनी कथा में इन सारे प्रमुख कारकों को सृजनात्मक रूप में समाविष्ट करने का लक्ष्य लेकर चलना होगा जो वस्तुपरक यथार्थ में किसी विशिष्ट घटना या घटना-संश्लिष्ट का आधार होते हैं और कलात्मक समावेशन से अभिप्राय यह है कि सारे कारक क्रिया में व्यक्तियों के निजी सहज गुणों, चित्रित स्थितियों आदि के विशिष्ट गुणों के रूप में प्रकट होंगे ताकि विशिष्ट और सामान्य की एकता प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर हो।"[8] स्वतःस्फूर्तता को लेकर अब भ्रम पैदा करने की कोई गुंजाइश नहीं है। अचेतन और स्वप्नों का घटित जीवन के साथ वस्तुपरक रिश्ता खोज लिये जाने के बाद कोई स्थिति रहस्यमूलक नहीं है। रहस्यमूलकता केवल अज्ञानता है। लुकाच ने जिसे सूक्ष्मता, समृद्धि और असमापनीयता कहा है, वह अचेतन-चेतन के सहज जोड़ से ही सम्भव होता है। अतीत-वोध और स्मृतियों से जुड़े बगैर असमापनीयता असम्भव है तथा अचेतन चेतन जोड़ के बगैर अतीत और स्मृतियों का जोड़ भी। इस तरह यह अन्योन्य-क्रिया है। रचनाकार के ध्यानयोग से इस तरह का जोड़ विस्फोटक क्रिया से हो पाता है। चेतन की ज़िम्मेदारी फिर उसके साधने की होती है। चेतन में विस्फोट से उपलब्ध धूमिल सामग्री का रचनात्मक उपयोग होता है। यहीं उसे स्पष्ट आकृति तथा ऐन्द्रिय चरित्र मिलता है। यहीं रचनाकार काव्य के विभिन्न साहचर्यों को सहेजता है। उस युग में प्रचलित विवेकप्रक्रिया, कलात्मक सन्दर्भ, चुनौतियाँ, उसकी रचनाओं के प्रति आम धारणाएँ, प्रखर आलोचकों के नज़रिये सभी कुछ यहाँ उस कथ्य के साथ उसे कचोटते हैं। वह बार-बार अचेतन से निकलकर बिखरी सामग्री को समेटता है, उभरी हुई धुँधली फ़ैन्टेसी को साफ़ करता है और विवेक की मंजूरी से इस क्रिया को अधिक सार्थक बनाने की चेष्टा में तल्लीन रहता है। 'पुन-पुन चन्दन पुन-पुन पानी' की क्रिया चेतन और कथ्य के द्वन्द्व की होती है, वह कथ्य जो निश्चित रचना-स्वरूप के लिए मचल रहा होता है। देवीशंकर अवस्थी ने इस प्रक्रिया की बाबत लिखा, "मनुष्य का स्नायविक संगठन कैसे काम कर रहा है, इसका समय आत्मसातीकरण कवि पहले करता है एवं अपनी सृजन-प्रक्रिया के दौरान इस स्नायविक प्रतिक्रिया के लय या साँचे को पकड़ने का प्रयास करता है, अथवा यों कहें कि अनुभूति-विशेष या विविध अनुभूतियों के लिए एक साँचा (पैटर्न) खोजता है और जब एक बार यह साँचा पकड़ में आ जाता है, तब वह उससे बाहर की ओर भी यदा-कदा संचरण

करके भीतर की ओर लौटता है। अर्थात लिखता भीतर से है और उनमें संशोधन और परिष्कार बाहर से करता है।"[9] रचनाकार का आत्मसातीकरण ऐन्द्रिय होता है। बाह्य वास्तविकता का प्रवेशद्वार इंद्रियाँ ही हैं—जैसे, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द। ये स्वाभाविक संगठन के अनुसार काम करती हैं। उसी के अनुसार बाह्य वास्तविकता का विशेष पक्ष आत्मवृत्त में शामिल हो पाता है। अवचेतन कोश की प्रकृति में उसकी विशेष स्थिति होती है। इसी से जुड़ा हुआ स्वतःस्फूर्त विस्फोट चेतन को साँचे की तलाश के लिए दवाव डालता है। इस अवसर पर भी आलोचना की हैसियत का दबाव पूरी तरह रूपान्तरित चरित्र के रूप में सालता है। बाह्य वास्तविकता के साथ ऐन्द्रिय योग और अर्जित संवेदनाओं की स्मृति या अवचेतन में संचयन की जो क्रिया होती है, वहाँ स्वयं प्रकाश्य और बाह्य वास्तविकता के साथ सक्रिय आलोचनाओं—जो यथार्थ की परतों का बोध करती हैं—के बीच द्वन्द्वात्मकता होती है। इसे और साफ़ समझें तो यह कि बाह्य वास्तविकता या युग का माहौल अमूर्त नहीं होता। उस ज़माने की जीवन्त समस्याएँ, ऊपर चलती बहसें, संवाद, प्रखर समीक्षाएं—रचनाकार के सामने होती हैं। मसलन बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में सांप्रदायिक दंगे खूब हो रहे थे। तमाम अख़बारों में उन पर पक्ष-विपक्ष में लेख छपते थे। एक ओर आचार्य चतुरसेन और रामचन्द्र टन्डन जैसे लेखक हिन्दूवादी नज़रिया अपना रहे थे; दूसरी ओर, प्रेमचन्द, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या ईसाई, जाति-भेद से दूर 'कर्बला' जैसा नाटक लिख रहे थे। 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार के लिए रचनात्मक नमूने पेश कर रहे थे। इससे क्या निष्कर्ष निकला ? यही कि ज़माने की ज्वलन्त समस्याओं पर अख़बारी बहसें, मौखिक विवाद, संघर्ष के मुद्दे रचनाकार द्वारा बाह्य वास्तविकता के आत्मसातीकरण के चुनाव में मदद करते हैं। दूसरी स्थिति अर्थात अवचेतन से चेतन की गतिविधि में अथवा प्रतिभा की सक्रियता में फिर स्वयंप्रकाश्य और संज्ञान की एकीकृत बौद्धिक हलचल के साथ टकराव होता है। यहाँ रचयिता के अन्तर्लोक का संयोजन होता है। अचेतन की सामग्री की अव्यवस्था समाप्त होती है और उनमें क्रमता पैदा होती है। क्रमता की पहचान के समय उसका अर्थ भी खुलता है। चेतन में ही अर्थ की व्याख्या हो पाती है, इसलिए अवचेतन यहाँ सार्थक पहचान प्राप्त करता है। यह अस्पष्ट अर्थ और निश्चित अर्थ के बीच संघर्ष है। यह स्मृति और वर्तमान का टकराव है। यह अतीत और जीवित सच्चाई की अन्योन्य-क्रिया है। इस स्थिति में अचेतन-चेतन में लगातार जुगाली होती है। इस क्रिया में वास्तविकता के साथ निजी सम्बन्धों का सामान्य सम्बन्धों की तरह रूपान्तरण हो जाता है। निजता से सामान्यता में रूपान्तरण से दोनों में परिवर्तन आता है। यह निजता समृद्ध होती है और सामान्यता विश्वसनीय। इससे रचनाकार में सापेक्षिक तटस्थता पैदा होती है। आमी लावेल कहते हैं कि, "कवि कुछ-

कुछ रेडियो के एरियल की तरह होता है—वह एक प्रकार से तरंगों में लहराते संदेशों को ग्रहण करता है, किन्तु वह एरियल से इस मामले में भिन्न है क्योंकि उसमें संदेशों को शब्दों के साँचे (पैटर्न) में रूपान्तरित करने की शक्ति होती है, जिन्हें हम कविताएँ कहते हैं।"[10] संदेशों को शब्दों में रूपान्तरित करने की क्रिया रचनाकार द्वारा इसलिए सम्भव है, क्योंकि वह इस क्रिया को जानता-समझता है। वह इस विद्या में दक्ष है। यहाँ कल्पना की क्रीड़ा में वह बार-बार शामिल होकर रूपान्तरण के कर्म को व्यापकता, समृद्धि और औचित्य प्रदान करता है। अवचेतन की संगति से उसमें सूक्ष्मता रहती है तथा चेतना की संगति से वैज्ञानिकता। किसी समय कल्पना की शक्ति को भी दैवी माना जाता था—परन्तु अब वह मानवीय नियंत्रण में है। वह मानसिक क्रिया है जिससे नये विचार या अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होते हैं। अव्यवस्था से कल्पना एक सुन्दर चीज़ रच देती है। आन्तरिक रचाव को आवयविकता प्रदान करने में इसकी अनिवार्य भूमिका है। यह शक्ति जब अव्यवस्था को संगठित कर उसे आकृति प्रदान करने में संलग्न होती है—तब भी उसे विकृति से टकराना पड़ता है। सुन्दर-बदसूरत का यह द्वन्द्व बाह्य वास्तविकता की एवज़ में चेतन स्थानीय कर्म है। काडवेल लिखते हैं, "सौन्दर्य का विरोध असौन्दर्य नहीं, कुरूपता करती है। कुरूपता की पहचान सौन्दर्यशास्त्रीय क्षेत्र में होती है। संवेदनाएँ ही सौन्दर्य और कुरूपता तय करती हैं। यह कहना सम्भव नहीं है कि किसकी कहाँ शुरुआत है और किसकी कहाँ इति। कुरूपता भी सौन्दर्य-शास्त्रीय मूल्य है।"[11] इस तरह जहाँ रचना है, इकाई है, रचना की तैयारी है, वहाँ विरुद्धों की उपस्थिति होती ही है। इन्हीं विरुद्धों के भीतर से विकास की गति ऊर्जस्वित होती है। "सौन्दर्य और कुरूपता, योग्यता और तुच्छता, उदात्तता और उपहास्यता—ये सभी विरोधी शर्तें जब सौन्दर्यशास्त्रीय रूप से प्रयुक्त होती हैं तो वे एक-दूसरे के साथ संपृक्त होती हैं, एक-दूसरे से निर्धारित होती हैं और जो गुण उनमें होते हैं, उससे भिन्न गुण पैदा करती हैं।"[12] इस तरह रचयिता के चेतन क्षेत्र की गतिविधि अनेक द्वन्द्वों की एकता और गतिशीलता निर्धारित करती है। वहाँ कई तरह से रचना और आलोचना—जो संवेदनाओं की बारीक कोशिकाओं के संघर्ष से बनते हैं—की द्वन्द्वात्मकता निहित होती है। कभी-कभी चेतन में रचना के निर्माण का संघर्ष काफ़ी समय तक चलता है और कभी जल्दी सम्पन्न हो जाता है। एक कवि कहता है कि कोई कविता उसके दिमाग़ में महीनों से घूम रही थी, अब वह कागज में उतर रही है। एक कवि पहले रचनात्मक आवेश के साथ रचना को लिख लेता है और फिर उसमें बार-बार श्रम करता है। वर्षों के बाद उसे तैयार पाता है। कई बार प्रकाशन के बाद दूसरे संस्करण में रचनाओं में सुधार होता है। 'कामायनी' के मूलपाठ में प्रसाद ने कई जगह बदला। निराला ने अपनी अनेक रचनाओं में तो इतना रूपान्तर कर दिया कि विश्वास नहीं होता। मुक्तिबोध

की कविताएँ लगातार बदलती रही हैं। इन सबको देखते हुए लगता है कि रचनाओं के पाठान्तर को केन्द्र में रखकर रचना-प्रक्रिया पर शोध किया जाना चाहिए। यह इसलिए कि ऐसा परिवर्तन मात्र माध्यम का नहीं है। कवि को वहाँ भाषा-शक्ति की व्यंजना में निरपेक्ष आशंका नहीं पैदा होती। यह मूलत: मानसिक गति-विधि में परिवर्तन है। कवि को कथ्य में संशोधन की ज़रूरत महसूस होती है। उसका अनुभव-क्षेत्र बढ़ जाता है, आलोचकों की प्रतिक्रियाएँ देख चुकता है, उस कथ्य के कलात्मक संयोजन में कमज़ोरी मालूम होने लगती है—तब उसे पूरी रचना या उसका कोई अंश अपूर्ण लगने लगता है। ह्यार्थर्न लिखते हैं कि, "यदि रचना-कर्म अभी भी मानस में विकसित है तो वह स्थिर होकर नहीं रह सकता। वह अपरिवर्तित, अविकसित भी नहीं हो सकता। हमारा परिवर्तनशील ज़ीवन और चेतन इच्छा, आत्म-वस्तु सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक प्रकृति के कारण इन सबमें चाहे-अनचाहे परिवर्तन कर देते हैं।"[13] प्रकाशित रचना में संशोधन के लिए कोई रचयिता सहज ही तैयार नहीं होता। यह उसके लिए कठोर निर्णय होता है—जैसे कोई वादी अपने मूल दावे में परिवर्तन के लिए जल्दी तैयार नहीं होता। अनिवार्यता के दवाव में ही वह इस तरह का कठोर निर्णय लेता है। प्रश्न है कि वह अनिवार्यता किसकी है, क्यों पैदा होती है?

नोबुल पुरस्कार-विजेता ओटो लोवी (Otto Lolwi) ने शोध किया कि स्नायुओं की क्रियता में सक्रिय रसायन संलग्न रहते हैं। इसी शोध की व्यावहारिक निष्पत्ति थी कि, "कल्पना (तर्क नहीं) नये का उत्पादन करती है। जैविक उत्तरा-धिकार में होने वाले परिवर्तन सामाजिक उत्तराधिकार पर आधारित होते हैं। यह निर्धारण सर्वोच्च शक्तिवान की उपस्थिति से होता है। इसमें तर्क-शक्ति का उपयोग तब होता है, जब निर्णय नये के विकास का संकेत देता है। नया तत्त्व तमाम बालू से सोने के दाने छान लाता है और समर्थ के अस्तित्व को आश्वस्त करता है।"[14] लोवी का कहना है कि नये का सृजन कल्पना से ही होता है। बच्चों में मुक्त कल्पना होती है। सपनों अथवा नींद की दवाइयों के सेवन से भी कल्पनाएँ उभरती हैं, पर ये कल्पनाएँ आसान होती हैं। इनसे विचार नहीं पैदा होते। इसलिए अनुभव और दक्षताएं इन्हें दबाती हैं। (क्योंकि उनमें विचार होते हैं) "आशा-मोही व्यक्ति जब कल्पना की उड़ानों से थक जाता है तब वह चेतन और आलोचन-शक्ति से कल्पना को शक्ति देता है। यहाँ मानसिक गतिविधि की ऊष्मा से फैन्टेसी की कोमल सिलियाँ बन जाती हैं—जिसमें से कठोर, इस्पाती, संस्कारित सृजन होता है।"[15] मि० जेरार्ड के कथन से निष्कर्ष यह निकलता है कि सृजन के लिए कल्पना-शक्ति ज़रूरी है। चेतन के अनुभव और तर्क-शक्ति से उसे प्रौढ़ता दी जानी चाहिए, पर उसकी प्राथमिक हैसियत को समाप्त नहीं करना चाहिए। सृजन उसकी वरीयता के बिना संभव नहीं। उन्होंने कल्पना को जैविक-रासायनिक

परिणति बताया। यहाँ कल्पना और विचार के द्वन्द्व में रचना के लिए कल्पना को प्रमुख मान्यता मिली है। इस आधार पर कह सकते हैं कि—

जब कवि महीनों किसी रचना पर सोचता है, या रची जाने के बाद सम्पादन करता है या दूसरे संस्करण में सम्पादन का निर्णय लेता है—तो इसका अभिप्राय भी यही हैं कि कल्पना और तर्क-शक्ति के संघर्ष में दोनों ने अपने निर्णय बदले हैं। दोनों क़रीब आये हैं। कल्पना ने अपनी उड़ान को यथार्थ की ओर किया है और तर्क-शक्ति ने सृजन की ऊर्जा पा ली है। चेतन-अचेतन में जुगाली की क्रिया निरन्तर चली है। जुगाली की क्रिया अचेतन की न जाने कितनी रहस्यमूलक क्रियाओं को परिभाषित कर देती है। रचना में पहले जो छूट गया होता है, वह बाद में जुड़ जाने को तड़पता है। उस तड़प के पीछे एक कारण यह भी है कि रचे जाने के बाद रचयिता स्वयं उसका पाठक, आस्वादक और आलोचक हो जाता है। वह रचना रचनाकार से भी आज़ाद होकर अस्तित्ववान हो जाती है। तब वह रचनाकार से भी पुनर्परीक्षण की माँग करती है। "इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि रचनाकाल में कोई कृति कर्त्ता का अनुभव ही है, पर रचे जाने के बाद इसका एक स्वतंत्र अस्तित्व हो जाता है और उस समय स्वयं रचनाकार एक विशिष्ट पाठक बन जाता है।"[16] रचयिता का बार-बार पाठक बन जाना इसका सबूत है कि वह रचनाकारों की बिरादरी के साथ पाठकों और आलोचकों की बिरादरी का भी है। जब वह रचना करता है तो उस समय पाठकों का एक अदृश्य समुदाय उसके चेतन में टकराता है। जैसे-जैसे रचना का स्वरूप बँधने लगता है—उसे पाठकों के स्वर सुनायी पड़ते हैं। आलोचकों की तीखी बातें चुभती हैं। रचनाकाल के पूर्व तक के आलोचकों से वह जुड़ा होता है और आ गये आलोचकों के लिए वह रच रहा होता है। तभी वह अपने चेतन संगठन और भाषाकार को आगाह करता रहता है। इसी से अंतर्दृष्टि विकसित होती है। मनोविज्ञान की जेस्टाल्ट-पद्धति ने अन्तर्दृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया भी खोज ली है। इसके अनुसार, अन्तर्दृष्टि और कुछ नहीं, केवल सीखने और समस्याओं के समाधान की कल्पनात्मक राह है। अन्तर्दृष्टि की ज़रूरत हर रचनाकार को महसूस होती है। उन्हें यदि भ्रम होता है, तो तर्क के क्षेत्र में वे सोच सकते हैं कि सृजन के लिए तर्क-शक्ति ज़रूरी नहीं। इसीलिए कई बार भोले रचनाकारों की अध्ययन के प्रति रुचि नहीं होती। वे रचनाओं को पूरी तरह स्वच्छन्द और स्वतःस्फूर्त मान लेते हैं। मतलब यह कि वे अन्तर्दृष्टि की महता को अनजाने भी अस्वीकार नहीं करते। इस संदर्भ में जेरार्ड ने सर्जक और आलोचक को आगाह करते हुए लिखा कि, "अधिक कल्पनाशील सर्जक तथा अधिक तार्किक आलोचक में अनिवार्यतः अन्तर होता है। पहले को शिक्षा के लिए चेतन के तर्कपूर्ण क्षेत्र की ओर निर्देशित किया जाना चाहिए। उसकी यह कमी कथ्य और अभ्यास के द्वारा दूर की जा सकती है। यदि स्वयं-

प्रकाश्य और सचेतनमुखी कल्पना की अधिकता को हम संस्कारित कर सकें तो अभी भी हमें बहुत-से रहस्यों की जानकारी मिल सकती है। ख़तरा इसमें है कि तर्क से कल्पना को इतना न बाँध दिया जाये कि जिससे काल और सामर्थ्य की महान संभावनाएँ विचारों की एवज़ में बीमार कर दी जायें।"[17]

चेतन-अचेतन की जुगाली में रचनाकार की कल्पना में पुराने का अतिक्रमण करने की शक्ति होती है, इसीलिए ही वह निरन्तर गत्यात्मक हो जाती है। उलाँ-घने की मनोवृत्ति उसमें सहज हो जाती है। वातावरण के रस को निचोड़कर वह उसमें ऐसा रचनात्मक उद्देश्य समा देता है कि फिर जब उसकी रचना वातावरण के पास पहुँचती है, तो उसे उसमें चमत्कार-सा लगता है। आस्वादक सोचता है कि उसकी ही वस्तु उसे इस तरह मिली है, जिस तरह उसने पहले नहीं सोचा था। इसलिए आस्वादक में रसग्राही शक्ति तो है, पर उसमें आलोचनात्मक विवेक का अभाव रहता है। व्यक्ति इस मामले में विशेषज्ञ हो जाता है। उसके पास भावन और आलोचन दोनों दृष्टियाँ होती हैं। अपनी रचनात्मक दक्षता के बलबूते वह आलोचन-शक्ति की नीरसता समाप्त कर देता है। बल्कि उसे वह रचना के चित्रा-त्मक ढाँचे में ढाल देता है। लूनाचार्स्की लिखते हैं कि, "कलाकार को वह अभि-व्यक्ति करनी चाहिए, जो पहले न की गयी हो। पहले प्रस्तुत किसी तथ्य का पुनरुत्पादन रचना नहीं है।...उसके पास नया कथ्य होता है, और हर नया कथ्य नये रूप की माँग करता है।"[18] एक बात का ध्यान रचयिता को हमेशा रखना चाहिए कि उसमें प्राचीनता को उलाँघने की जो शक्ति होती है—वह उसकी स्वतःउदभूत न होकर, ऐतिहासिक प्रक्रिया के बोध पर निर्भर है। बल्कि, "नये और गतिशील का निर्णय ही इस बात पर निर्भर है कि रचयिता की समग्र ऐति-हासिक प्रक्रिया किस स्थिति में है? यह वास्तविक एवं उल्लेखनीय आन्दोलनों की व्याख्या की सहायता से सम्भव है। जीवन में अनेकमुखी प्रवृत्तियाँ, संघटनाएँ आपस में प्रतिच्छेदन करती तथा उमड़ती रहती हैं। नये की पहचान के लिए प्रथम दृष्टि में ही उद्वेलित करते अथवा अचंभे में डालते कौन-सी चीज़ उभरती है, उसकी पहचान में ग़लती नहीं की जानी चाहिए।"[19] यह बात विशेष रूप से रचयिता के लिए ही है। क्योंकि ऐतिहासिक प्रक्रिया का बोध, नये के लिए बेचैन तथा उल्लेखनीय जन-उभारों की शृंखलाओं की परम्पराओं से गुँथकर ही वह गति-शील प्रक्रिया में जुड़ पाता है। गतिशील प्रक्रिया में जुड़ने से नवीनता की कोमल तरंगें उसमें बार-बार सीमा लाँघती हैं, जिन्हें उसे पहचानना चाहिए। यह सूक्ष्म मानसिक क्रिया है। इसे तभी पहचाना जा सकता है, जब रचयिता चौकन्ना रहता है।

रचनाकार की अन्तिम भिड़न्त परम्परागत माध्यमों से होती है। चेतन के व्यापक संघर्ष से निथरकर जब लगभग निश्चयमूलक, स्वायत्त, रचना के

योग्य आकृति मँडराने लगती है, तव वह अभिव्यक्ति के लिए द्वार तलाशती है। अचेतन की जुगाली छूट जाती है और चेतन-माध्यम की जुगाली शुरू हो जाती है। मुक्तिबोध ने इस तरह कहा है, "यह कला का दूसरा क्षण है कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन-महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं और हमारे लिए वह आत्मतत्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन, अर्थात हमारे लिए भाषा सामाजिक है। इसके, उसके शब्द-संयोग, भावपरम्परा और ज्ञान-परम्परा से पूर्ण हैं। अतएव हमें अपने हृदय-तत्त्वों को उनके मौलिक रूप, रंग और भार में स्थापित और प्रकट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो हमें नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही, कल्पना-शक्ति भी नवनवीन रूप-बिम्बों का विधान करती है, जिनसे मन-तत्त्व अपने मौलिक रूप रंग में प्रकट हो सके।"[20] माध्यम की खोज की बात मुक्तिबोध के अनुसार कला का तीसरा क्षण है। माध्यम क्या है—कृति! कृति बनती किन तत्त्वों से है—ऐन्द्रिय आकार देने वाले तत्त्व—रंग, रेखा, शब्द। इससे ढाँचा बन जाता है। बुद्धि शब्दों-साहचर्यों के संयोग तय कर इन्द्रिय रूप को गहराई देती है। जीवन की भाँति उसे भंगिमा के अनेक स्तर मिल जाते हैं। वह परम्परागत अर्थ-विन्यास, व्यंजनाशक्ति तथा वैचारिक सीमाओं को पहचानती है। इस तरह ऐन्द्रिय आकृति तथा विवेकसम्मत अर्थप्रवाही भाषा का संगठन करने से कृति बन जाती है। रचयिता यहाँ कुशल और साधक शिल्पी का रूप धारण करता है। शिल्प के औज़ार या तत्त्वों को वह सहयोग के लिए आह्वान करता है। यह आह्वान एकांगी नहीं हो सकता। इसलिए कि शिल्प या माध्यम की अपनी भी परम्परा है। उसकी भी इतिहास और वर्तमान से संपृक्ति है। उसकी संरचना में अलग-अलग अंग हैं—जिनके बीच अन्तर्सम्बन्ध हैं। जैसे—वर्ण, शब्द, पद, वाक्य, लय, ताल, ध्वनि, आरोह-अवरोह, छन्द, अलंकार आदि। शिल्प के अपने औचित्यमूलक फैसले हैं। इन सबको भूलकर वह कलाकार के साथ आत्म-समर्पण क्यों करे? रचनाकार के आत्मादेश की निरंकुशता को वह क्यों बर्दाश्त करे? शब्दों की शक्ति बड़ी व्यापक होती है। वस्तुतः उसी ने मनुष्य की समग्रता को सुरक्षित रखा है। ज्ञान का ऐसा कोई हिस्सा नहीं, जो शब्दों के बिना मूर्त हो। मानविकी, विज्ञान, और संस्कृति का सारा ऐतिहासिक प्रवाह भाषा में संवेदित होता है। गणित, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि की भाषा के संयोजन अलग-अलग होते हैं। कला इन सभी संयोजनों से अन्तर्सम्बन्ध रखते अपना संयोजन करती है। वह सपाटता और अमूर्तता के ख़िलाफ़ संघर्ष करती है। कला की भाषा में

सजीवता और विश्वसनीयता तभी आती हैं, जब उसमें ज्ञानात्मक भाषा के अन्तर्सम्बन्धों का संवेदनात्मक निचोड़ शामिल होता है। रचयिता की आत्म-स्वीकृत आकृति शब्दों में उतरने के लिए जिस तरह बेचैन होती है; उसमें कई तरह के द्वन्द्व होते हैं। आकृति और रंग, आकृति और ध्वनि, आकृति और ताल-लय, आकृति और पद, आकृति और शब्द, आकृति और वाक्य तथा आकृति और अलंकार आदि। ये सभी अंग-रूप या शिल्प बनाते हैं। शिल्प स्वयं आन्तरिक आकृति का विकल्प नहीं, विकास भी है। रचयिता विशेष प्रकार के रूप को समूह के रूप में तथा एक-एक अग की भी जाँच से अपनी प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है। बकौल मुक्तिबोध, "यहाँ से शब्द-साधना शुरू होती है। शब्द के अपने ध्वनि-अनुसंग होते हैं, जिसमें चित्र और ध्वनि दोनों शामिल हैं। कलाकार अपने हृदय के तत्त्व के रंग, रूप, आकार के अनुसार अभिव्यक्ति का रंग-रूप और आकार तैयार करना चाहता है। इसलिए इसे अपने हृदय की भाव-ध्वनियों की, शब्दों की अर्थ-ध्वनि से अनवरत तुलना करनी पड़ती हैं।"[21] शब्दों के सहायक और संवेदित तत्त्व जनता के बीच पूरी ऐतिहासिक परम्परा में जीवित हैं। इसलिए उनमें जन-संवेदना, विश्वास और सोच का स्तर शामिल होता है। अतएव जब रचयिता की अन्तर्यात्रा का बिम्ब उसमें टकराता है, तो यह वस्तुत: स्थूल रूप में रचना और आलोचना का टकराव होता है। भाषा की ओर से तमाम संस्कृति, प्रबुद्ध अर्थ-निष्पत्ति और आन्दोलन का तेवर रचयिता की वैयक्तिकता से द्वन्द्व करता है। द्वन्द्व में दोनों प्रभावित होते हैं। प्रभाव का हर अणु सृजन को क्रियाशील करता है। जो चीज़ बनती जाती है, वह निर्वैयक्तिक होनी शुरू होती है। रचना, जो रचयिता से मुक्त होकर अस्तित्ववान होती है, वास्तव में वैयक्तिकता-निर्वैयक्तिकता के संघर्ष की निर्वैयक्तिक परिणति है। तभी रचना प्रतिनिधि बन जाती है। पूर्व की स्थिति में निजता की वरीयता होती है और अभिव्यक्ति के बाद सार्वजनीनता की निरन्तर सार्वजनीन होती हुई रचना-प्रक्रिया के दौरान निजी आकृति में परिवर्तन करती है। रचनाकार की नियति, उसका भावात्मक उद्देश्य—जो मानसिक आकृति में घुला होता है—और अधिक प्रौढ़ तथा विश्वसनीय होता है। कई बार नीयत ठीक होने के बावजूद भावात्मक उद्देश्य रचना के ढलान में बचकाने सिद्ध होते हैं। सरलीकरण की शिकायत खुद ही महसूस होने लगती है। यह इसलिए कि भाषा से रचे हुए सामाजिक अनुभव के सामने उसकी औक़ात छोटी सिद्ध हो जाती है। रचनाकार का आत्मविश्वास नितान्त भोला ठहर जाता है। तभी तो उसे अपने अनुभवों को भी भाषा की अनुभूति सिद्ध करना पड़ता है। रचयिता के ऊपर निर्भर है कि उसकी आन्तरिक आकृति कितने विरुद्धों से टकराकर बनी है। उसके जीवित अनुभव का क्षेत्रफल कितना है? कलात्मक परम्परा की उसकी सिद्धि क्या है? भाषा की शक्ति का उसका बोध कितना मार्मिक है—आदि। जो रचनाकार यह

पहले भोग लेता है—गहरे तथा व्यापक संदर्भों में—उसके लिए उस दौर में कठिनाई नहीं होती। उसके मोह भी ज़्यादा घनीभूत नहीं होते। उसके आत्म-विश्वास और रचनात्मक आवेग इतने सन्तुलित होते हैं कि उसे बहुत ज़्यादा संशोधन नहीं करना पड़ता। जो करता है—उसे निर्ममतापूर्वक करता है। चित्र-कार की स्थिति इस मामले में ज़्यादा प्रत्यक्ष होती है। मेरा एक मित्र राष्ट्रीय स्तर का प्रगतिशील चित्रकार है। मैं देखता हूँ कि कभी-कभी चित्र बनाने बैठता है तो एक-एक रेखा, रंग-संयोजन के लिए रातें गुज़ार देता है। उसके चेहरे में तनाव देखे जाते हैं। इस अवधि में किसी से बात करते या सुनते वह अनुपस्थित-चित्त होता है। मैं जानता हूँ कि उसके भीतर हलचल चल रही होती है। कोई रंग चुनता है, रंग उसका कहना नहीं करता। क्योंकि वह जनप्रतिनिधि है—कलाकार का नहीं। कलाकार उसकी आवाज़ सुनता है। वह रंग की पारदर्शिता पहचानता है। रचनाकार-रंग-जनता की एक गति या प्रवाह जब तक न बने—उस दोस्त की बेचैनी शांत नहीं होती। जब उसे पूरा कर लेता है, तो खुशी से झूम जाता है—चाहे उसने चित्र गहरी पीड़ा का ही क्यों न बनाया हो? कविता के क्षेत्र में यह काम तो और जटिल है। यह अपेक्षाकृत कृति रूप में भी पूरी तरह मूर्त नहीं रह पाती। उसमें चित्र भी शब्दों, ध्वनियों तथा माहौल के संयोग से बनता है। रचनाकार मानसिक आकृति की एक-एक तरंग को खोलकर चाहता है कि वह शब्दों के आस-पास बँध जाय। शब्द उस तरंग में लहराने लगें। तरंग और शब्दों की मुठभेड़ में जो भी प्रसंगहीन होता है—जितना प्रसंगहीन होता है। उतना बदल जाता है। फिर मुक्तिबोध को सामने लायें। उन्होंने समूची प्रक्रिया को समेटते हुए कहा कि "इस प्रकार कला के तीसरे क्षण में मूल द्वन्द्व है—भाषा तथा भाव के बीच। इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया और संघर्ष बहुत उलझे हुए होते हैं और वे उन दोनों को बदलते रहते हैं। इन दोनों में संशोधन होता जाता है। यह द्वन्द्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सृजनशील है। भाषा, एक परम्परा के रूप में फ़ैन्टेसी के मूल रंग को, विस्तृत कर देती है।"[22] इस गहरे संघर्ष को झेलकर ही रचना बनती है। वह रचना सुन्दर होती है।

आलोचना की प्रक्रिया का अन्तरावलम्बन

आलोचना के दायरे पर बहुत विवाद रहा है। यहाँ यह चर्चा प्रसंगहीन है। इस स्थान में उसकी वैज्ञानिक तथा समकालीन स्थिति के अनुरूप विश्लेषण उचित रहेगा। यह मानकर चलना होगा कि आलोचना नीरस और अरचनात्मक कर्म नहीं है। वह कला का एक अंग है। उसी ने कला को माँजा, लोकप्रिय बनाया और रचयिता की रहस्यमूलक अन्तर्यात्रा को परिभाषित किया है।

आलोचना इस तरह पुनर्रचना है। रचनाकार की तरह की आज़ादी उसे

पहले नहीं मिलती। आरम्भ में उसका कर्म रचना में प्रवेश करना, धँसना, उसके रग-रग को पहचानना, उसका भावात्मक-रागात्मक साक्षात्कार करना होता है।

चूँकि तदाकार ज्यों का त्यों नहीं होता—कवि की अनुकृति नहीं होता—उसमें गृहीता का निजत्व शामिल होता है, इसलिए यह कर्म भी सृजन की सीमा में आता है। प्रश्न है कि तदाकार फिर क्या है? क्या आलोचना अपनी आज़ादी से रचना को किसी भी तरह समझने को आज़ाद है? स्पष्ट है कि नहीं? आलोचक का काम है—रचना के अवयवों को खोलकर उनके संयोजन, अनुपात, समरूपता, सामंजस्य आदि को जान ले। फिर देखे कि इन संयोजनादिक से ही बनी आकृति क्या उसके रचनाकार मानस में उभरती है? उसको विभिन्न संयोजनों से बनी रचनाओं के नमूने मालूम हैं। संयोजनों के बदलने पर नयी कृति का बिम्बन भी उसके लिए कठिन नहीं। तुलनात्मक मनीषा के कारण रचना-विशेष के साथ तदाकार की स्थिति में रमते हुए उससे मुक्त भी होता है। उसके रमण का क्षण छोटा या बड़ा हो सकता है। एक रचना की स्वायत्त अनुगूंज उसे दिनों तक परेशान कर सकती है और जल्दी ही मिट भी सकती है। आलोचक को इस तरह रचना के साथ तब तक जूझना ज़रूरी है—जब तक माध्यम के साथ एकतान, बहुतान, समरूप, विषमरूप के द्वन्द्वों से न गुज़र ले। एकतानता में माध्यम और आस्वादक-मानस में परस्पर विलयन, समरूप में समानता की रक्षा, रक्षा का एहसास, बहुतान में रचना-विशेष के उन संयोजनों के औचित्य का बोध करते हुए कल्पना के सहारे अन्य विकल्पों का बिम्बन और तदाकार होना तथा विषम रूप में उसके विलोम बिम्ब-साक्षात्कार की क्रियाएँ शामिल हैं। रचना में अन्तर्लोक अपनी स्वायत्त वरीयता को कायम रखते हुए आगे बढ़ता है, आलोचना में रचना की वरीयता की रक्षा की जाती है। उसको केन्द्र में रखकर वृत्त की संभावनाओं की खोज की जाती है। रचनाकार के मानस में आलोचक उपस्थित रहता है—उससे प्रतिवाद करता है, रचयिता प्रतिवाद को अपनी इच्छा से उपभोग करता है, आलोचना में रचना के माध्यम से रचयिता उपस्थित होता है—जिसे वह अपनी निजता के अनुरूप ढाल लेता है। एक की द्वन्द्वात्मक इच्छा का परिणाम रचना और दूसरी की आलोचना। आलोचना की वरीयता पर टिप्पणी है कि, "समीक्षक बाहर की ओर से प्रभाव ग्रहण करता है एवं भीतर की ओर से महत्त्व का आकलन करता है। पर यह होता एक ही समय और साथ-साथ है।"[23]

समीक्षक पहले सामान्य जनता का, फिर प्रबुद्ध और संस्कृत आस्वादकों का तथा अन्त में संभावना का प्रतिनिधि होता है। इतना बड़ा दायित्व लेकर वह रचना की आन्तरिक प्रक्रिया में धँसने की ज़िम्मेदारी उठाता है। कविता का पहला प्रबुद्ध आलोचक भामह कवियों की कठोर परीक्षा का हिमायती है। उसने आलोचकों के सामने कविता की पड़ताल का प्रतिमान देते हुए कहा कि वे कविता को

कैसे समझें—मसलन, "कविता एक तपस्या है। कवित्व के लिए व्याकरण, छन्द, अभिज्ञान कोष, इतिहास, लोकव्यवहार, युक्ति, कला आदि से परिचय आवश्यक है। सत्काव्य का पठन तथा विद्वानों का उपासन भी उसके साथ होना चाहिए। यह तो सही है कि बिना प्रतिभा के काव्य का सर्जन नहीं होता, किन्तु उस पर व्युत्पत्ति का अध्ययनपूर्वक संस्कार न हो तो वह प्रतिभा प्रकाशित नहीं होती, और इतने परिश्रमों के बाद कोई विरला ही 'महाकवि' के नाम से प्रसिद्ध हो पाता है।"[24]

भामह कविता की शिक्षा के प्रयास में इस तरह के उपदेश करते हैं। वे काव्य में वाक्-विलास और कौशल को काव्य की सिद्धि मानते हैं। नागरक-विदग्ध गोष्ठियों में, सहृदयों की उपस्थिति में, सरस्वती के मन्दिरों की प्रतियोगिता में वक्र और विदग्ध कथनों से युक्त रचना को वे कविता मानते थे। उनका लक्ष्य युगीन वास्तविकता के द्वन्द्व से उपजी मानसिकता को रचना-प्रक्रिया में ढालना नहीं है। वे कविता को आकर्षक चाहते हैं, जिसका आधार वक्रता ही होती है। प्रतिभा का काम यही है कि वह व्युत्पन्न होकर आकर्षक काव्य प्रस्तुत करे। व्युत्पत्ति का काम है कि वह प्रतिभा को आलोकित करे—उसे महाकाव्यत्व की ओर ले जाय। दण्डी तो प्रतिभा की वरीयता भी समाप्त करते हैं। वे व्युत्पत्ति को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं जितनी प्रतिभा। प्रतिभा के अभाव में रचना संभव है, व्युत्पत्ति के बिना नहीं। भामह, दण्डी का लोक जीवनविशिष्ट आस्वादकों पर निर्भर था। वे आकर्षक और वक्र कथनों के सामाजिक मनोविज्ञान की गहराई में नहीं जा सके। इसलिए उनके आधार प्रबुद्ध और संस्कृत आस्वादक थे। परन्तु इतना तय है कि उन्होंने अमूर्तन को प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्होंने आलोचनात्मक शास्त्रीय और कलात्मक चुनौतियों से रचनाकार को टकराना अनिवार्य माना। यदि उनका परिवेश दरबारी न होता, तो रचना का बेहतर यथार्थ सौन्दर्यशास्त्र पेश करते। वे रस की सत्ता से आगे बढ़ जाते, क्योंकि रस की व्याख्या बाद में कृति की उपेक्षा करने लगी थी।

इस युग की एक झलक प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह था कि रचना और आलोचना के अन्योन्य रिश्ते की शुरुआत समकालीन नहीं है। इसके स्रोत प्राचीन कलाग्रन्थों में भी मिलते हैं। विकास की नयी मंज़िल में हम उसके सामाजिक मनोविज्ञान तक जा सके हैं, जहाँ प्रतिभा का दैवी रहस्य भी खुल गया है। स्वयंभू तत्त्वों को अन्य सामाजिक क्षेत्रों की तरह कला के क्षेत्रों में भी काफ़ी धक्का लगा है। पर यह सब अचानक नहीं—रचना और आलोचना की सामाजिक सम्बद्धता और स्वयं की द्वन्द्वात्मकता के कारण हुआ। "पश्चिम में प्लेटो के बाद, उसके शिष्य अरिस्टाटिल के समय से, नयी-नयी समीक्षा-दृष्टियों का विकास होने लगा और वर्तमान युग तक तो उनकी विशाल परम्परा हम देख ही रहे हैं। सृजन-

मूल्यों की टकराहट, उखाड़-फेंक, पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास में ही नहीं, भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भी प्रचुर है।"[25] जरूरत इस बात की है कि रचना के इस द्वन्द्वात्मक विकास की खोज की जाये—ताकि इतिहास के विभिन्न कालखंडों में लदे अमूर्त सरोकार घटें।

आलोचना की जिम्मेदारी रचना की विकासमूलक बाधाओं को साफ़ करना, पूरे उन्मोचन का वातावरण बनाना तथा अराजकता से बचाना है। यह कैसे होगा? इस प्रसंग में पहली बात यह है कि उसे सामाजिक विकास की प्रक्रिया के भीतर से कलात्मक विकास की प्रक्रिया का बोध होना चाहिए। हर मोड़ पर उसकी जानकारी यह हो कि तत्काल समाज और कला के रिश्ते में कैसी स्थितियाँ सक्रिय रहीं हैं? वर्ग-समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्ध ही उन रिश्तों को प्रामाणिक बना सकता है। ये सम्बन्ध कहीं राजनीतिक केन्द्र से, कहीं मनोवैज्ञानिक या कहीं समाज-वैज्ञानिक केन्द्र से फूटते हैं। ये मनुष्य की समग्रता के केन्द्र से जब तक स्रवित नहीं होते तब तक एकांगी होते हैं। मध्य युग के चर्च और मन्दिर, मनोवैज्ञानिकों की यौन व्याख्या में यांत्रिक समाजशास्त्रियों की—सांस्कृतिक अनुकृतियाँ—रचना के विषय में निरपेक्ष भ्रामक फैसले करती हैं। जरूरत है मनुष्य को समग्रता में पहचानने की। आलोचना को यही काम करना होता है—रचना के मार्फ़त। रचना के मार्फ़त इसलिए कि वह विशुद्ध दार्शनिक के बजाय रचना का दार्शनिक होता है। रचना का दार्शनिक होने में उसकी दोहरी भूमिका होती है—सामाजिक-दार्शनिक होकर वह उसे रचना के भीतर पाने और उसकी संभावना को निर्देशित करने का काम करता है। इस तरह की विकसित दृष्टि का आलोचक, "किसी एक साहित्यकार अथवा एक साहित्यिक कृति का समुचित मूल्यांकन भी इतिहास हो सकता है, क्योंकि मुख्य प्रश्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का है। वास्तविक आलोचक किसी एक कृति का मूल्यांकन करते समय परोक्ष रूप से साहित्य की समस्त कृतियों का मूल्यांकन करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह मूल्यांकन ही नहीं है और उसके अन्तर्निहित प्रतिमान में कहीं-न-कहीं असंगति है। जो हर रचना के मूल्यांकन के लिए एक नया प्रतिमान इस्तेमाल करता है अथवा किसी कृति का मूल्यांकन उस कृति के अनुरूप प्रतिमान से करता है और उस कृति के समय उसे भूल जाता है—उसे गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास ही कहा जायेगा।"[26] आलोचना की प्रक्रिया की चर्चा हो चुकी है। वहाँ हमने पाया है कि आलोचक रुचि, संस्कार और ऐतिहासिक विवेक के अनुरूप रचना से साक्षात्कार करता हुआ, उसको भोगता हुआ—मूल्यांकन की स्थिति तक पहुँचता है। वहाँ पहुँचकर वह दार्शनिक के समकक्ष पहुँच जाता है। यहाँ हम यह देख सकते हैं कि अपनी दृष्टि के निर्माण में उसको किन रचनात्मक स्थितियों से गुज़रना पड़ता है। वह कहाँ-कहाँ रचनाकार के नजदीक पहुँचता हुआ छूट जाता है। आलोचक में विवेक के जिस नैरन्तर्य का प्रश्न नामवर जी

ने उठाया है—उसे भलीभाँति समझना आवश्यक है। ज्ञान की आधुनिकतम मीमांसा का साक्ष्य है कि विवेक के नैरन्तर्य का मसला एकमात्र द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद-ऐतिहासिक भौतिकवाद ने हल किया है। इस दृष्टि के तहत मनुष्य की नयी दुनिया अपने समग्र चरित्र के साथ निर्मित हो चुकी है—काव्य का क्षेत्र उसमें शामिल है। समाजवादी देशों में पूरी तरह तथा अन्य देशों में प्रमुख प्रकृति के रूप में ऐतिहासिक-भौतिकवादी जीवन-मूल्यों के रचनात्मक संस्कार पैदा हो गये हैं। इनके अनुरूप रचनाएं भी की गयी हैं। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण के लिए प्रभूत रचनात्मक सामग्री उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में आलोचना के निर्माण के जो मुद्दे विकसित हो रहे हैं—वे महत्त्वपूर्ण हैं। पहला मुद्दा है कि आलोचक किसी कृति को दुनिया के बीच देश-काल की सीमा में पले व्यक्ति की रचना मानता है। इसीलिए उसकी वस्तु, पात्रों का चरित्र, घटनाएँ या विचार—कहीं बाहर से नहीं आते। वे उसी सीमा में से कहीं से हैं। कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अनेक परतों से ढके हुए। ये स्थितियाँ समकालीन होकर भी सुदूर अतीत से छनी आती हैं। वे मानव-संस्कारों में घुलकर यात्रा करती रही हैं। आलोचक इस सघनता की तह तक पहुँच जाता है। यह पात्रों की आत्मा का इतिहास होता है। रचनाओं में आत्मा के इतिहास के रचे हुए प्रतीक पाये जाते हैं। दूसरा मुद्दा है कि आलोचक यह देखे कि उस रचना की घटनाएँ, विचार और पात्रों की गतिविधियाँ वैसी ही क्यों है? शेखर 'गोदान' का पात्र क्यों नहीं है? राम और रावण के युद्ध पर आधारित महाकाव्य मुक्तिबोध ने क्यों नहीं लिखा? चतुरसेन और यशपाल के उपन्यासों के चरित्र की दृष्टि से पात्र अलग-अलग क्यों हैं? इतना ही नहीं, नागार्जुन की ही चौथे दशक की कविताएं आठवें दशक से भिन्न क्यों हैं? समकालीन एक रचनाकार में अवधि का फ़र्क, दूसरे रचनाकारों में निजता के फ़र्क, इतिहास की लम्बी दूरी के फ़र्क ऐतिहासिक विवेक से समझे जाते हैं। यह विवेक विश्लेषण के ज़रिये देखता है कि हर क्षण परिवर्तनशील जीवन पीछे नहीं लौटता। वस्तु को देखते-देखते वह वस्तु तथा दृष्टि—दोनों बदल जाती हैं। यह बदलना उस समय महसूस होता है, जब गुणात्मक अन्तर आ जाता है। पानी का परिवर्तन तभी जाना जायेगा जब वह बर्फ या वाष्प में बदल जायेगा। कली का फल में बदलना—पेड़ की एक क्षण की घटना नहीं—उस धरती की कहानी होती है। इस तरह आलोचक की ज़िम्मेदारी है कि वह वस्तुओं-घटनाओं-पात्रों को सृष्टि के सातत्य में महसूसे। दूसरी रचनाओं की परस्परता में उसे जाँचे। व्यवस्था के प्रकार, रचनाकार की दृष्टि और सपने की खोज करे। तीसरा मुद्दा यह है कि रचनाओं में से आलोचक उन तत्त्वों की खोज करें, जो विकासशील हैं। ऐसे भी लेखक होते हैं, जिनके लिए कुछ भी विकासशील नहीं है। वे चारों ओर अंधकार और ह्रास देखते हैं। उनके अनुसार विनाश कभी भी संभव दिखता है। ऐसी रचनाओं की निराशा-

मूलक प्रक्रिया में काफ़ी अन्तर्विरोध होते हैं। गतिशील जीवन्त तत्त्वों की झलक उनमें होती है, पर लेखक उन्हें घेर कर दबाता है। वहाँ दबाने की कोशिश दिख जाती है। जैनेन्द्र के पात्र जान-बूझकर मोड़े हुए जान पड़ते हैं। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' में वीणा की असाध्यता को बरवस रहस्यमूलक बना दिया गया है। कई रचनाएँ जबरन पात्रों से हृदय-परिवर्तन कराती हैं—जब कि पात्र का विकास उसके लिए परिपक्व नहीं होता। ग़लत विचार-मोड़ तथा यथार्थ का संस्पर्श रचना के अन्तर्विरोध को खोले बग़ैर नहीं रहते। कभी रचना में इतने टुकड़े नज़र आते हैं—कि वह अपनी समग्रता खो देती है, वह अमूर्तन की वकालत करने लगती है। आलोचक की ज़िम्मेदारी है कि रचना के भीतर से टिमटिमाती आशा-उत्साह की गतिशील किरण को पकड़े। निराला की भाँति—"रहा राम का एक और मन जो न थका" (राम की शक्ति पूजा)— इस को पहचान लेने पर यह विश्वास हो जाता है कि इतने संहार के बाद यदि सृष्टि जीवित है, तो इसका अर्थ है कि जीना और बढ़ना ही शाश्वत है। जब हम उसे सुनियोजित बढ़ाते हैं जो उसकी रफ़्तार तेज हो जाती है। अन्तिम मुद्दा यह है कि रचना में सामाजिक अनुसंधान की खोज समाज-शास्त्र की तरह नहीं होती। उसका तरीक़ा रचनात्मक होता है। रचना के अपने नियम होते हैं। वह तभी प्रभावशील होती है, जब रचना के नियमों के अधीन रची जाती है। कथ्य और भाषा का द्वन्द्व, भाषा और सचेत् रूप का द्वंद्व रचना को एकता में बाँधता है। वहाँ रूपवाद और काव्यवाद का झगड़ा नहीं होता। वहाँ आदर्श और यथार्थ में वैर नहीं रहता, बल्कि इन सभी की द्वन्द्वात्मकता से रचना की आकृति बन पाती है। रचना के नियम रचयिता को भीतर से अनुशासित करते हैं। उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता काव्य की प्रकृति से उभरती हैं। वे रचना में भावों की विभिन्न स्वाभाविक मुद्राओं से प्रकट होते हैं। रचनाकार की विचार-धारा उसकी जीवन-स्थितियों में घुलकर ऐन्द्रिय व्यवहार में बदल जाती है। तभी वह पात्रों में ढलती है।

जब लेखक उसे भावों और पात्रों में फ़िट करता है, तो वहाँ रचना नहीं रह जाती। आलोचक में इतनी समझ होनी चाहिए कि वह यह सब जान ले। वह कलात्मक अन्तर्तत्वों का अध्येता ही न हो—उनका विधायक हो। वह रचना के हर स्तर पर निहित भाव-तरंगों में डूब सकता हो। रचना का स्वरूप-विश्लेषण वह तभी कर सकता है, जब रचनाकार के प्रयत्नों से प्रसन्न हो—उसकी सिद्धि तक पहुँचे। यह करते हुए उसे रचनाकार का शत्रु नहीं—मित्र नज़र आना चाहिए। रचना जीवन की वास्तविकताओं से संघर्ष के बाद बनती है, जबकि आलोचना रचनाकार के साथ सहानुभूति से। जीवन-स्थितियों से संघर्ष में वह रचनाकार का सहयोगी है। व्यवस्था की पद्धतियों के आधार पर जीवन-मूल्यों की खोज करने में वह कवि की पूरक की तरह मदद करता है। रचनाकार उसकी

भूमिका को जल्दी स्वीकार नहीं करता—इसलिए आलोचक अपनी वस्तुपरक हैसियत से इस तरह बाध्य कर देता है कि वह रचना में संलग्न होते समय उसे अस्वीकार न कर सके। उसे लगातार आलोचना के द्वन्द्व को भोगना पड़े। आलोचक रचना का द्वन्द्व भोगे बग़ैर नहीं रह सकता, क्योंकि वही तो उसकी उपजीव्य सामग्री है। उसी सामग्री से उसे देखना है कि कवि की दृष्टि स्पष्ट है या उलझी, दृष्टि और सृजन में घोल है या नहीं।

रचना और आलोचना की परस्परता

रचना और आलोचना का रिश्ता द्वन्द्वात्मक होता है। दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। यह द्वन्द्वात्मकता पूंजीपति और सर्वहारा की तरह भी होती है, और एक ही वर्ग में समानता अथवा एक से दूसरे को बेहतर बनाने की चेष्टा के लिए होती है। इसमें वैमनस्य तथा मैत्रीपूर्ण-दोनों द्वन्द्व है। एक ही वस्तु की यह दोहरी पहचान है। एक की पहचान अनुसंधान-मूलक होकर वस्तु के रचने की तथा दूसरे की वस्तु को पहचानते हुए अनुसंधानमूलक होने की है। रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है, "कवि का विभाव बाह्य रचना हो जाता है, तथा भावक का अन्तःसृष्टि। दोनों ही बिम्ब विधायक होते हैं। तो, भावना के समधरातल से बहिर्मुखी होकर एवं बाह्य कलाकृति प्रस्तुत करके—अर्थात बाह्य रूप में कारयित्री प्रतिभा को प्रकट करने वाला व्यक्ति कवि हो जाता है। इसके विपरीत भावना के समधरातल पर अन्तर्मुखी होकर एवं अशरीरी कलाकृति प्रस्तुत करके—अर्थात आभ्यन्तर रूप में कारयित्री प्रतिभा में ध्यानस्थ होकर व्यक्ति भावक या 'सहृदय' या आशंसक हो जाता है। यदि कवि भावक कवि होता है या आशंसक 'कारक आशंसक' तो वे उनके आदर्शों के उत्कर्ष माडल हैं। इस प्रकार कवि भी आशंसक और आलोचक हो सकते हैं, जिस प्रकार आशंसक और कवि।"[27] इस कथन का विस्तार करें तो रचनाकार और आलोचक के सम्बन्धों का खुलासा हो सकता है। जैसे—रचनाकार का आभ्यन्तरीकरण रचना के बाद सीधे मंच से ओझल हो जाता है। उसकी रचना ही प्रमाण देने लगती है—बाह्य वास्तविकता से लेखकीय संघर्ष को। इसलिए रचयिता की क्रिया कलात्मक क्षमता का उपयोग कर कृति पेश करने में सम्पन्न होती है। आलोचक की क्रिया यही से शुरू हो जाती है। जहाँ रचयिता की क्रिया का अन्त, वहीं से आलोचक की क्रिया की शुरुआत। रास्ते भी उलटे। रचयिता जहाँ आत्म-वृत्त का बाह्यीकरण करता है, वहीं आलोचक उस कृति का आभ्यन्तरीकरण। आभ्यन्तीकरण के समय उसकी रचनात्मक प्रतिभा जागृत होती है, तभी वह रचना की समूची प्राणशक्ति को आत्मसात कर पाता है। उसकी भाषा शक्ति से विंधकर रचनात्मक साहचर्यों के ज़रिये वैकल्पिक रचना खड़ी कर लेता है। यदि वैकल्पिक रचना नहीं बन पाती तो आलोचक या रचयिता में कहीं-न-कहीं खोट

है। कृति में यदि उपादानों का विम्ब नहीं बना तो आलोचक भी भटक सकता है। कथ्य की चित्रात्मक प्रकृति नहीं बनती तो आलोचक लड़खड़ा सकता है। कदाचित आलोचक अधिक जीवन्त, जीवन-स्थितियों से संपृक्त और कला के इतिहास से रमा है तो वह लड़खड़ाये रचयिता को पीछे छोड़कर उन्हीं उपादानों का समग्र विम्ब अपने मानस में रच लेता है। तभी वह निर्मम होकर रचयिता को आगाह कर पाता है। रचनाकार की क्रिया आत्मविश्वास से शुरू होती है—तब रचना वन पाती है और आलोचक की क्रिया आस्वादन के बाद आत्मविश्वास तक पहुँचती है—तव आलोचना शुरू होती है। एक में अवचेतन और चेतन के द्वन्द्व में सापेक्षता के वावजूद वरीयता स्वयंप्रकाश्य ही होती है और दूसरे में चेतन की वरीयता स्थापित होती है। एक रचने के लिए सतर्क होता है—दूसरा जाँचने के लिए। रचना में चेतन की निगरानी पृष्ठभूमि में होती है—जबकि आलोचना में अवचेतन की। रचना खोज में निकलता है—नयी जमीन का उद्‌घाटन करता हुआ। उसके लिए उसकी निजी अर्जित और स्वायत्त शक्ति काम आती है। वह रचने की गहरी आवश्यकता महसूस करता है। उसे लगता है कि वैसा नहीं रचा गया। यदि उसने न रचा तो कोई कमज़ोरी रह जायेगी। उस आवश्यकता के लिए उसमें अतिरिक्त साहस होता है ताकि अनकही कहानी को कहने का ख़तरा उठा सके। उसके लिए संतोष हानिकर है। खोज के प्रति शिथिलता, उदासीनता, अलगाव उसकी रचना में दिख जाते हैं। रचते समय वह न तो तार्किक होता है और न आत्मतुष्ट। वह तो कभी न समाप्त होने वाली गली में निकल पड़ता है—आलोचक के लिए पहले तृप्ति ज़रूरी है। तृप्ति इस बात की कि रचना में समझने को कुछ नहीं रहा। उसका अनुसंधान इसके लिए होता है कि रचना में प्रयुक्त उपादानों का सृजन से कैसा रिश्ता रहा है। वे ठीक तरीके से प्रयुक्त हैं या नहीं। वे प्रामाणिक हैं या नहीं। एक ज्ञान की रचना करता है, दूसरा रचना का ज्ञान खोजता है। रचनाकार और जानकार का यह सहज संघर्ष दोनों को लाभ पहुँचाता है—इस वहाने कला के इतिहास के दोनों सहयोगी हो जाते हैं। रचना-प्रक्रिया के दौरान आलोचक की मानसिक कल्पना और द्वन्द्व रचना को सधी हुई तसवीर वना देता है। रचना के विभाग में आलोचक के शामिल होने से रचना में आशंकाएँ मौजूद नहीं रहतीं। चेतन मस्तिष्क में रचयिता स्वयंप्रकाश्य विस्फोट और कल्पना की उमंग को चिंतन से तस्दीक़ कराता है। जहाँ वह छाँटने-काटने की राय देता है—वहाँ वह वैसा कर लेता है। चिन्तन और आलोचक को मानस में प्रवेश दे देने से रचयिता की कौन-सी पहचान अप्रमाणित रह सकती है और कौन से संयोजन शेष रह सकते हैं। परम्परा, विचारधारा, कौशल, लक्ष्य—सव-कुछ सृजन-सहयोगी हो जाते हैं। रचना के इस स्वाभाविक क्रम में जो कृति वनती है—उसमें तमाम आस्वादकों की राय का सम्मेलन होता है। आस्वादक स्थान-स्थान पर अपनी उपस्थिति पाते हैं। आस्वादकों

का प्रबुद्ध प्रतिनिधि आलोचक उसमें इतना रमता है कि उसकी कमजोरियाँ तलाशने की बारीक विवेचनात्मक शक्ति जरूरी हो जाती है। एक बार लेनिन तोल्सतोय की विश्व प्रसिद्ध कृति 'युद्ध और शांति' पढ़ रहे थे। गोर्की पहुँच गये। पुस्तक के रस में मग्न लेनिन को बिना बाधा पहुँचाये बैठे रहे। खुद रचनाकार होने के नाते यह एक आलोचक की स्थिति के प्रति सम्मान भी था। थोड़ी देर बाद जब लेनिन रसात्मक उन्माद से आगे आये तो हाल-चाल पूँछे बगैर बोले—"गोर्की, इससे महान ग्रंथ का पता तुम्हें है, मुझे तो नहीं। क्या कमाल किया है इसने। यह तो जादूगर है।" लेनिन ने समीक्षक के रूप में तोल्सतोय पर ही सर्वाधिक लिखा है। उल्लेखनीय बात यह है कि आस्वादन की यह गहरी और विश्वसनीय प्रक्रिया सच्चे आलोचक को जन्म देती है। कौन नहीं जानता कि लेनिन ने तोल्सतोय के अन्तर्विरोधों को खोला है, उनकी विचारधारा को ग़लत ठहराया है। पर उनकी समीक्षा वस्तुपरक है। सही और समान विचारधारात्मक लेखकों की समीक्षा के बजाय ग़लत विचारधारात्मक लेखकों के अन्तर्विरोध पहचानने वाली समीक्षा में वस्तुपरकता की ज्यादा खरी जाँच हो पाती है। मुक्तिबोध का जनवाद खोजने की तुलना में रघुवीर सहाय में बूर्ज्वा और जनवाद के द्वैत को खोजने में ज्यादा सतर्कता जरूरी होती है। सतर्कता की उच्च स्थिति ही वस्तुपरकता की भी उच्च स्थिति है।

रचना, वर्ग की विचारधारा से मुक्त नहीं होती। यह वर्ग देश और काल की सांस्कृतिक उपज होती है। आलोचना वर्ग से मुक्त नहीं होती, इस तरह रचना और आलोचना की शक्ति का निर्माण वर्ग की सामाजिक-सांस्कृतिक हैसियत से होता है। इसीलिए दोनों में ऐसा कुछ होता है—जिसमें सर्वमान्य सत्य हो। दोनों के हित समान होते हैं—इसलिए लक्ष्य की समानता रहती है। यह एक तरह का सांस्कृतिक साक्षात्कार कहा जायेगा। पूंजीवादी समाज में रचनाकार और आलोचक में वर्ग-भेद रहता है। यदि वर्ग-भेद केवल जन्म के कारण है और दोनों उस वर्ग की कमजोरियों विशेषताओं को जानते हैं और कमजोरियों से आत्मसंघर्ष करते हैं तो उनसे मुक्ति भी मिल जाती है। जैसे तोल्सतोय अमीर वर्ग में जन्मे थे—पर यथार्थ को समझने की आन्तरिकता ने उन्हें लगातार उस वर्ग से मुक्त किया। पूरी तरह मुक्त न हो पाने का कारण विचारधारात्मक असंगति थी। रचनाकार और आलोचक की वर्गरुचि में भेद होने से दोनों के सम्बन्ध वैरपूर्ण रहते हैं। होना चाहिए—कमजोरियों को खोलते हुए। आलोचक वर्गभिन्न रचना का जवाबी सांस्कृतिक स्तर पर देता है, ऐसा ही देना चाहिए। रचना का उत्तर राजनीतिक हो गया तो हजारों आस्वादक संतुष्ट नहीं होते। ऐसी स्थिति में उसका जन-शिक्षात्मक दायित्व पूरा नहीं होता। उसके अलावा अनजाने विरोधी वर्ग में फँसे रचनाकारों की मुक्ति में सहायता नहीं मिलती। आलोचक को इतना प्रखर होना

चाहिए कि वह रचना की मूल्यदृष्टि और उसमें निहित रचयिता के आत्मवृत्त को इस तरह खोल दे कि भोले लेखकों का भला हो। वे असहमति के लिए तैयार न हो सकें। यह कार्य मनोवैज्ञाकि तरीके से होता है, जाहिर है कि वह मनोविज्ञान फ्रायड का नहीं हो सकता। रचनाकार को यथार्थ से जोड़ना तथा आस्वादकों को यथार्थवादी संस्कार देना आलोचक का दायित्व है। साहित्य की भूमिका को अधिक प्रभावशील बनाने में उसका योग होता है। यह इसलिए कि "साहित्य शब्दों द्वारा, चित्रों द्वारा मनुष्य को प्रभावित करता है। उसका प्रभाव दर्शन और विज्ञान से व्यापक इसलिए होता है कि उसका सम्बन्ध इन्द्रियबोध से है। उसका माध्यम ही रूपमय है, कल्पना के सहारे वह तरह-तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाता है। उसकी विषय वस्तु भी रूपमय है। वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उसकी निजी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने में है।"[68] यथार्थ की अनुभूति से रचनाकार कल्पना के ज़रिये चित्र पेश करता है और आलोचक यथार्थ के कल्पनात्मक चित्रों की यथार्थ जाँच करता है। यही दोनों का दायित्व है, जो एक ही लक्ष्य के लिए द्वन्द्वात्मक हैं।

लुकाच ने एक आलोचक की प्रशंसा की है—उसका नाम है रुडोल्फ कासनर। उसने बताया कि कासनर ने सैद्धान्तिक समीक्षा नहीं लिखी। इसलिए कि वह रचना-शक्ति को आलोचना में लगाकर रचनात्मक तत्त्वों को ही विकसित करता रहा। उसने रचनाकार की सामान्य जिन्दगी के व्यवहार, संवेदन-शक्ति के जीवनसंघर्षो से टकराने की प्रकृति, अनुभवों के आकृति ग्रहण करने की प्रक्रिया का अध्ययन किया। उसने हर क्षण घटित रचनाकार के रूपान्तरणों पर छोटे-छोटे निबन्ध लिखे। रचनाकार में उभरती हुई रचना शक्ति को जाँचा—उसकी बाधायें पहचानीं। इसी तरह फिर रचना के भीतर उन बाधाओं को खोजा। रचना की आवयविकता, उससे उभरी शैली को महसूस किया। कासनर ने व्यावहारिक समीक्षा में पाया कि शैली रचनाकार के सम्पूर्ण जीवन की मूर्त इकाई होती है। इसी समय उसने यह सिद्ध किया कि शैली कैसे तैयार होती है और सिद्ध होती है। उसने रचनाकार की जीवनप्रक्रिया और रचनाप्रक्रिया के अन्तर्सम्बन्ध खोजे। बताया कि कलाकार के जीवन में एक ठोस स्वर-लहरी लगातार झंकृत होती है। उसके साथ जीवन के संघर्ष पचते और रिसते रहते हैं। इन लहरियों में अन्ततः एकता स्थापित होती है। उसकी स्थापना है कि ऐसी धुन, ऐसी अनन्त अनुगूंजें महान रचना को जन्म देती हैं। जीवन की महानता ही रचना की महानता में रूपान्तरित होती है। रचना के बारे में ये नतीजे आलोचक कासनर के हैं। सिद्ध है कि इतनी कठोर तपस्या के बाद ही आलोचक रचनाकार का आत्मीय सहयोगी हो पाता है। कासनर आलोचकों को

हिदायतें देता और उनके दायित्वों पर प्रकाश डालता है। एक स्थान पर दोनों में अन्तर करता है—"कवि पद्य में लिखता है, समीक्षक गद्य में। दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर यह होता है कि कविता के अपने नियम हैं गद्य के नहीं।"[29] ऐसा कहने के पीछे कवि को रूप के अनुशासन की याद दिलाता है, गद्य में लिखी जाती समीक्षा के लिये रूपात्मक अनुशासन से मुक्ति रहती है। संरचना का अनुशासन उसे नहीं बाँधता। रचयिता शक्ति का संवर्द्धन और विकीरण करता है। वह शक्ति के साथ उड़ान को जाँचता रहता है। समीक्षक में संशयों-जिज्ञासाओं की भरमार होती है—इसलिए वह आज़ाद हो जाता है। उसका अनुशासन कृति होती हैं। वह उड़ान भरने की चेष्टा करता हुआ—वस्तुओं के निकट बने रहने को बाध्य है। उसके मानस में तरह-तरह के तर्कों की क्रीड़ा होती है। बेहतर आलोचक तर्कों के बीच में ही रचना की मार्फ़त उन तरंगों से भावक्रीड़ा करता हुआ—फिर अपनी जगह आ जाता है। वह भाव-तरंगों से खेलकर भी ज्यादा निरपेक्ष रह लेता है। आलोचना और रचना—सांस्कृतिक प्रक्रिया के पूरक हैं जो विरुद्धों की एकता से बनती हैं। कवि रचनात्मक क्षमता के द्वारा व्यवस्था का विकल्प अथवा गत्यात्मक स्थिति व्यक्त करता है, जबकि आलोचक का कार्य हमेशा विकल्प के प्रति द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध बनाये रखना है। उसमें संदेह के कारण निरन्तर बेहतर की माँग बनी रहती है। यह अच्छी बात है कि उसे संतुष्ट यदि कोई कर सकता है, तो वे हैं रचना के चित्र, रूप या बिम्ब। आलोचक, आलोचना पढ़कर संतुष्ट नहीं होता। उसकी जिज्ञासा केवल रचना में ही पूरी होती है। वह आलोचना की प्रत्यालोचना इसलिए करता है—ताकि रचना की समझ साफ़ हो। ठीक से रचना के उद्घाटित न करने के अपराध में उत्तेजित होकर वह प्रत्यालोचना के लिए बाध्य होता है—अपने संतोष की रचना कर पाने के लिए रामचन्द्र शुक्ल "मानस" और "पद्मावत" को पढ़कर तुष्ट हुए और राम विलाश शर्मा निराला को। लुकाच ने भी इसको स्वीकार किया है। उसने लिखा है कि, "शायद जीवन एक शब्द है, जिसका अर्थ है—समीक्षक के लिए कवि होने की संभावना और कवि के लिए समीक्षक होने की संभावना, आत्मा में किया हुआ, वही इसमें जी सकता है, जिसकी आत्मा में दोनों तत्त्व इस तरह विमोचित होते हैं कि उनके 'रूप' को जन्म मिल जाता है।"[30] यह अन्योन्यक्रिया जब किसी युग में टूट जाती है—तब दोनों अलग-थलग हो जाते हैं। तभी इस तरह के मुहावरे प्रचलित होते हैं कि असफल कवि आलोचक होता है। वास्तव में आलोचक कवि की असफलता से नहीं, कवि होने के बावजूद गंभीर कलात्मक दायित्व के दबाव में पैदा होते हैं। रचना को परिष्कृत करने तथा उसकी जटिल प्रक्रिया को प्रेषणीय बनाने के लिए वह दुहरा दायित्व निभाता है। वह रचना की अनेकमुखता का उजागर करता है। अनेकमुखतायें विभाजित नहीं की जा सकतीं, पर स्थूल रूप से वर्ण संयोजन, सार्थक शब्दसंयोजन, व

रचना—जो रचना का पूरा बिम्ब बनाते हैं—दृश्य, घटना और पात्रों केसाथ मूल्यदृष्टि और अन्त में मूल्यदृष्टि की पक्षधरता। रचना में इन रहस्यों को खोलने के लिए रचनाकार की साधना आलोचक के लिए भी जरूरी हो जाती है। दोनों के पूरक दायित्व इसे हल करते हैं। गोल्डमान ने कहा कि, " बोध और व्याख्या दो भिन्न प्रक्रियायें नहीं हैं; बल्कि एक ही प्रक्रिया है और भिन्न सहयोजकों से सम्बन्धित हैं!...बोध अध्येय वस्तु के सार्थक संघटन को प्रकाश में लाने की प्रक्रिया है। व्याख्या भी एक तत्काल समावेशी संघटन में इस घटना को विधायक तत्त्व के रूप में समाविष्ट करने की प्रक्रिया है। शोधकर्ता समावेशी संघटन की विस्तृत पड़ताल नहीं करता। अध्येय कृति की उत्पत्ति को बोधगम्य बनाने के लिए जितनी पड़ताल जरूरी है, उतनी ही करता है। जरूरी केवल यह है कि बाह्य संघटन को अध्ययन की वस्तु बनाया जाय और व्याख्यामूलक शोध को नये तथा ज्यादा विस्तृत संघटन से जोड़ा जाय।"[31]

अलगावपूर्ण सम्बन्ध

रचना और आलोचना के प्रकृत रिश्तों को तोड़ने की कोशिश बूर्ज्वा समाज में अधिक हुई है। मध्ययुग में जो उच्छिन्नता (एलिनेशन) थी—वह कला और जनता के आपसी सम्बन्धों को नहीं तोड़ती थी। उस युग में धर्म की मध्यस्थता ने जरूर जनता को आवश्यकता के स्वभाव से काट दिया था, परन्तु सामूहिक खुशी, आस्वादन, पीड़ा का माहौल एक आस्था के सहारे मौजूद था। भाईचारे की कमर नहीं तोड़ी गई थी। पूँजीवादी समाज ने इसी पर प्रहार किया। श्रमविभाजन की पूरक संगति तोड़ दी गई, विशेषज्ञता की स्वायत्तता पर जोर दिया जाने लगा। कला के क्षेत्र में स्थापित किया गया कि रचना अपने-आप में पूर्ण है, आलोचना अपने आप में पूर्ण। रचनाकार और आलोचक कभी न मिलने देने के लिए विशेषज्ञ बनाये जाने लगे। लेखक अपने आन्तरिक जीवन का भी व्यवसाय करने लगा। इसीलिए बाजार की सुरुचि के अनुकूल रचना की वस्तु के बजाय-क्राफ्ट, तकनीक, आत्माभिव्यक्ति पर ज़ोर बढ़ा। रूपवादी कलाकार हर दिन नयी डिज़ाइन, फ़ैशन से एलीट रुचियों का पेट भरने लगा। प्रतिष्ठानों की रुचि कला में हस्तक्षेप की हुई। उन्होंने प्रकाशन शुरू किये—पत्रिकायें और समाचार-पत्र। विशेष प्रतिभाशाली रचनाकार-समीक्षकों को उनमें तैनात किया गया। लेखक और समीक्षक वेतनभोगी हो गये। प्रतिष्ठानों ने उनको ऐसी आज़ादी दी जो राजनीति और समाजविज्ञान के बाहर मंडराये। साहित्य की राजनीति से विलगाकर उन्होंने ऐसी रचनाशैली को बढ़ावा दिया जो ठोस जीवन सच्चाइयों से दूर तथा अमूर्त हों। इस माहौल में वे लेखक भी—जो पूरी तरह नहीं बिके, जिनमें प्रतिरोध जिन्दा रहा—प्रतिष्ठानों के

अप्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गये। एलेन पो जैसा कवि कहता है कि लम्बी कविताओं का कोई अस्तित्व नहीं होता। इस तरह की कविताओं में टुकड़े होते हैं– कविता नहीं। ललित सहित्य का प्रेमी यह कवि बिना सीधे बिके भूलभुलैया में डूब गया। इन्हीं कारणों से पूँजीवादी समाज में हमें रचना और आलोचना के सम्बन्धों की खोज के पूर्व दोनों के सामाजिक स्रोत और दबाव तलाशने होंगे। पहचानना होगा कि उन दबावों के बीच क्या उनमें कोई बदलाव है? काडवेल का कहना है कि, "सभी प्रकार की कलायें परिवर्तनशील सामाजिक रिश्तों और प्रचलन से बहिष्कृत चेतना के बीच तनावों से जन्म लेती हैं। नयी कला क्यों जन्मती है, पुरानी आस्वादकों और समीक्षकों को क्यों तोष नहीं दे पाती, इसका कारण है वह समकालीनता की पकड़ से बाहर हो चुकी होती है। पुरानी कला का हमारे लिए अर्थ होता है क्योंकि वे संवेदनायें, प्रभावों के वे स्रोत—नहीं बदलते, क्योंकि नये सम्बन्धों की सामाजिक व्यवस्था पुराने को छोड़ती नहीं—उसे जोड़ती है, नयी कला बीती हुई कलात्मक परम्पराओं को भी जोड़ती है।"[32] बूर्ज्वा कला के भीतर वे षड्यन्त्र शामिल होते हैं जो शोषितों को अधिकारों के अहसास से वंचित करें। वे सामाजिक धारणाओं में न होकर कला की विशेषज्ञता, स्वायत्तता, व्यक्तिगत पूर्णता जैसी अलगावपूर्ण स्थापनाओं के जरिये शामिल होती हैं—इसलिए ज़्यादा सतह में नहीं जातीं। प्रेमप्रसंगोंपर लिखते हुए काडवेल ने कहा है कि, "मनुष्य की स्वाभाविक असफलता यह मान लेने में है कि कहीं कुछ नहीं बदलता, विचार शाश्वत होते हैं—एक शब्द में जो अभिव्यक्त है, वह उसी तरह अपरिवर्तनीय है, जैसे कि शब्द अटल है।"[33] इतिहास का दुहराना, युग-युगों का बार-बार आना परमशक्ति द्वारा पापों का भंजन---ये पौराणिक आदर्श थे, अपने-आप में पूर्ण होना, या बिक्री के मूल्य पर अस्तित्व की परीक्षा का निर्भर करना पूँजीवादी मूल्य। पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने दोनों को घोलकर नया शाश्वतवाद गढ़ा है। निरपेक्षता के नये बूर्ज्वा दर्शन ने रचना और आलोचना के रिश्तों को दूसरे शब्दों की ही तरह दूर-दूर ले जाकर पटका है। लेनिन ने निरपेक्षता की स्वायत्त अवधारणा को तोड़ते हुए कहा था कि, "व्यक्तिवाद (संशयवाद, भ्रांतिवाद) और द्वन्द्ववाद के बीच अनिवार्यतः फ़र्क़ यह है कि (वस्तुपरक) द्वन्द्ववाद में सापेक्ष और निरपेक्ष के बीच का अन्तर स्वयं सापेक्ष है। वस्तुपरक द्वन्द्ववाद के लिए सापेक्ष के भीतर निरपेक्षता निहित है। व्यक्तिवाद और भ्रांतिवाद के लिए सापेक्षता ही सापेक्ष है जो निरपेक्ष को छोड़ देती है।"[34] लुकाच ने भी इस सापेक्ष-निरपेक्ष सम्बद्धता को द्वन्द्वात्मक तरीके से विश्लेषित किया। उन्होंने लिखा कि "द्वन्द्वात्मक पद्धति का सार सापेक्ष और निरपेक्ष की अविभाज्य एकता की व्याप्ति में निहित है। निरपेक्ष सत्य के सापेक्ष तत्व होते हैं (स्थान, काल और परिस्थितियों पर निर्भर) दूसरी ओर सापेक्ष सत्य जहाँ तक वह वास्तविक सत्य है, जहाँ तक वह वास्तविकता की ईमानदार अखंडता को प्रतिबिम्बित करता

है—अपनी निरपेक्ष वैधता रखता है।"[35] बूर्ज़्वा समाज द्वारा वितरित संस्कृति और मूल्यों में निहित लक्ष्य ही यह है कि सत्यता, सम्बद्धता और आस्था की स्वाभाविक प्रक्रियायें टूट जायँ। इसे तोड़ने के उनके प्रयास सौन्दर्य-मूल्यों के द्वारा आते हैं। उनको चिन्ता तब होती है, जब सौन्दर्य-मूल्य राजनीति और विज्ञान की अन्योन्यक्रिया को समझने लगते हैं। ऐसे लेखक जो इस व्यवस्था का प्रतिरोध नहीं कर सकते—इसके लिए उनके पास साहस की कमी होती है—समीक्षकों को उनकी रचनाओं का विश्लेषण करना चाहिए। उनकी थीम, तकनीक और लक्षणों में निहित उच्छिन्नता भी खोल दी जानी चाहिए। तकनीक के प्रति निरपेक्ष व्यापारिक रुचि के कारण कथ्य का खोखलापन चलन में आ गया है। खोखले वातावरण में आरम्भ में की गई जिन्दगी का हश्र ही तकनीकी रुचि है। दोनों एक तरह की स्थिति बनाते हैं। इनमें विरुद्ध की एकता नहीं—एकता की विरुद्धता शामिल है—उच्छिन्नता मूलक। एक बात उल्लेखनीय है कि साहित्य के सामन्तवादी और पूंजी-वादी युगों में यदि समीक्षक उच्छिन्न होता है तो रचना उसे ठीक कर देती है—पर रचना में उन प्रवृतियों के उत्तर आने पर वह अपेक्षाकृत दीर्घजीवी हो जाती है। आलोचना उन युगों में जितनी जल्दी दिग्भ्रमित होती है, उतनी ही जल्दी-जल्दी उसमें सामाजिक रिश्तों का संघर्ष भी झलकने लगता है। मतलब यह कि समीक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन को स्वीकारने की क्षमता जल्दी आती है। लुकाच तो निश्चित मत के रूप में ही तथ्य पेश करते हैं, "असत्याभास और विकृत समीक्षायें रचना की तुलना में कम समय तक टिकती हैं।"[36] इनका कहना समीक्षा के लिए तब तक सही है जब तक वह सामाजिक रचनात्मक संस्कारों से गहरे से नहीं बिंधी होतीं। मध्य युग तथा बूर्ज़्वा समाज में यही है। सामाजिक-मनोविज्ञान के संस्कार समाज-वादी व्यवस्था में पैदा होते हैं। तब समीक्षा और रचना के रिश्ते विकासमूलक हो जाते हैं। उस दृष्टि के आलोचक के सामने व्यक्तिवादी संकीर्णतायें नहीं छिप पातीं। वह समीक्षा गहरे दलदल से भी सचाई निकाल लाती है। व्यक्तिवादी समीक्षक इसे छिपाते हुए अनैतिहासिक चरित्र की वकालत करते हैं। अतिशास्त्रीय अवांगार्द और निष्क्रिय रोमांसवादी समीक्षायें भी ठोस सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टि को ओझल करती हैं। वे विकृत समाजशास्त्र और सौन्दर्यवाद को एक नज़र से देखती हैं। विडम्बना यह है कि ये प्रवृत्तियाँ संस्कृति और राष्ट्रीयता का भी मज़ाक उड़ाती हैं—वे परम्परा, शास्त्र, सौन्दर्य और गतिशीलता को समझने में पूरी तरह असफल रहते हुए सांस्कृतिक दृष्टि का प्रचार करते हैं। वे पुरानी रुचि के लिए नवीनता का नारा देते हैं। नयी कविता का छायावाद-विरोध किस तरह विकृत रूप से छायावादी संस्कारों को फैलाता है—इसका नया प्रमाण है। इस प्रवृत्ति ने क्या किया—(1) साहित्य को समाज से अलगाया (2) समाज में विकसित निरन्तरता को क्षीण कर 'क्षणवाद' चलाया। नयेपन की छलांग को रास्ते में

भ्रमित कर दिया (3) जैविक मनोविज्ञान का प्रचार किया— जिससे अमूर्तन बढ़ा, युवा उत्तेजनायें उभरीं, भूखी नंगी पीढ़ियाँ जन्मीं (4) अन्ततः नया रहस्यवाद आया।

इस तरह सिद्ध है कि बूर्ज़्वा समाज में उच्छिन्नता की प्रवृतियाँ विकसित होती हैं। रचनाकार और आलोचक इस उच्छिन्नता से मुक्ति दिलाने के लिए संयुक्त रूप से संघर्ष के लिए उत्तरदायी हैं। जरूरत पड़े तो दोनों जिम्मेदारियाँ साथ-साथ निभानी चाहिए—ताकि सृजन और आस्वादन की समस्यायें हल की जा सकें। जैसा कि गोर्की, मायकोव्स्की, राहुल, निराला और मुक्तिबोध ने किया। ऐसे रचनाकार सिद्धान्तों, मूल्यों और विभिन्न जीवनसन्दर्भों से टकराकर सचाई अर्जित करते हैं। लुकाच का मत है कि, "लेखक समीक्षक अधिकतम विविध दिशाओं में टकराते हैं। लेकिन उनका लक्ष्य हमेशा वस्तुगत सचाई और रचना के जीवनसम्बन्धों के शोध में समाप्त होता है।"[37] समाज के संघर्ष यदि धीमे हों तो इस क्षेत्र में कार्य उस प्रतीक्षा के वगैर आरम्भ किया जाना चाहिए। गोल्डमान कहते हैं कि, "दर्शन या रचना कर्म समय और स्थान से उठकर भी अपना मूल्य रख सकते हैं। सबसे पहले जहाँ स्थितियाँ प्रकट हों—वहीं विशेष मानवीय स्थितियों के रूप में प्रकट की जा सकती हैं। ये (दर्शन + रचना) साथियों और सृष्टि के बीच मानवीय अन्तर्सम्बन्धों के मध्य उत्पन्न महान मानवीय समस्याओं की भूमिका में पक्षान्तरण हैं। अब जबकि, इन समस्याओं के असंख्य संयुक्त उत्तर मानवीय व्यक्तित्व की विशेष संरचना के द्वारा दिए जा सकते हैं, और उनमें से प्रत्येक प्रदत्त उत्तर, उस संरचना में विभिन्न या अन्तर्विरोधी ऐतिहासिक स्थितियों तक से संवाद कर सकते हैं।"[38] समय और स्थान से उठने का अभिप्राय है कि रचना और दर्शन दोनों सापेक्ष निजता से निरपेक्ष सार्वजनीनता तक पहुँचते हैं। जिस तरह व्यक्तियों की स्थितियों को सामाजिक सामान्यता प्रदान करते हैं, उसी तरह देश और काल की सीमा को लाँघते हैं, ताकि निर्णय सार्वभौमिक हो सकें। यह विश्वदृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया है। गोल्डमान ठीक मानते हैं कि रचना और दर्शन सामाजिक स्थिरता को लाँघकर आगे जा सकते हैं और सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण की भूमिका बना सकते हैं। जो समस्यायें मनुष्य में स्वतः उद्भूत हैं—रचना के पात्र और दर्शन के निष्कर्ष उन्हें अभिव्यक्त कर सकते हैं। मार्क्सवाद स्वयं एक ऐसा दर्शन है जिसको वर्गसंघर्ष की संगठित तीव्रता के पूर्व मानवीय स्वभाव के भीतर से पाया गया। आलोचना का अन्तिम रूप दर्शन के करीव पहुँच जाता है—इसलिए रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता से समग्र रचनात्मक निजता और मानव एवं प्रकृति की अनन्त अन्योन्य ऊर्जा की संगति का संयुक्त उपयोग हो जाता है। रचना के द्वारा व्यापक मानवीय संवेदना पेश होती है—जो अधिकतम वौद्धिक क्षमता से पुष्ट रहती है तथा आलोचना के द्वारा प्रामाणिक, रागात्मक तथा

ऐन्द्रिय संवेगों की चिन्तनपूर्ण वैज्ञानिक परीक्षा हो जाती है। इसलिए ग्राम्शी को कहना पड़ा, "आचार दर्शन द्वारा उपस्थित बुनियादी परिवर्तन के लिए राजनीति विज्ञान और इतिहास इसके प्रमाण हैं कि कोई अमूर्त मानव स्वभाव स्थिर और अपरिवर्तनीय (धार्मिक और परमवादी अवधारणा के अनुसार) नहीं है। बल्कि वह मानव स्वभाव समग्र ऐतिहासिक दृढ़ निश्चयों के सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर होता है, इसीलिए ऐतिहासिक सत्य, निश्चित सीमाओं में भाषा तत्व और समीक्षा की विधियों से खोजे जा सकते हैं।"[39] ग्राम्शी का कथन यह अर्थ रखता है कि मानव स्वभाव सचेष्ट चेतना के साथ परिवर्तनीय है। विशेष प्रकार से समाज को बदलकर स्वभाव के रूपान्तरण, निर्देशन और विकास की स्थितियाँ निर्मित की जा सकती हैं। इस स्थिति में टी० एस० ईलियट का यह विश्वास कितना उपहास्यास्पद लगता है, जब वह कहता है कि, "सैफो (Sappho) के गीतों को पढ़ने का अर्थ यह नहीं कि मैं अपने आपको 2500 वर्ष पूर्व के ग्रीक-टापू के आदमी होने की कल्पना करूँ—महत्व की बात है वह अनुभव जो विभिन्न सदियों के मानवों के लिए समान है, वह भाषा, जो कविता से आनन्द पाने में सक्षम है, वह विद्युत कौंध, जो 2500 वर्षों की छलांग लगा सकती है।"[40] ईलियट का विश्वास अवैज्ञानिक है। अब तो उसकी अवैज्ञानिकता विवादास्पद भी नहीं रही। अरबों का चरित्र साक्ष्य बन चुका है। मुक्तिबोध "अंधेरे में" कविता में कहते हैं कि उन्होंने सत्य पाने के लिए हर चेहरे के इतिहास की खोज की है। इस बात को द्वंद्वात्मक पद्धति से निष्कर्ष के रूप में आते हुए ग्राम्शी कहता है, कि "प्रत्येक व्यक्ति अस्तिवान सम्बन्धों की संस्लिष्ट इकाई ही नहीं होता, बल्कि वह उन सम्बन्धों का इतिहास होता है। वह व्यक्ति अतीत का निचोड़ रूप होता है।"[41] इतिहास के द्वारा रचे हुए आदमी का ही काम है कि वह इतिहास को बार-बार अपनी रचनात्मक क्षमता से रचता रहे। अंधकार में बिखरी हुयी इतिहास की कच्ची सामग्री का जैसे-जैसे संवेदनात्मक साक्ष्य उसे मिलता जाता है—वह बार-बार आलोचक की मदद से उसका पुनर्मूल्यांकन करता है और रचना की मदद से उसे नये स्वरूप में ढालकर पेश करता है। हर्बर्ट रीड ज्ञान की इस संगति का श्रेय मार्क्स को देते हुए बोलते हैं कि, "इतिहास के प्रसंग में मार्क्स का संकल्प-विकल्प तथा वास्तविक रूप से इस समस्या के उभारे जाने का फल यह होना चाहिए था कि उसके बाद के लोग उसकी सबसे जटिल विभक्तियों के सतही अनुशीलन को रोकते जिसका अभी और द्वंद्वात्मक विश्लेषण प्रतीक्षित है।"[42] मार्क्सवाद ने सृष्टि-रचना के किसी भी अंश को निरर्थक तथा असम्बद्ध नहीं माना। उसके निष्कर्षों में यह बात अनिवार्यता से शामिल है कि हर क्षण चीजें बदलती और विकसित होती हैं। वे कैसे विकसित होती हैं—इसके नियम हैं। विरुद्धों की एकता इनमें से महत्वपूर्ण है। जो दर्शन अमूर्त रहकर पूर्ण निरपेक्षता

की वकालत करता है—वह उसकी नजर में ह्रासशील है। उसमें प्रगति के कोई अवसर नहीं होते—चाहे वह कला का प्रसंग हो या आलोचना का। परमवादी कलाशास्त्र में विरुद्धों की एकता के सवाल पैदा ही नहीं होते। वहाँ विरोध निरपेक्ष ही होता है। वह विरोध के लिए विरोध है। हाथर्न ने कहा कि विकास तभी होता है जब "व्यक्तिगत और सामाजिक, तात्कालिक और शाश्वत, निरपेक्ष और साक्षेप समान रूप से कटे हुए विरुद्धों के बजाय द्वंद्वात्मक रूप से सम्बद्ध विरुद्धों के रूप में पाये जाते हैं। उनके लिए यह कोई समस्या नहीं होती।"[43] यह बात मानव जीवन के लिए जितनी सही है, उतनी ही प्राकृतिक तत्वों के लिए। यह सृष्टि की रचना-प्रक्रिया का नियम है। मार्क्सवादी विश्वासों के अधीन रचनाकार से अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसी रचना करे जिसमें रचना के प्राकृतिक नियमों तक पहुँचा गया हो। मानव स्वभाव में जहाँ इन नियमों का व्यवधान आ गया हो, उन्हें पुनः प्रवाह में लाकर स्वभाव को उचित दिशा दी जाए। जीवन की सामग्री का वस्तुपरक रूपान्तरण यही है। रचयिता कथावस्तु तथा अन्य रचनात्मक उपादानों को रूपान्तरण की प्रक्रिया से ही हासिल करता है। यही क्रिया द्वंद्वात्मक है। कथ्य से रूप तक—औचित्य, अनौचित्य के संघर्ष के साथ। रचनाकार का मानस विरोधी वर्गों के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक कारणों से अपनी रचना-प्रक्रिया हासिल कर लेता है। इन्हीं कारणों से रचना में समीक्षक और समीक्षक में रचनाकार का टकराव निहित है। दोनों के सापेक्ष सहयोग से ही उसे विश्व-दृष्टि प्राप्त हो पाती है। बेलेन्स्की, चर्नीसेव्स्की, काडवेल और लुकाच की समीक्षाओं में कवि की उपस्थिति तथा चेखव, गोर्की, लोर्का, पाब्लो, नेरुदा, निराला और मुक्तिबोध में समीक्षक की उपस्थिति से कौन इन्कार कर सकता है। दोनों सहयोगियों के संवेददात्मक रिश्ते होते हैं, स्थूल रूप से वे नहीं भी दिख सकते। कई बार तो रचयिता अपने आलोचक के प्रति उदासीनतापूर्ण उपेक्षा यहाँ तक कि शत्रुतापूर्ण रवैया रखते हुए अनजाने ही प्रभावित हो चुका होता है। यह इसलिए कि उपेक्षा, उदासीनता या शत्रुतापूर्ण मानसिक क्रियायें मानस में उभरकर शून्य में विलीन नहीं हो जातीं। मानस में ये उभरती हैं तो चेतन से अचेतन तक की तरंगों में कहीं न कहीं घुल जाती हैं। रचनाकार की दृष्टि में प्रातिनिधिकता, ऐतिहासिकता, समकालीनता, सामाजिकता, वस्तुपरकता, वैयक्तिकता और वैचारिकता की पुष्टि के लिए स्वभाव की हर तरह की प्रतिक्रियायें सापेक्ष महत्व रखती हैं। समीक्षक और रचनाकार में बहुत ही महीन तरीके से विश्लेषण और संश्लेषण की सक्रिय प्रक्रिया रहती है। यही प्रक्रिया आनुपातिक ढंग से घटित होकर ऐसी इकाई रच देती है, जिसे सुन्दर कहते हैं। रचना के सौंदर्यशास्त्र का मसला इससे भिन्न नहीं है। वस्तुतः रचना और आलोचना के संगत रिश्ते की खोज तथा असंगत रिश्तों को सामंजस्य प्रदान करने का ही नाम सौंदर्यशास्त्र है। बेलेन्स्की ने समीक्षा को

"सौंदर्यशास्त्र व्यवहार में" की संज्ञा दी थी। ऐसा कहकर उसने सौंदर्य-शास्त्र के भीतर निजी आस्वाद, पसन्द की वरीयता, वैयक्तिक रुचि और इच्छाओं को भरपूर स्थान दिया है। ये रचना की जरूरतें हैं—जो समीक्षा में अन्तर्भुक्त होती हैं। इसीलिए ए० जीज का कहना सही है कि, "रचना-समीक्षा में से सौंदर्य-शास्त्र की जुदाई अन्ततः अमूर्त शास्त्रीयता की ओर बढ़ाती है।"[44] रचना-समीक्षा और सौंदर्य-शास्त्र के सम्बन्धों को तोड़कर यह नहीं कहा जा सकता कि सौंदर्यशास्त्र समीक्षा का एक अंग है। सौंदर्यशास्त्र वस्तुतः परिणति में विश्वदृष्टि तथा व्यवस्थित सिद्धान्तों से रचा-पचा होता है, उसमें इनके आलोचनात्मक विश्लेषण घुले-मिले रहते में—इसलिए वह समीक्षा का सामान्यीकृत स्वरूप है। निश्चय ही यह प्रक्रिया उन सौंदर्यशास्त्रों की नहीं है जो समीक्षा को अर्थशास्त्र के सूत्रों में पाते हैं। वे भोंड़े तरीके से समीक्षा और विज्ञान का रिश्ता जोड़ते हैं। हकीकत में वे रचना, समीक्षा, सौंदर्यशास्त्र और विज्ञान के बीच अलगावपूर्ण अव्यवस्था फैलाते हैं। ए० जीज इसकी अनिवार्य व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "मार्क्सवादी-लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र अमूर्त नियमों का प्रचलन नहीं करता और न रचनात्मक अभ्यास से सम्बन्धों की तिलांजलि देता है, वल्कि वह रचनात्मक अभ्यास से ही नियमों की खोज करता है। सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत विश्व-कला के उपलब्धियों पर आधृत सामान्यताओं को प्रस्तुत करते हैं और वे उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों के सैद्धान्तिक विशदीकरण हैं।"[45]

विश्व में कला का विकास सच्चे अर्थों में कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा के द्वंद्व से हुआ है। इस विकास की सारवस्तु यद्यपि सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ रही हैं—पर वे हमेशा सीधे ही नहीं दिखायी देती रहीं। उनके और कला के बीच का सम्बन्ध काफी चक्करदार और जटिल रहा है। इसी कारण सतही ढंग से सौंदर्य-शास्त्र पर व्यक्त धारणायें मूल वस्तु से कट जाती रही है। कभी वस्तु को सुन्दर कहा गया और कभी आत्मा को, जैसे वे दोनों जुदा-जुदा हों। सौन्दर्य-शास्त्र इसके लिए दोषी नहीं, इस विलगाव का कारण वर्गीय संरचनायें थीं। वहुत-से ऐसे सौन्दर्यशास्त्री भी रहे हैं, जिन्होंने सामाजिक चिंतन के बीच में कला प्रसंगों को पाया है, जैसे—प्लेटो, अरस्तू, फ्रायड, मार्क्स आदि। जो सौंदर्यशास्त्री केवल कला प्रसंगों पर सोचते रहे हैं—वे अप्रत्क्ष रूप से सामाजिक चिंतन में शामिल थे। इसी कारण सभी निष्पत्तियाँ अन्ततः वस्तुवादी आत्मवादी सामाजिक चिंतनों से कहीं न कहीं मेल खाती हैं। सौन्दर्य चाहे वस्तु में, वस्तु के अलंकरण, विशिष्ट रूप, उदात्तता, आभिजात्य, अभिव्यंजना, अनुकरण में हो, चाहे वह प्रतिभा अथवा व्युत्पत्ति के कारण आये अथवा—सहृदय की चेतना, अपेक्षित सामाजिक प्रभाव, तादात्म्य या सह-अनुभूति, सत्य और शिव की सिद्धि में निहित हो—सामाजिक चिंतन का कोई न कोई पक्ष इनमें अनिवार्यतः शामिल है। इसी—

लिए निष्कर्ष में यह कहा जायेगा कि रचना-समीक्षा और सौन्दर्य-शास्त्र में सामाजिक-सांस्कृतिक जीवनपद्धति की एक संगति मिलती है। इस संगति को अधिकतम मानव के हित में तथा सृष्टि के नियमों के अनुकूल विकसित करने में रचना-आलोचना और सौन्दर्य-शास्त्र का विकास निहित है। इनमें लगातार नये और पुराने का द्वन्द्व छिड़ा रहता है। इस द्वन्द्व का अन्तिम लक्ष्य रचना है। चिंतन के अन्य सारे सोपान रचनाकार में आकर अनुस्यूत होते हैं। वे वहीं से, उसी के लिए और उसी के बारे में रहते हैं। गोल्डमान के अनुसार, "सौन्दर्यात्मक अन्विति की आकांक्षाएँ उससे ऐसी कृति की रचना करा देती है, जिसका आलोचक द्वारा अवधारणा की भाषा में अनुवादित होने वाला संघटन कुछ ऐसा होता है, जो उसके विचारों, उसकी मान्यताओं और उसकी कृति की रचना को प्रेरित करने वाली अभीप्सा से भिन्न और यहाँ तक कि विपरीत भी होता है।"[46]

प्रगति या विकास की प्रक्रिया

कुछ लोग कहते हैं कि रचना में अपने आप शाश्वतता, दूरदृष्टि और वैकल्पिक समस्यायें होती हैं। रचनाकार स्वभू, प्रजापति और कालजयी होता है। इस प्रसंग में काव्यमीमांसा में राजशेखर ने एक रूपक (मिथ) प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ब्रह्मा की कृपा से विश्व को अर्थ रूप में परिणत करने वाला "काव्य-पुरुष" जैसा पुत्र सरस्वती को मिला। सरस्वती ने पुत्र के आकार का वर्णन किया। आकार यह कि, "तुम्हारे, शब्द-अर्थ-शरीर, संस्कृत भाषा-मुख, प्राकृत भाषायें-भुजायें, अपभ्रंश-वैंगा, पिशाच-भाषा-चरण, मिश्र भाषायें—वक्षस्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी हैं। ये ही काव्य गुण हैं। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि तुझे अलंकृत करते हैं। भावी अर्थों को बताने वाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करती हैं।" (क) इस रूपक में आचार्य का लक्ष्य था—काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं को संरचनात्मक समग्रता

(क) शब्दार्थौ ते शरीर संस्कृत मुखं, प्राकृतं बाहुः जघनमपभ्रंशः
पैशाचं पादौ, उरोमिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि।
उक्ति चणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दानि,
प्रश्नोत्तर प्रवदित्व कादिकं च वाककेलिः अनुपासोपमादयश्च,
त्वामलं कुर्वन्ति। भविप्योर्थस्यामि धात्री श्रुतिरपि भवन्तमलि स्तौति।
—राजशेखर, 'काव्यमीमांसा'

में बाँधने का। काव्यपुरुष की उत्पत्ति का मिथ भी आचार्य ने कविता में दो रूपों में पेश किया। मध्ययुग में भारतीय कला में प्रभावशील वर्ग की उल्लेखनीयता है कि उसने रचनाप्रक्रियों या सृजन की समस्याओं को मानवीय शक्ति से इतर मान लिया था। यही कारण है कि कवि रचना के पूर्व देवस्तुतियाँ करते। उनसे कविता करने की शक्ति देने की याचना करते थे। यह प्रभाव बहुत दिन तक बना रहा, यहाँ तक कि आधुनिक कवियों में भी देवस्तुति के बाद प्रबन्ध की शुरुआत मिलती है। इसी परम्परा में स्वयंभू, प्रजापति और कालजयी जैसे विशेषण प्राप्त हैं। इसकी परिधि में कविता के विकास की कोई समस्या विचार के क्षेत्र में नहीं आती। वहाँ तो हर रचना घटित है। अधिक से अधिक उसके कौशल पर शास्त्रीय गोष्ठियाँ हो सकती थीं—पर रचनाप्रक्रिया का क्षेत्र गोष्ठियों में वर्जित थे। यह भाववादी जीवनमूल्यों के अनुसार रचना की कैफ़ियत थी। जैसा कि कहा था, "पूंजीवादी उत्पादन, आत्म रचनाओं में से कुछ का तो विरोधी है, उदाहरण के लिए कला और कविता।"[47] बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टि-सम्पन्न आलोचकों और सौन्दर्यशास्त्रियों के द्वारा रचनाप्रक्रिया की बारीक व्याख्या तथा कवियों द्वारा स्वयं आत्मकृत के निर्मम उद्घाटन के बाद अब यह समस्या विश्लेषण की परिधि में आ गई है। इसलिए अब इसकी देश और काल सापेक्ष पहचान की जाने लगी है।

सोवियत क्रांति और दो भयावह युद्ध—विश्व की दो विरोधी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। एक में सामन्त-पूंजीवाद से मुक्ति और दूसरे में फ़ासीवाद की पिशाचलीला। दोनों ने रचना के क्षेत्र में अद्भुत परिवर्तन किए। नीत्शे, कामू, काफ़्का, सार्त्र, गोर्की, मायकोव्स्की जैसे रचनाकार इस माहौल में जन्मे। सदियों से चली आती परिवर्तन की मंद गति, जिसकी समग्र पहचान जल्दी नहीं बन पाती थी, इन रचनाकारों के कारण तीव्र हो गई। स्थितियों में तीव्र परिवर्तन का प्रभाव लेखकों और चिंतकों पर पड़ा। गुणात्मक परिवर्तन आया। स्थितियों की गतिशीलता और निबन्ध के अनुरूप इनकी सारवस्तु निर्मित हुई। फ़ायड और मार्क्स ने दो दुनियाओं को परिवर्तन की संगति दी। फ़ायड के दर्शन ने मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों को समझने में जितनी सहायता पहुँचायी, उससे अधिक कामुक और विलासी बनाया। उसने बुर्ज्वा व्यवस्था को उबरने का उपाय देने के बजाय—विकृतियों पर आस्था टिकाने का दर्शन दिया। मार्क्स ने दुनिया के पीड़ितों को दासता से पूर्ण मुक्ति तथा सृजन के अनन्त सोपन दिखाए। इसीलिए, फ़ायडवाद विद्युत चकाचौंध की भाँति आकर्षित करने के बाद फ़्यूज हो गया जबकि मार्क्सवाद ने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में आमूल परिवर्तन और विकास की मशाल जला दी। इस कारण रचना की शून्य और आकस्मिकता के प्रति निर्भरतायें समाप्त हुईं।

समकालीन दुनिया में समाज की गत्यात्मकता और रचना के विकास के अन्तर्सम्बन्ध अत्यन्त जटिल है। मार्क्स ने इस जटिलता का उल्लेख करते हुए यह भी कहा कि, "कुछ शीर्षस्थ रचनाकार समाज के सामान्य विकास के साथ संवाद नहीं करते।"[4] इस कथन का लाभ उठाते हुए लोगों ने कहा कि मार्क्स कला की सामाजिक सम्बन्धों की निर्भरता और नियंत्रण को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचने के पूर्व यह देखना जरूरी है कि क्या मार्क्स रचना को सामाजिक अलगाव की उत्पत्ति मानते थे ? कदापि नहीं ? इस तरह के वक्तव्य उन्होंने रचना के उन शिखर क्षणों के लिये दिये हैं—जब समाज के विकास से रचना के सम्बन्ध सीधे नहीं टकराते। उन युगों के रचनाकार वस्तुतः इतिहास और भविष्य की इतनी गहराई में धँसे हैं कि वर्तमान से गुज़रती हुई नज़र तात्का-लिक उत्तेजना के मटमैलेपन को सतह में नहीं जाने देती। ऐसी रचनाओं की प्रगतिशीलता देर से पहचानी जाती है। किसी ज़माने में 'ग्राम्या' 'राम की शक्ति पूजा, से अधिक प्रगतिशील समझी जाती थी। समाज का सर्वांग और बराबर विकास एक साथ नहीं होता परन्तु इससे इस अवधारणा में अन्तर नहीं आता कि सामाजिक विकास और रचनात्मक विकास में अन्तर्सम्बन्ध है। इलया एहरेनबर्ग ने महान रचनाकारों के बारे में लिखा कि, "रचना की प्रगतिशीलता या निगतिशील-ता की पहचान के सिलसिले में महान रचनाओं के प्रति ग़लत दृष्टि बना ली जाती है।—उन रचनाओं में अनुभव की कमी नहीं होती, बल्कि वे परम्परा की विरासत और शताब्दी की समग्रता में धँसी होती है।"[49] प्रगतिशीलता समकालीन अथवा अतीत कालीन रचनाओं की तुलना मात्र से भी नहीं पहचानी जाती। दोस्तोव्स्की और निराला और पन्त, अज्ञेय और मुक्तिबोध की तुलना से यह फ़ैसला नहीं होगा कि प्रगतिशील कौन है? पहली जरूरत होती है कि तमाम रचनाकारों तथा उनकी रचनाओं की बुनावट को पहचाना जाय। उनकी निजी प्रक्रिया देखी जाय। वास्तविकता के किस पहलू और किस तरंग को उन लोगों ने स्पर्श किया है। संभव है कि वे पूरक सिद्ध हों। रचना-विकास की विभिन्न गति-रेखाओं को आत्मसात करने के बाद तुलना की स्थिति पैदा होती है। प्रगतिशीलता की दृष्टि न तो प्रत्येक रचना की पूर्ण स्वायत्तता की वकालत करती है और न अनुकरणमूलक सम्बन्धता की। महत्वपूर्ण बात यह है कि जीवन की स्वाभाविक विभिन्नता के बीच के अन्तर्सम्बन्धों की भाँति रचना की भी प्रक्रिया होती है। इसलिए प्रगति और विकास की विविध स्थितियाँ होती हैं। किन्हीं स्थितियों में पूर्व-तत्व चक्कर लगाते रहते हैं और दूसरी स्थिति में पूर्व-रूप पूरी तरह से विलयित होने के बजाय उच्चतर रूप में (प्रायः बदले हुए), जो उन्हीं से उभरते हैं अस्तित्ववान और गतिशील रहते हैं।[50] विश्व की प्रकृति में इतनी विविधता है कि रचना के लिए कभी कथ्य और शैली की निःशेषता संभव नहीं है। इसलिए तुलना के लिए काफ़ी

सतर्कता की जरूरत है। स्थूल—जैसे निम्नतर स्थिति से उच्चतर स्थिति—तुलना के विधायक नहीं होते।

परिवर्तन और विकास, सदैव प्रगति का ही अर्थ नहीं रखते। समाज में लगातार आन्दोलन होते हैं, पर सभी का परिणाम प्रगति नहीं होता। स्थिरता, निगति अथवा अनुसरण में से कोई भी परिणाम उनमें से निकलता है—आन्दोलन की प्रकृति के अनुरूप। निर्जीव प्रकृति में होने वाले विकास को वैज्ञानिक आम तौर पर अग्रगामी क्रिया नहीं मानते। वस्तुतः यह विकास जिसमें नैरन्तर्य, पुनर्सृजन और गुणात्मक रूप से नयी चारित्रकता हो, प्रगति कहलाता है। प्रगति की यह धारणा रचना के साथ भी लागू होती है। रचना के इतिहास को देखते हुए यह समझना आसान हो जाता है कि कहाँ परम्परायें स्थिर हैं, कहाँ नये का प्रवर्तन है और कहाँ सक्रांति की अवस्थायें हैं। गोर्की ने लिखा है कि, "नये रचयिता की प्रत्येक पुस्तक के गुप्त अन्तर्सम्वन्ध पुरानी से होते हैं और प्रत्येक नये रचना-कर्म में पुराने के तत्व निहित रहते हैं। स्टेनढाल, बाल्ज़ाक, फ्लावर्ट और मोपांसा एक दूसरे के विना असंभव होते। यदि प्रथम दो कर्मी रचना को अन्तिम निष्कर्ष तक न पहुँचाते; फ्लावर्ट और मोपाँसा को उसे पूरा करना पड़ता।"[51] इसका अभिप्राय हुआ कि रचनाकार का पहला दायित्व यह पहचानने में है कि ऐतिहासिक क्रम में उस काल में रचना कहाँ पर है? कथ्य और रूप की किन स्थितियों से रचनाकार निपट चुके हैं। विरासत की समग्र पहचान जितनी गहरी होती है, रचना में उतना ही नयापन आ जाता है। उपलब्धियों और प्रवर्तन का सतत द्वन्द्व रचनाकार के लिए अनिवार्य है। हर समय पूर्व उपलब्धियों का पुनर्मूल्यांकन हो जाता है। पूर्व उपलब्धियाँ जितनी बार जिस तरह से प्रवर्तन से टकराती हैं—उनकी स्थिति का नया रंग पहचान में आता है। मसलन तुलसी की रचनाओं का बोध रामचन्द्र शुक्ल, रमेश मेघ या विश्वनाथ त्रिपाठी से समाप्त नहीं होता। वह हर समय प्रवर्तक के काल की बोध-सीमा उसके दूसरे तेवर को खोल जाती है। कारण यह है कि जिस तरह वर्तमान में ज्ञान के लिए अज्ञान हमेशा चुनौती है, उसी तरह अतीत भी। अतीत तो और भी चुनौती है क्योंकि वह तो और भी पहले के ज्ञान का प्रतिविम्व है। अतीत की रचना के साथ एक खूवी और थी कि उस काल की रचना में वे भी तत्व शामिल हो जाते थे—जिन्हें रचयिता नहीं जानता था। जैसे वे चाँद के धब्बे की वात करते थे, पर उसकी वस्तुगत जानकारी उन्हें नहीं थी। आगे का प्रवर्तक कवि जव अतीत को अपने आत्मवृत्त में लाता है—तो उस अज्ञात प्रयोग के प्रति वदले हुए वोध को भी ध्यान में रखता है। बूर्ज्वा समीक्षक इस ऐतिहासिक अन्योन्यक्रिया को नहीं मानते। मसलन कालिंगवुड कहते हैं कि, "रचना का एक कार्य दूसरे तक नहीं पहुँचता। प्रत्येक कार्य एक वन्द इकाई है। एक इकाई से दूसरे में कोई ऐतिहासिक संक्रमण नहीं होता।"[52] उसने

और भी कहा कि, "रचना का रचना के रूप में कोई इतिहास नहीं होता। चरना का अर्थ सौन्दर्यशास्त्र की गतिविधि और कल्पना है। कल्पना का कार्य एक पूरी स्वायत्त इकाई पेश करना है। जिसका सब कुछ उसी में, उसी के लिए है। सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से—जिसके लिए केवल रचना, रचना की तरह अस्तित्ववान है—एक व्यक्ति का रचनाकर्म किसी निजी क्षण के अस्तित्व की तरह रूप में होता है।"[53] कुछ आलोचकों ने कहा कि यह तय करना कठिन है कि रचनाकार अपने सृजनकर्म में कितना आगे बढ़ा है। ऐसे लोगों के पास प्रगति को पहचानने के लिए उत्तम या निकृष्ट, उच्चतर और निम्नतर जैसे विभाजन भी होते हैं। दूसरे आलोचकों का मत है कि गत और आगत की तुलना करते हुए रचना की समीक्षा असंगत है। रचना को युग की अभिव्यक्ति के रूप में देखना काफ़ी है। ऐसी समीक्षायें अधूरी हैं। रचना का नितान्त व्यक्तिगत, निरीक्षण की अभिव्यक्ति, स्वतःपूर्ण अतुलनीय होना केवल भ्रम है। जो रचयिता इन बातों से तुष्ट होते हैं, उनकी रचनायें भी स्थिर या गतिशील, किसी ऐतिहासिक तरंग से जुड़ी होती हैं। फ़र्क यह होता है कि उनकी रचनाओं में विशिष्ट योग्यतायें, मौलिकता और कलात्मक दक्षतायें नहीं होतीं। रचना का स्वभाव ही है कि उसमें परम्परा और प्रवर्तन की द्वन्द्वात्मकता होनी चाहिए। निरन्तरता या प्रवाह में शामिल होने के लिए यही आवश्यक है। जीवन की ऐतिहासिक जटिलता वास्तविकता की गहरी घुली हुई संपृक्ति को रचनात्मक कल्पना में जितना मिलाती है—उतनी ही वह रचना अपने चरित्र के करीब होती है। इसे इतिहास और भौतिक ज्ञानमीमांसा का रचनात्मक द्वन्द्व भी कह सकते हैं। ऐसी ही रचना में हर सामाजिक विकास की स्थिति से जुड़ा व्यक्ति, मानवीय आदर्श और सचाई बोलती है। सचाई केवल घटित की ही नहीं, बल्कि सम्भावना की भी, संभावना केवल आत्यंतिक या राष्ट्रीय नहीं—मानवीय। मानवीय का यहाँ अर्थ है विश्व मनुष्य की सर्वोत्तम रचनात्मक दक्षता। यह तभी संभव है—जब रचयिता विश्व की सामाजिक-सांस्कृतिक गति के साथ भी अन्तर्सम्बन्ध महसूस करे—वस्तुपरक ढंग से। अन्ध राष्ट्रीयता या साम्प्रदायिकता के कारण रचना में सर्वोत्तम का सृजन नहीं होता।

रचना की प्रगतिशीलता के साथ जुड़ा प्रश्न शैली और पद्धति का भी है। इस प्रसंग में इतिहासकारों ने रचना के इतिहास में यथार्थ और यथार्थविरोधी धारा-ओं का उल्लेख किया है। यथार्थ धारा आदिम युग से अमिट सचाई के रूप में सक्रिय है, दूसरी धारा कृत्रिम और वर्गानुमोदित है। दोनों के बीच संघर्ष जारी रहा है। एक विचार है कि यथार्थवादी और रोमांसवादी—रचना की दो पद्धतियाँ हैं—जिसकी स्थिति ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दृश्य होती है। ये दोनों पद्धतियाँ अनेक रूपों में परिलक्षित होती हैं। इस विचार के जरिए रचना का तमाम क्षेत्र सीमित हो जाता है। संज्ञान के विकास की अनेक अनेक स्थितियों के रचनात्मक

तंतु टूट जाते हैं। मुख्य वात है कि रचना का कोई आन्दोलन जीवन से विल्कुल कटा नहीं रहा। जीवन से जुड़ने पर उसमें कथ्य की नवीनता आई और उसने रूप को भी चुनौती दी। रूप की गति कथ्य से जुड़ी रही। हिन्दी के मध्ययुगीन प्रयास में सूर, तुलसी, केशव, विहारी, घनानन्द में रूप की एकता नहीं है। शैली सवकी अलग है। शैली और रूप के तत्व मोटे रूप में ही चौपाई अथवा सवैया कहे जायेंगे। हर रचनाकार की रूप-शैली भिन्न तो है ही—विशिष्ट कालावधियों में अलग-अलग हो जाती रही है। कल्पना की चित्रात्मक क्षमता जितनी समग्र और मौलिक होती है—उतनी ही शैली और रूप काल-सापेक्ष हो जाते हैं। शास्त्रीय युगों की शैली रोमानी युगों से मेल नहीं खाती। शास्त्रीयता से यथार्थ अथवा रोमान से शास्त्रीय युगों में स्थानान्तरण के अपने द्वन्द्व रहे हैं। ये द्वन्द्व जव तीव्र होते हैं तो या तो रोमान पैदा हुआ है या यथार्थ। रोमान से यथार्थ की ओर भी प्रस्थान हुआ है। यथार्थवादी चेतना का अपना रोमान होता है, जिसे गोर्की ने सक्रिय रोमांस कहा है। रोमांस से यथार्थ के रूप और आलोचनात्मक यथार्थ की प्रक्रिया भी जन्म लेती रही है। उस समय के लेखक रोमांस का अतिक्रमण करते प्रतीत होते हैं। जैसे हिन्दी के छायावाद के भीतर से पन्त और निराला मुक्त होते नजर या रहे हैं; या प्रेमचन्द उस काल की सीमा को तुरन्त लाँघ जाते हैं। दुनिया में वहुत से ऐसे रचनाकार हैं, जो समाजवादी मूल्यों को सीधे सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार न करते हुए भी सामाजिक सचाइयों को रचनात्मक आकार देते हैं। उनमें से जो प्रतिभाशाली हैं वे समकालीन संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। उनमें से अधिकांश आलोचनात्मक यथार्थ के नजदीक होते हैं। रचना के विकास में उसकी प्रगति अन्तर्विरोधों को समझने में दिखती है। तोलसतोय की रचना 'युद्ध और शांति' इसीलिए तो लेनिन को पसन्द थी, क्योंकि उसमें रूसी समाज की भयानक वर्गगत खाइयाँ दिखाई पड़ती थीं।

कला की विभिन्न विधाओं में अन्तर्सम्बन्ध होते हैं, पर विकास की दृष्टि से यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक विधा का साथ-साथ समानांतर विकास हो। रचनात्मक आन्दोलनों के समय विधामूलक केन्द्रीयता भी उपस्थित हो जाती है। पहले का साहित्य तो ज्यादातर कविता या नाटक के रूप में व्यक्त हुआ। आधुनिक युग में कभी कथा-साहित्य युग का विम्ब पूरी ताकत से पेश करता है, कभी कविता। रूस में एक साथ कथा-साहित्य का विकास हुआ। प्रतिभायें उसी ओर झुकीं। हिन्दी में आधुनिक युग में छोटे-छोटे काल के लिए ही सही-कविता, कहानी या आलोचना प्रधान हो जाते हैं। माहौल में कोई विधा गहरे उतर जाती है, तव रचनाप्रवाह मुड़ जाता है। वास्तविकता के विम्व उस विधा के भीतर से गुजरने लगते हैं। कभी कोई विधा हाशिये में आ जाती है, कभी कोई। विधा के घिसने से कई वार कथ्य की तेज धार कुंठित होने लगती है, तव विशिष्ट रचनाकार उससे

भी टकराकर कथ्य और रूप-परिवर्तन का गम्भीर तनाव झेलता है। परंपरागत कविता से मुक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण और प्रगतिशील तनाव निराला ने झेले। उसी काल के कवि पन्त और प्रसाद में ऐसे तनाव नहीं है। परिवर्तन का सरल अनुप्रवेश ही उनकी रचनाओं से गुज़रता है। विधा-परिवर्तन, रूप-परिवर्तन का स्वतंत्र आन्दोलन भी इस तनाव को नहीं झेल सकता। इसमें विवाद करना संभव नहीं है कि तनाव रूप की नहीं—कथ्य की तेज़ी से उभरता है। यह कथ्य में कुछ जोड़ने का होता है। यह पुराने और नये का द्वन्द्व है। द्वन्द्व की तीव्रता नयी-पुरानी खाई पर आधारित है। यह हक़ीक़त है कि समस्याओं की गई पहचान और नयी समस्याओं की खोज में संलग्न रचनाकार में ही प्रगतिशीलता की संभावनाएँ होती हैं। समस्याओं की नवीनता ही नयी समस्याओं का उदय—दोनों के लिए रचनाकार में व्यवस्था का एक नया सपना होता हैं। यह बीते सपने और भावी सपने का भी संघर्ष हो जाता है। आलोचक यही तो देखता है कि रचयिता क्या वास्तव में परिवर्तन के लिए व्याकुल है। व्यवस्था के सपने के बिना परिवर्तन की इच्छा लगभग अराजक होती है, जो प्रगतिशील या विकासमूलक नहीं। यह भी संभव है कि प्रगतिशील सपने, व्यवस्था के निश्चित आदर्शों के बावजूद रचना के भीतर वे प्रक्रियायें न ढल सकी हों। "प्रगतिशील रचना के भीतरी अन्तर्विरोधों को हमें नही झुठलाना चाहिए। क्योंकि तरक़्क़ीपसन्द आन्दोलन भी किसी न किसी हिस्से में चूकते हैं। रचना की जो महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति रही है, विकास की विभिन्न स्थितियों में उसी का रूपान्तरण आमतौर पर नहीं हो पाया।"[54] आशय है कि नये-पुराने के निर्णय से ही रचनात्मक प्रक्रिया तय नहीं हो जाती। उसे व्यक्तित्व में अर्जित करना पड़ता है—मूल्य के रूप में इसी में हर रचयिता का फ़र्क तैयार होता है। राष्ट्रीय चरित्र का साहित्य होते हुए भी प्रगति और उपलब्धि की अर्जित, रचित स्थितियों में कभी समानता नहीं मिलती। दिनकर और नागार्जुन की कवितायें एक तरह नहीं हो सकतीं, क्योंकि दोनों व्यक्तित्व अर्जन-सर्जन में भिन्न हैं। बेलिंस्की ने लिखा, "जितका बड़ा कवि, उतनी ही अधिक निश्चयात्मक सामाजिक सम्पृक्ति और उतने ही गहरे अन्त:सम्बन्ध उसकी विकासदृष्टि और सक्रिय प्रतिभा प्रकार तथा समाज के ऐतिहासिक विकास से।"[55] रचना में आन्तरिक बुनावट का स्वरूप ही प्रकट होता है। यह तो आलोचना का काम है कि वह उस बुनावट के चरित्र को पा ले। आलोचक रचनाकार की व्यक्तिगत क्षमताओं को अनुभवों की ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में ही जाँचता है। दोनों को इस समस्या को आत्मसात् करते सरलीकरणों से बचना चाहिए। उन्हें अवधि और स्थान की संकुचित धुरी में भोले तरीके से नहीं बाँध देना चाहिए। रचनाकार के समय और इतिहास के अन्त:सम्बन्धों को बड़ी सावधानी से जाँचना चाहिए। उस समय मूल्य और सौंदर्य-मूल्यों को लेकर भ्रम का शिकार नहीं होना चाहिए। मूल्य

की पहचान से रचयिता की कथ्य के प्रति दिशा का पता चलता है। वह आत्मवादी है या वस्तुवादी इसका संकेत मिल जाता है। वह इतिहास की वास्तविक अनुभूति में भी शामिल होता है। सौंदर्यमूल्य मूल्य की तुलना में ज्यादा जल्दी बदल जाते हैं, वे हमारी नयी रुचियों के अनुसार नये समाज के रूप में प्रकट होते हैं। रचयिता उन्हीं के ज़रिये आत्मविश्वासपूर्ण तरीके से सौंदर्यमूल्यों के साथ रचनात्मक क्रीड़ा करता है। प्रगति रचना की दुनिया में भी स्थिर नहीं हो पाती। जैसे कि ज्ञान के निरन्तर विकास को कभी कम नहीं किया जा सकता—उसी तरह सौन्दर्यमूल्यों का ज्ञान विकासदृष्टि को माँजता, गहराता और विचरण को मुक्ति देता है और रचना का विकास सौन्दर्य मूल्यों को नये-नये रूप में पेश होने की बेचैनी देता है। उसी कारण रचना और आलोचना, विशेष कर कला और विज्ञान के सामान्य विकास पर निर्भर करते हुये, द्वन्द्वात्मक तरीके से ऊर्ध्वोन्मुख होते हैं। इससे ही रचना की प्रगति एक वस्तुपरक साक्ष्य बन जाती है। रचना के भीतर क्या नहीं मिलता—ज्ञान, प्रकृति के नियम, वैज्ञानिक विकास, आस्वाद का धरातल, युगीन प्रतिनिधि कलायें, ईर्षा-द्वेष, संघर्ष, संकीर्णतायें, सीमायें, रूढ़ियाँ, प्रतिक्रियायें, सकारात्मक-नकारात्मक स्थितियाँ, इच्छायें-अनिच्छायें, आस्था-अनास्थायें प्रभावशील वर्ग आदि। ये सभी आन्तरिक स्थितियाँ ऐन्द्रिय-रागात्मक विश्वासों के साथ रचना का आकार बनाती हैं। यही कारण है कि रचना-मनुष्य का बिम्ब बन जाती है। अमूर्तन से उसका परिणति में कोई रिश्ता नहीं रह जाता। यथार्थ रूप में मनुष्य और नये मनुष्य का ऐतिहासिक बिम्ब रचना में ही मिल पाता है। रचना की निरन्तर चेष्टा बेहतर मनुष्य के बिम्बन की होती है। हिन्दी में आज की मूर्त भाषा में बात की जाय तो रचनाकार का संघर्ष इस देश के भीतर आधुनिक आदमी रचने की है। पुराने और आधुनिक का संघर्ष उसकी चुनौती तो है ही, आधुनिकता के अन्तर्विरोधों से टकराना भी कम जरूरी नहीं। यह इसलिए कि "आधुनिक" की अवधारणा को हमारे काल ने काफी गड्ड-मड्ड किया।

'रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता' से साभार

संदर्भ- संकेत

1. योहान वोल्फ गांग गेटे, 'कानवरसेशन ऑफ गेटे', पृ० 381-82
2. वही—"किल द डाग, ही इज रिव्यूअर."
3. डार्क हेयर्ड क्रिटिक्स.'
4. राजशेखर, 'काव्यमीमांसा', पृ० 31
5. वही, पृ० 35

6. वही पृ० 35—"सान्ति पुस्तक विन्यस्ता: काव्यवन्ध्या गृहे-गृहे
द्वियास्तु भावक मन: शिला पट्टानि कुहिता:
7. वही, पृ० 31
8. जार्ज लुकाच, मार्क्सवादी, लेनिनवादी, ज्ञानमीमांसा में सत्य की वस्तु-परकता (अनुवाद-कमलेश) (निबन्ध) 'आलोचना, जुलाई-सित० 1971' पृ० 36
9. देवीशंकर अवस्थी, 'रचना और आलोचना' (1979), पृ० 11
10. आमी लावेल (Amy Lowell), क्रियेटिव प्रौसेस (संपादित)—ब्रेव्सटर जीसलिन, पृ० 111
11. क्रिस्टोफर काडवेल, 'स्टडीज एण्ड फरदर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर' पृ० 77
12. वही, पेज 77-78
13. हार्थान, 'आइडेन्टिटी एण्ड रिलेशनशिप', पृ० 132
14. आर० डब्लू० जेरार्ड, द वायलाजिकल बेस आफ इमैजिनेशन (लेख), क्रिपेटिव प्रोसेस, ब्रेव्सटर जीसेलिन, पृ० 227
15. वही, पृ० 227.
16. देवीशंकर अवस्थी, 'रचना और आलोचना', पृ० 14
17. आर० डब्ल्यू० जेरार्ड, द बायलाजिकल बेस आफ इमेजिनेशन, 'क्रियेटिव प्रौसेस', ब्रेव्सटर जीसेलिन एडीसन, पृ० 249
18. लूनाचार्स्की, 'आन लिटरेचर एण्ड आर्ट', पृ० 16
19. जार्ज लुकाच, 'राइटर एण्ड क्रिटिक', पृ० 200
20. गजानन माधव मुक्तिबोध, 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध', पृ० 3-4
21. वही, 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० 26
22. वही, पृ० 28
23. देवीशंकर अवस्थी, 'रचना और आलोचना', पृ० 11
24. गणेश त्र्यम्बक देशपांडे, 'भारतीय साहित्य शास्त्र', पृ० 95 से उद्धृत
25. भागीरथ दीक्षित, 'अभिनव साहित्यचिन्तन', पृ० 15
26. नामवर सिंह, 'इतिहास और आलोचना', पृ० 201-202
27. रमेश कुन्तल मेघ, अथातोसौंदर्यजिज्ञासा, पृ० 135
28. रामविलास शर्मा, 'साहित्य के स्थायी मूल्य और मूल्यांकन', पृ० 12-13
29. जार्ज लुकाच, 'सोल एण्ड फार्म', पृ० 20
30. वही, पृ० 23

31. लूसिए गोल्डमान, 'साहित्य का समाज शास्त्र, इतिहास, वर्तमान, स्थिति और पद्धतिमूलक समस्यायें (अनुवाद), 'आलोचना जन०, मार्च 1972', पृ० 9
32. क्रिस्टोफर काडवेल, 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर', पृ० 54
33. वही, पृ० 129
34. वी० आई० लेनिन, 'कलेक्टेड वर्क्स', (लंदन) 1961, पृ० 360
35. जार्ज लुकाच, 'राइटर एण्ड क्रिटिक', पृ० 62
36. वही, पृ० 187
37. वही, पृ० 211
38. लूसिए गोल्डमान, 'हिडेन गाड', पृ० 20
39. ग्राम्शी, 'द प्रिज़न नोटबुक', पृ० 133
40. टी० एस० ईलिएट, 'आन पोयट्री एण्ड पोयट्स', पृ० 117
41. ग्राम्शी, 'द प्रिज़न नोटबुक', पृ० 353
42. हर्बट रीड, 'ह्वाट इज़ रेयूव्लूशनरी आर्ट ?', पृ० 163
43. जे० एस० हाथार्न, 'आईडेन्टिटी एण्ड रिलेशनशिप', पृ० 175-76
44. ए० जीज, 'फाउन्डेशन्स आफ मार्क्सिस्ट एस्थेटिक्स, पृ० 16
45. वही, पृ० 18
46. लूसिए गोल्डमान, 'साहित्य का समाजशास्त्र, इतिहास, वर्तमान स्थिति और पद्धतिमूलक समस्यायें', (अनुवाद), 'आलोचना, जन०-मार्च 1972', पृ० 7
47. कार्ल मार्क्स, 'थ्योरीज़ आफ़ सरप्लस वेलू', पार्ट 1 (मास्को), 1969, पेज 285
48. वही, 'ए कन्ट्रीब्यूशन टु द क्रिटीक आफ़ पोलिटिकल इकानामी', (मास्को-1970), पृ० 215
49. इलया एहरेनबर्ग, 'कलेक्टेड वर्क्स' पृ० 464
50. एम० रूतकेविच (M. Rutkevich-Vo Prosy Filosofii) वो प्रोसी फिलोसोफ़ी, नं 8/1965, पृ० 30
51. मैक्सिम गोर्गी, 'द राइटर्स क्रियेटिव इन्डिविज्युएल्टी एण्ड द डेवलपमेंट लिटरेचर, (एम० ख्रेपचेंको), पृ० 289 से उद्धृत
52. आर० कालिंगवुड, 'एसेज इन लिफ़ासफ़ी आफ़ आर्ट', (ब्लूमिंगटन—1964) पृ० 152
53. वही, पृ० 151

54. एम० खैपचेंको, 'द राइटर्स क्रियेटिव इंडिविज्युएल्टी एण्ड डेवलपमेंट आफ़ लिटरेचर', पृ० 323
55. टी० जी० वेलिन्स्की (कम्पलीट वर्क्स, पेज 502), खैपचेंकों, पृ० 332

व्यंग्य की प्रकृति और व्याप्ति

मलय

हमने हास्य-विवेचन के अन्तर्गत यह ज्ञात करने का प्रयत्न किया था कि शुद्ध हास्य, परिहास एवं व्यंग्य-रूपों में सांयोगिक परिहास (तिक्त परिहास) हास्य का व्यंग्य की ओर विकसित चरण कहा जा सकता है। विकसित चरण इस अर्थ में कि हास्य, जो प्रमुख रूप से प्रारंभिक स्थिति में मनोवैज्ञानिक पहलू से सम्बद्ध है, का उपयोग व्यंग्य में आकर बौद्धिक दृष्टि की संयोजना के अनुकूल हो जाता है। व्यंग्य में यह तिक्त परिहास व्यंग्य-रूपों का प्रमुख तत्त्व बनकर उपस्थित होता है। अधिक अच्छा होगा यदि सामान्य रूप से व्यंग्य-रूपों के अस्तित्व को रूपायित करनेवाले समस्त प्रधान तत्त्वों की विवेचना की जाय, क्योंकि इससे निश्चय ही हम व्यंग्य-रूपों के प्रति एक निश्चित धारणा बना सकने की स्थिति में होंगे।

व्यंग्य-रूपों के प्रधान तत्त्वों की खोज उनके सम्पूर्ण परिवेश में उनकी रूपगत सीमाओं के अन्तर्गत गहरे में पैठने से हो सकती है—ऐसा करना किंचित् कठिन अवश्य है, किन्तु यदि हम इस कठिनता को पार कर जाते हैं तो निश्चय ही हमें सफलता के रूप में नीचे लिखे व्यंग्य-तत्त्व उपलब्ध होते हैं :

(1) श्रेष्ठता की भावना
(2) विकृति-संत्रास
(3) दृष्टि-संचेतना
(4) तिक्त-परिहास
(5) उद्दाम साहस
(6) आलोचना बनाम प्रहार
(7) बुद्धि-वैचित्र्य
(8) लक्ष्य का ताप
(9) अतिशयता
(10) अपकर्ष।

श्रेष्ठता की भावना—यदि हम अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार करें तो हमें ज्ञात

होगा कि व्यंग्य-रचना के मूल में बहुत कुछ व्यंगकार की अपनी श्रेष्ठता की भावना निहित रहती है। वह अपनी इन्हीं भावनाओं तथा व्यक्तिगत ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि सहज प्रवृत्तियों से परिचालित होता रहता है। यह भावना रचना में दृढ़ता एवं गहराई से व्याप्त हो जाती है कि व्यंग्य-रचना की तह से आने वाली संपूर्ण शक्ति इसी स्रोत से प्रवाहित होती-सी ज्ञात होती हैं। बल्कि यह समूचा आवेग वही है जिसको थॉमस हॉब्स ने (विशिष्ट प्रकार के) हास्य की तह में देखने का प्रयत्न किया। निश्चय ही यह हमें आकर्षित किये बिना नहीं रहता कि "हास्य का आवेग इसके अतिरिक्त कुछ नहीं जो कि अपने आप में हम 'आकस्मिक गौरव' में उद्भूत ऐसी श्रेष्ठता की भावना जो अन्य लोगों की या स्वत: की पिछली हीनता से तुलना करते हुए अनुभव की जाती है।"[1] वास्तव में हास्यास्पद पर व्यंग्यात्मक प्रहार भी इसी भावना से संचालित होता है, लेकिन यह भावना इतने गहरे होती है कि वह पाठक की समझ की वस्तु नहीं—और यदि ऐसा हो जाय तो व्यंग्य का अस्तित्व ही समाप्त समझिये।

विकृति-संत्रास—यह व्यंग्य-तत्वों में एक विशेष स्थान रखता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि "व्यंग्यकार यथार्थवादी होता है, न कि रोमांसवादी और उसकी दृष्टि उसके आस-पास के जीवन में परिलक्षित दोष और मूर्खता-पूर्ण असंगतियों पर केन्द्रित होती है।"[2] वास्तव में वह अपनी केन्द्रित दृष्टि से इन विकृतियों एवं दोषों से उन गुप्त रहस्यों की जड़ों को जान पाने में समर्थ होता है जो इनके अन्तर्गत छुपे रहकर इन्हें बल प्रदान करते हैं। व्यंग्य उन रहस्यों की जड़ों का आयोजनपूर्ण उद्घाटन करके उन पर अपने निजी ढंग से प्रहार करता है। विकृतियों का वह संत्रास जो साधारण व्यक्ति भोगता है, व्यंग्य का अपना वस्तु-तत्त्व उस समय बनता है जब वह उसकी बखिया उधेड़ने वाले छोरों को ज्ञात कर लेता है। खाली विकृतियों या असंगतियों की प्रदर्शनी कहानीकार या उपन्यासकार की अपनी वस्तु भले ही हो, लेकिन इस प्रदर्शनी के झमेले में पड़ना उसका काम नहीं—उसका काम तो उस प्रदर्शनी की तह में बैठकर एक-एक ऊँची दूकान के फीके पकवानों का भंडाफोड़ करना होता है—वह भी इस रीति से कि यह लोगों के दिमागों में चिरस्मरणीय रहे तथा दुकानदार की कमर तोड़ने में समर्थ हो। वह संत्रास को रोगी बनकर भोगता नहीं रहता, बल्कि वह स्वयं शल्यक्रिया करना आरम्भ कर देता है। क्योंकि "व्यंग्यकार का ध्यान रोग (विकृतियों) पर होता है और उसका कार्य उसका उन्मूलन करना है या उसकी शल्य-चिकित्सा कर देना है, अत: निश्चय ही यह विकृति-संत्रास-उन्मूलन का तत्त्व हर एक व्यंग्य-रचना में विद्यमान होता है और समूची व्यंग्य-भावना इस तत्त्व से शासित रहती है।"

दृष्टि-संचेतना—यह एक ऐसा तत्त्व है जो प्रत्येक साहित्यिक कृति में होता है,

लेकिन उसकी सर्वाधिक मात्रा व्यंग्य-रचनाओं में उपलब्ध होती है। इसका प्रमुख कारण व्यंग्य का स्पष्ट सामाजिक साभिप्राय होना ही है। रचना का यह तत्त्व विशेषत: हास्यास्पद के लिए उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके परिप्रेक्ष्य में विद्यमान अनेक व्यक्तियों के लिए आवश्यक होता है। बुराई के प्रति घृणा या दोषों के प्रति अरुचि उत्पन्न करना इसी तत्त्व का कार्य है। यह हास्यास्पद पर प्रहार करके सामान्यत: पुष्ट धारणाओं को वल देता है और यहीं आकर इस दृष्टि-संचेतना के कारण व्यंग्यकार स्वत: समाज का ऐसा आदरणीय व्यक्ति बन बैठता है जिसका स्थान समाज-सुधारक से भी ऊँचा और भव्य है। इसका प्रमुख कारण दृष्टि-संचेतना है जिसके बल पर व्यंग्य-रचना में नवजीवन की सृष्टि के आधार संकेतित होते हैं।

तिक्त-परिहास—व्यंग्य के लिए यह एक अनिवार्य तत्त्व है जिसके बिना समूची व्यंग्य-नियोजना पूर्ण नहीं हो सकती। अतएव व्यंग्य में परिहास की उपस्थिति अनिवार्य होती है। लेकिन हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि "परिहास के लिए दयालुता का तत्त्व आवश्यक है"[3], जबकि व्यंग्य की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। दयालुता को व्यंग्य में कोई महत्त्व नहीं। उसके स्थान पर कठोरता भले ही ग्रहणीय हो सकती है क्योंकि यह व्यंग्य-धारणा के अनुकूल है। यही कारण है कि व्यंग्य-भावना में तत्त्व के रूप में ग्रहणीय परिहास की विशिष्टता होती है कि उसमें दयालुता की अनुपस्थिति एवं उसके स्थान पर तिक्तता पायी जाती है। यही कारण है कि यह परिहास न कहलाकर तिक्त परिहास कहे जाने योग्य है। परिहास जब अपने तीखे परिवेश में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ व्यंग्य के तत्त्व के रूप में स्थान पाता है तो उसे अपने पूर्ण तत्त्व 'दयालुता' की बलि कर देनी होती है और यह वलि व्यंग्य-रूपों के अन्य प्रवल तत्त्वों के कारण ही होती है। निश्चय ही दयालुता का स्थान अलग कर दिये जाने पर परिहास एक स्फूर्तिदायी (बल्कि आक्रामक) रूप धारण कर लेता है। इसीलिए इस कथन में परिहास के परिवर्तित सन्दर्भ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है कि व्यंग्यकार को···परिहास के स्फूर्तिदायी प्रवाह, जिसमें दृढ़ एवं गम्भीर दृष्टिकोण का समावेश हो, की आवश्यकता होती है।"[4] व्यंग्य की यह दृढ़ता ही ऐसी वस्तु है जो अन्यों को उसका विचार-विन्दु स्वीकृत करने के लिए वाध्य कर देती है। व्यंग्य में निरूपित विश्वास इतने दृढ़ात्मक रूप से प्रस्तुत होते हैं कि तीखी मार के बावजूद उन्हें अस्वीकार कर सकने की क्षमता किसी में नहीं होती।

उद्दाम साहस—यदि स्पष्ट रूप से कहा जाय तो इसके ऊपर ही व्यंग्य-भावना की भित्ति स्थापित है। जिस वात के सम्बन्ध में लोगों को सोचने में भी भ्रम हो, व्यंग्य उसके वस्तुतथ्य के विरुद्ध अपनी अभिव्यक्ति करने में चूकता नहीं। आज लोकतन्त्र के इस युग में भले ही हमारे ऊपर उतना भय न रहा हो,

लेकिन कवि बिहारी को जयसिंह से कुछ कहना कोई मामूली बात नहीं। अपनी निर्भरता एवं साहस के बल पर व्यंग्य अपनी अभिव्यक्ति में धार को और अधिक पैनी कर पाता है और बेलाग चोट करता है। अतएव यह कहना उचित ही है कि जिस रचना में अधिक श्रेष्ठता का जितना गुण होगा, उसमें साहस एवं निर्भयता की दीप्ति भी उतनी ही आभासित मिलेगी। वह निर्भयता व्यंग्य के प्रभाव और प्रतिक्रिया में भी परिलक्षित होती है। समाज भी व्यंग्य-रचनाओं के पीछे चलकर न केवल उसमें रस लेता है, बल्कि वह प्रत्यक्षतः आलोचना में भाग लेता हुआ मिलेगा। उसकी यह स्थिति इतनी निर्भय हो जाती है कि वह आलोचना करने में एक मानसिक आनन्द का अनुभव करता है। और, यही विन्दु व्यंग्य-रचना की सफलता का उच्चतम विन्दु होता है जहाँ से या जिस ऊँचाई से उसकी सफलता की समस्त स्थितियों का अनुभव स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

आलोचना बनाम प्रहार—यह प्रवृत्ति या इसका दबाव व्यंग्य में सर्वाधिक मिलेगा। इसका कारण यही है कि व्यंग्य का अभिप्राय ही विकृतियों पर प्रहार करके उनके अन्तर्गत पनपने वाले मुखौटों को उघाड़कर समाज के सम्मुख यथार्थ स्थिति प्रस्तुत करना है। लेकिन, इस सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह आलोचना सही आलोचना के रूप से पर्याप्त भिन्न होती है। इसमें एक ओर तो प्रहार करने की तीव्रता अपने प्रबलतम रूप में होती ही है, लेकिन विशिष्टता यह होती है कि इसके प्रहार कुछ ऐसे आवरणों की ओट में किये जाते हैं कि हास्यास्पद सम्पूर्ण रूप से निरावरण होकर लोगों के समक्ष मुख दिखाने काबिल नहीं रहता। नारमन फरलांग ने तो व्यंग्य के तत्त्वों में आलोचना एवं परिहास को स्पष्ट ही प्रधान तत्त्व निरूपित करते हुए व्यक्त किया है कि "साहित्यिक व्यंग्य के दो प्रधान तत्त्व हास्यास्पद या भद्देपन की आलोचना करना तथा परिहास हैं। व्यंग्य-लेखक गुण-दोषों की विवेचना करने वाला है जिसकी दृष्टि हास्यास्पद पर होती है।"[5] वास्तव में वस्तुस्थिति यह है कि ये दोनों तत्त्व इस प्रकार एकान्वित हो जाते हैं कि इनसे निर्मित एकान्वय से सम्पूर्ण व्यंग्य-भावना का अस्तित्व रूपायित होकर चमक उठता है। इसलिए यह कहने में संकोच नहीं कि "परिहास और आलोचना करने की प्रवृत्तियों का एकान्वय (फ़्यूजन) जिस स्वभाव में होता है, वह व्यंग्यात्मक है।"[6] असल में इन दोनो तत्त्वों को दो स्तम्भ समझना चाहिए जो व्यंग्य-भावना के सम्पूर्ण भवन को अपने ऊपर सम्हाले हुए हैं।

बुद्धि-वैचित्र्य एवं कल्पना-वैचित्र्य— नारमन फरलांग ने एक स्थान पर कहा है कि उस (व्यंग्यकार) की कला कल्पना की अपेक्षा प्रज्ञा की वस्तु है।[7] इसमें सन्देह नहीं कि व्यंग्य-भावना में भावना का वह स्थान नहीं जो बुद्धि को प्राप्त है और इसीलिए उसमें कल्पना की अपेक्षा प्रज्ञा का क्षेत्र अधिक व्यापक है। किन्तु

हमें ऐसे कथन भी मिलेंगे जो इसके विरोध की ओर अग्रसर होते हैं। गिलबर्ट हाइट के शब्दों में "व्यंग्यकार की कल्पना इतनी द्रुत हो कि पाठक की कल्पना से कई छलांग आगे हो।"[8] तब फिर प्रश्न उठता है कि यह विरोध क्यों ? वास्तव में यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो व्यंग्य में निश्चय ही कल्पना की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है। बुद्धितत्त्व का आधार है यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर सोचने की बात। लेकिन हम थोड़ा और सोचें तो हमें कल्पना के सम्बन्ध में भी एक समाधान प्राप्त हो जायेगा। वस्तुत: कल्पना का तत्त्व इसमें भी क्रियाशील होता है, लेकिन भावना को यहाँ प्रमुखता न मिलने के कारण वह उतनी स्वच्छन्द नहीं हो पाती—गतिशील चाहे जितनी भी हो। कल्पना की स्वच्छन्दता को नियन्त्रित करने के लिए उसके छोर को यथार्थ से बाँधकर बुद्धि के हाथों नियंत्रित कर दिया जाता है, ताकि बुद्धि उसके समस्त लाभों को व्यंग्य-भावना की अनुकूल स्थितियों के अनुसार ले लेने योग्य बन जाती है। और फिर इस सम्मिलित क्रियाशीलता से ऐसे तत्त्व की प्राप्ति होना संभव होता है जो व्यंग्य-रूपों की अनुकूलतर स्थितियों के लिए लाभदायी होते हैं। जहाँ तक कल्पना की द्रुत स्थिति का प्रश्न है, वह मेरे विचार से पाठक की कल्पना से छलांगों आगे रहती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह पाठक की समझ से परे हो, बल्कि उसे ऐसा समझना अधिक उपयुक्त होगा कि वह पाठक की समझ के अनुरूप तो है, किन्तु उसकी दौड़ या गति तक पाठक की पूर्णत: पहुँच नहीं। इसीलिए पाठक समझता जाता है और अपनी शक्ति के साथ छलांग मारती कल्पना के पीछे भागता है। यदि वह यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत होकर समझ में न आने वाली वस्तु होती तो वह उसका पीछा ही क्यों करता और फिर यहाँ-वहाँ भटकने से कैसे बचता। यद्यपि एक स्तर की माँग व्यंग्य-रचनायें करती हैं, फिर भी वह अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में सर्वाधिक, अधिसंख्य रूप से साधारण जनता के निकट की वस्तु होती हैं। वास्तव में स्थिति यह है कि कल्पना एवं प्रज्ञा के सम्मिलित सहयोग से एक ऐसी यथार्थ, पर रचनात्मक (मोहिनी) शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो व्यंग्यात्मक अभिप्राय की प्राप्ति में सहायक होती है और जो चपलता, छल एवं आतुरता से सम्पूर्ण व्यंग्य-भावना को विभेदगत रूप से उत्कर्ष की ओर ले जाती है।

लक्ष्य का ताप—यह एक ऐसा अंतिम एवं प्रत्यक्ष तत्त्व माना जाना चाहिए जो न केवल किसी एक व्यंग्य-रूप को रूपायित करने में योगदान करता है, बल्कि प्राय: समस्त प्रमुख व्यंग्य-रूपों को विशिष्ट स्तरों पर वर्गीकृत भी करता है। यह विचारधारा से सघन प्रतिवाद होने के उन्मेष के आवेग से मिलता है। इसकी निश्चित् उपस्थिति, गोपनीय कलाप एवं सुदृढ़ तथा प्रत्यक्ष संतुलित तनाव व्यंग्य-कुटुम्ब में चेतना का विस्तार करने वाले क्रियाकलाप हैं। लक्ष्य का आभास, छिपाव एवं स्पष्टीकरण तथा उन सभी में संवहित ताप एक ऐसा सूक्ष्म एवं स्पष्ट

गुण है जो समस्त व्यंग्य-रचना में अनुभव किया जाता है। इस 'ताप' के प्रभाव के कारण ही व्यंग्यकार एक संतुलित आक्रोश को सँजोये रहता है। वास्तव में लक्ष्यगत ताप ही वह तथ्य है जो व्यंग्य में आकांक्षित प्रतिफलन हेतु निरन्तर आगे और आगे बढ़ता जाता है। वह अभिप्राय की सिद्धि हेतु क्रियारत रहता है और अभिप्राय-प्राप्ति के साथ ही उसके अस्तित्व का अंत हो जाता है। वह आवश्यकता पड़ने पर आक्रोश के रूप में व्यंग्य-भावना में परिहास से मुक्त होकर भी अभिप्राय की प्राप्ति करने में चूकता नहीं, यद्यपि ऐसे मौके औसतन कम ही होते हैं, फिर भी यह एक लक्ष्य के ताप का दस्तावेज ही है कि "व्यंग्य का अभि-प्राय हास्य और निन्दाविनोद के द्वारा मूर्खता का उपचार और दोषों को दंडित करना है, किन्तु जब यह अभिप्राय पूरा नहीं होता तो वह मूर्खता की खिल्ली उड़ाकर और दोषों को कड़वी घृणा का पात्र बनाकर संतोष प्राप्त करता है।"[9] लक्ष्य के ताप से सम्बन्धित मुख्य वस्तु यही है कि अपने अभिप्राय को पूर्ण करने के लिए मूर्खता की खिल्ली उड़ाना और दोषों को कड़वी घृणा का पात्र बनाना उचित है। यदि यह कहा जाय तो एक स्थिति तक उचित ही होगा कि लक्ष्य के ताप ने व्यंग्य के माध्यम को पद्य से गद्य की ओर उन्मुख किया। इसका प्रधान कारण यही है कि "गद्य सर्वसाधारण को प्रभावित करता है और उस लेखक की उद्देश्य-पूर्ति के लिए, जिसका लक्ष्य परिणाम पाना है, उपयुक्त है।"[10] अर्थात् प्रत्यक्ष परिणाम पाने की आकांक्षा लक्ष्य-ताप की उन स्पष्ट रेखाओं को उभार देती है जिसके कारण वह व्यंग्य-भावना का ऐसा तत्त्व माना जा सकता है जहाँ सम्पूर्ण व्यंग्य-भावना के हृदय से प्रवाहित रक्तचाप का उसे अभिनियंता माना जा सकता है और जहाँ उसका चरम सरोकार समाज से जुड़कर उसे आगे ले जाने में होता है।

अतिशयता (Exaggeration)—डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता के अनुसार "अतिशयता का अंश व्यंग्य में इतना व्यापक है कि इसे व्यंग्य का मूल तत्त्व भी कहा जा सकता है।"[11] यदि अतिशयता को व्यंग्य का मूल तत्त्व मान लें तो फिर व्यंग्य या तो कल्पना के आधार पर भावुकता के निकट बुद्धि को ढक लेने वाली वस्तु हो सकता है या पागलों का प्रलाप कहा जा सकता है। ऐसा इसलिए क्योंकि व्यंग्य के मूल में रहकर अतिशयता इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करा सकती। क्या 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के परिणामों से हम परिचित नहीं? इसके आगे डॉ० मेंहदीरत्ता व्यक्त करते हैं कि "अतिशयता का सम्बन्ध व्यंग्य-चेतना के स्पष्टीकरण तथा व्यंग्य-प्रक्रिया के साथ अधिक है।" मेरे विचार से यहाँ उनका मतलब व्यंग्य-चेतना में व्याप्त उस तीव्रता से है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल माध्यमों की खोज करती है। निश्चय ही व्यंग्य-चेतना का यह उपक्रम लक्ष्य के ताप के सिवाय और कुछ नहीं।

लक्ष्य का ताप अपने माध्यमों की अनुकूल खोज में अतिशयता को भी महत्त्व देता मिलेगा । लेकिन हमें स्मरण रखना होगा कि यह अतिशयता यदि एक संतुलित बुद्धि-आयाम से उद्भूत नहीं तो व्यंग्य एक निरे हँसोड़ की अभिव्यक्ति के सिवाय कुछ नहीं हो सकता । हाँ, उचित एवं आवश्यकतानुसार व्यंग्य में अतिशयता का तत्त्व भी मिल जायेगा, लेकिन वह इतनी प्रधानता नहीं रखता कि उसे व्यंग्य का मूल तत्त्व या भेद मान लिया जाय, जैसा कि डॉ० मेंहदीरत्ता ने पहले उसे साधन और फिर उसी आधार पर उसे व्यंग्य-भेद स्वीकार कर लिया है ।

अपकर्ष—व्यंग्य के तत्त्व के रूप में अपकर्ष का उल्लेख न करना उचित न होगा । इसकी सही प्रवृत्ति को न समझ पाने के कारण लोग इसे व्यंग्य का रूप-भेद भी मानने लगते हैं जबकि वह ऐसा तत्त्व है जो कि सामान्य रूप से सभी प्रमुख व्यंग्य-रूपों में सूक्ष्म या स्पष्ट रूप में उपस्थित रहता है । डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने भी इसे व्यंग्य का एक भेद माना है । यदि हम इसे व्यंग्य का भेद मान लें तो उन्हीं के कथनानुसार अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं । डॉ० मेंहदीरत्ता ने वैदग्ध्य को भी एक भेद स्वीकार किया है तथा वे अपने इस कथन कि "किसी प्रतिष्ठित व्यापार के साथ निंदित अप्रतिष्ठित व्यापार को वैदग्ध्यपूर्ण ढंग से एक साथ रखना तथा उसमें साम्य स्थापित कर निर्णय देने की प्रवृत्ति अपकर्ष के अन्तर्गत आती है ।"[12] यहाँ वैदग्ध्यपूर्ण ढंग कहकर वह अपकर्ष को व्यक्त करते हैं । फिर प्रश्न उठता है कि जब अपकर्ष और वैदग्ध्य को उनके द्वारा ही अलग-अलग भेदों में स्वीकार किया गया है, तो ऐसी सम्मिलित एवं भ्रमपूर्ण स्थिति में वस्तु किस भेद में सम्मिलित होगी ? इतना ही नहीं, जान एम० बुलिट के अनुसार "विडम्बनापूर्ण हास्य, व्यंग्यकार की इच्छानुसार अपकर्ष का सर्वाधिक प्रभावपूर्ण रूप है ।"[13] अब डॉ० मेंहदीरत्ता के अनुसार जो कि अपकर्ष को स्वयं एक भेद मानते हैं, विडम्बना-भेद में उसे (अपकर्ष को) कैसे सम्मिलित कर सकते हैं ? स्थिति साफ़ है कि डॉ० मेंहदीरत्ता की बजाय जान एम० बुलिट का कथन ही अधिक सही ज्ञात होता है जिसमें अपकर्ष को भेद न मानकर एक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है । अतः हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि अपकर्ष व्यंग्य का एक ऐसा प्रभावशाली तत्त्व है जो उसके रूपों में स्थान पाता है । स्वयं जान एम० बुलिट ने यह स्वीकार किया है कि "अपकर्ष व्यंग्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । जब निपुणता एवं योजनाबद्ध कलात्मक क्रियाशीलता के द्वारा अपकर्ष प्रभाव करता है, जब तीक्ष्ण वैदग्ध्य का प्रयोग आवेश की नग्न तीव्रता को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, तब व्यंग्य की पहुँच अपने 'न्यू क्लासिक' लक्ष्यों तक होती है ।"[14] तात्पर्य यह कि व्यंग्य के एक बलशाली तत्त्व होने के कारण अपकर्ष सभी रूपों में उपस्थित रह सकता है । इस प्रकार जाहिर है कि हम उसको रूप-विशेष

कैसे मान सकते हैं। वस्तुत: अपकर्ष की दौड़ मूलत: समाज में व्यक्ति के लिए लज्जा के घृणित स्तर का निर्माण करना है। "अपकर्ष व्यक्ति को सामाजिक लज्जा से दण्डित कराने में पूरा हाथ रखता है, क्योंकि न्यायालयों की अपेक्षा समाज द्वारा दिया गया लज्जा का दण्ड अधिक घातक और गहरे तक असर करने वाला होता है।"[15] सामाजिक लज्जा एवं उपहास के भय से व्यक्ति नैतिक मान-दंडों को अनचाहे भी ग्रहण करने को तैयार हो जाता है। अतएव अपकर्ष को हमें व्यंग्य के उन तत्त्वों में स्थान देना चाहिए जो उसकी शक्ति को पूरी तरह अपनी क्रियात्मकता से अनेकगुनी कर देते हैं। वैसे हमें यह ध्यान रखना होगा कि व्यंग्य का स्पष्ट रूप रोष एवं क्रोध को उभाड़ता नहीं, वह तो इनसे बचकर ही एक ऐसे विन्दु तक पहुँचना चाहता है जहाँ अपने संकल्प में विजयी घोषित हो। यद्यपि वह कुछ स्थितियों में अमर्ष एवं क्रोध से बच नहीं पाता, लेकिन उसका विशुद्ध प्रयास बौद्धिक सन्तुलन के द्वारा इनसे दूर का ही होता है। पुनश्च, यह कह देना उचित होगा कि अपकर्ष व्यंग्य का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि "अपकर्ष व्यंग्य में प्रवाहित भले ही रह सकता है या हो, किन्तु वह स्वयं अनिवार्य रूप से व्यंग्यात्मक नहीं है, वह तो व्यंग्यकार के लिए एक संभव मार्ग का प्रवेश-द्वार ही प्रस्तुत करने की स्थिति से सम्पन्न कहा जा सकता है।"[16] ज़ाहिर है कि अपकर्ष व्यंग्य का भेद या प्रकार न होकर एक तत्त्व ही माना जाने योग्य है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त विवेचित सम्पूर्ण तत्त्व अपनी समन्वित स्थिति में व्यंग्य-भावना की सृष्टि करते हैं—ऐसी सृष्टि जिसमें सहानुभूति को स्थान नहीं। इन सहानुभूतियों को स्थान न देना मानव एवं समाज की हिताकांक्षा की दृष्टि को लेकर ही है—अन्यथा नहीं। यदि व्यंग्यकार सहा-नुभूति से पीड़ित हो जाये तो निश्चय ही वह अपनी विवेक-दृष्टि खो सकता है क्योंकि "हमारी सहानुभूति की क्रियात्मकता कुछ समय के लिए हमें अपने आवेग में बद्ध करके वस्तु को विवेक-दृष्टि से देखने में हमारे आड़े आ सकती है और इसमें वह एक आनन्द की खोज भी करती मिले तो आश्चर्य नहीं। किन्तु यह पूरी तरह स्पष्ट एवं सत्य है कि मिथ्याचरण एवं बुराइयाँ एक दूरी से ही दिखलाई देती हैं—बल्कि वे इस दूरी में स्थित उस स्थान से पूरी तरह देखी जा सकती हैं जहाँ से हमारी नैतिक सहानुभूतियाँ इसका अवलोकन करने में कठिनाई उपस्थित कर देने में असमर्थ होती हैं, जहाँ से वे यथार्थगत स्थितियाँ हमारी विवेकपूर्ण दृष्टि-संचेतना के कारण हास्यास्पद का रूप धारण कर लेती हैं।"[17] अत: स्पष्ट है कि व्यंग्य में सहानुभूति अपने सामाजिक दायित्व के सिवाय (जो कि अपनी विचारधारात्मक संचेत्य दृष्टि से निश्चित किया जाता है) किसी नैतिकता या गलत परम्परा के प्रति नहीं होती। इसीलिए वह (व्यंग्यकार) अपनी प्रहारात्मक

आतुरता में निर्द्वन्द्व रूप से आगे आकर विकृतियों पर प्रहार करने में सफल होता है। एक बात और—यह बात विवादास्पद हो सकती है कि उपर्युक्त विवेचित तत्त्वों में कितने प्रधान तत्त्व हैं ? लेकिन मेरे विचार से इसमें दो मत नहीं हो सकते किसी न किसी प्रकार से ऊपर विवेचित सम्पूर्ण सामान्य तत्त्व किसी न किसी व्यंग्य-रूप में अवश्य ही भागीदार की हैसियत से उपस्थित होते हैं। यह बात अलग है कि भिन्न-भिन्न व्यंग्य-रूपों में इन तत्त्वों की क्रियाशीलता की मात्रा अत्यधिक या अधिकतम अंश में पाई जाये।

—'व्यंग्य का सौंदर्य शास्त्र' से साभार

संदर्भ-संकेत

1. ह्यूमर : 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', नं० 11, पृ० 885
2. 'इंगलिश सटायर' : एडीटेड बाई, नारमन फरलांग, पृ० 18
3. ह्यूमर : इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, नं० 11, पृ० 885
4. गिल्सवर्ट हाइट : दी एनाटामी ऑफ़ सटायर, पृ० 242
5. 'इंगलिश सटायर' : एडीटेड बाई, नारमल फरलांग, पृ० 1
6. वही, पृ० 12
7. वही, पृ० 1
8. गिलवर्ट हाइट : 'दि एनाटामी आफ सटायर', पृ० 241
9. वही, पृ० 156
10. 'दी इंगलिश सटायर' : एडीटेड बाई, नारमल फरलांग, पृ० 18
11. डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरता : 'आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य में व्यंग्य', पृ० 30
12. वही, पृ० 30
13. जान एम० बुलिट : 'दी एनाटमी ऑफ़ सटायर', पृ० 18
14. वही, पृ० 48
15. वही, पृ० 18
16. जेम्स सदरलैन्ड : 'इंगलिश सटायर', केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, पृ० 24
17. जान एम० बुलिट : 'जानथन स्विफ्ट एण्ड दी एनटामी ऑफ़ सटायर', पृ० 7

साहित्य, विज्ञान और नयी नैतिकता

राजेश्वर सक्सेना

आज के बदले हुये जीवन-सन्दर्भों में साहित्य और नैतिकता पर हमेशा की तरह विचार नहीं किया जा सकता। इन दोनों के सम्बन्धों की आवश्यकता और उपयोगिता पर सही विचार वही कर सकता है जिसके पास स्वस्थ इतिहास-बोध है, प्रगतिशील विचारधारा है और जो विज्ञान युग की मनुष्यता में आश्वस्त हैं। कुछ लोग हैं जो अस्तित्व की समस्या पर बायोलॉजिकल दृष्टि से सोचते हैं। ऐसे लोग नैतिकता के प्रति चिन्तित तो होते हैं लेकिन उनकी नैतिकता-विषयक बुनियादी समझ दोषपूर्ण होती है। वे उसके अभावात्मक और निषेधात्मक मार्ग का अनुसरण करते हैं; प्रकारान्तर से परम्परावादी धार्मिक नैतिकता का ही बौद्धीकरण करने लगते हैं। उनकी सोच अवैज्ञानिक होती है। जबकि अस्तित्व की समस्या ग्राह्यात्मक नैतिक समस्या होती है, जो सापेक्ष, गतिशील और मूल्य-केन्द्रित होती है। अस्तित्व की मानवीय गुण-चेतना के विकासशील आचरण में ही नीतिबोध समाहित होता है। इस तरह बायोलॉजिकल दृष्टि से अस्तित्व की सोच व्यक्तिमुख हो जाती है।

डार्विन ने जातिवर्गों के विकास में (ताक़तवर के अस्तित्व में) नैतिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाया और फ्रायड ने दमन, पीड़ा की प्रतिक्रिया में नैतिकता को झुठलाया है। दोनों ने सामाजिक जीवन में विकसित होने वाली नैतिकता के मानवीय और परिस्थिति-सापेक्ष यथार्थ पहलुओं को नकारा है। सही बात तो यह है कि डार्विन और फ्रायड के चिन्तन में ही नैतिकता का अस्वीकार है। नैतिकबोध हमेशा सामाजिक मनुष्य की अवधारणा से सम्बद्ध होती है। नैतिकता कभी भी प्रतिक्रियाजनित नहीं होती। चूंकि प्रतिक्रिया स्वयं में कोई हल नहीं होती इसलिए बायोलॉजिकल रीति से नैतिकता-बोध और नैतिक-आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता। नैतिकता हमेशा जीवन को खोलने वाली, स्पष्ट करने वाली और निरन्तर गति देने वाली, सार्वजनिक उद्देश्य को पूरा करने वाली मूल्य-चेतना के रूप में होती है। अतः नैतिक-बोध प्रतिमान निर्धारक मूल्य होता है,

और हर मूल्य की अपनी विचारधारा होती है। विचाराधारा-विहीन मूल्य नैतिक नहीं होते और इसीलिए वे मानवीय भी नहीं होते। विचाराधारा-विहीन नैतिक मूल्य-चेतना अमूर्त होती है, व्यक्तिवाद की पोषक होती है।

मध्ययुग में विचारों की अभिव्यक्ति जाति और धर्म के माध्यम से हुई। जातीय आचरण की संहिता पर धर्म का आधिपत्य रहा। जब तक जातीय जीवन में धर्म की प्रगतिशील भूमिका रही तभी तक मध्ययुगीन विचारों के सभी माध्यम साहित्य, कानून, न्याय, राजनीति आदि पर उसकी सकारात्मक छाप रही और नैतिक मूल्य-चेतना अपने समग्र रूप में उपस्थित रही लेकिन जैसे-जैसे धर्म का ह्रास हुआ, वदलती हुयी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में धर्म की गुणात्मक चेतना क्षीण होती गयी वैसे-वैसे धर्माश्रित सभी विचार अधोमुखी होने लगे, उनमें जीवन का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता समाप्त होने लगी। मध्ययुग के समाप्त होते-होते धर्म की समग्रता टूटने लगी, जीवन बिखरने लगा। साम्प्रदायिकता वढ़ने लगी।

आधुनिक युग के केन्द्र में उद्योग-विज्ञान, तकनालॉजी है। हमारा युग विवेक के आचरण पर आश्वस्त तथा यथार्थवाद पर आधारित है। विज्ञानाश्रित विचार-धारा ने हमारे युग को समग्रतापूर्वक पकड़ा है। विज्ञानाश्रित विचारधारा हमारे समूचे जीवन को आच्छादित किये है। अतः नई नैतिकता के निर्धारण में, नई मूल्य-चेतना के विकास में हमें विज्ञानाश्रित विचाराधारा के सामाजिक और यथार्थवादी चिन्तन और आचरण को साफ करना होगा, परिपक्व करना होगा। क्योंकि आज भी समूचे समाज के यथार्थ को अस्वीकार करने वाली व्यक्तिवादी, वर्गवादी, साम्प्रदायिक ताकतें इस विचारधारा की नैतिकता को वाधित कर रही हैं। नैतिकता वदली हुयी परिस्थिति और परिवेश में सार्वजनिक आचरण के 'हल' की ओर संकेत करती है। यह हल ही आचरण के नियमों या प्रतिमानों का निर्धा-रक होता है। अतः नैतिकता का सम्बन्ध मानव-अस्तित्व की समय-सापेक्ष आव-श्यकताओं और समस्याओं के हल की खोज और समाधान से होता है। अव समय आ गया है कि मनुष्य अपने अस्तित्व की वैज्ञानिक जानकारी हासिल करे और अपने यथार्थ को पुनर्मूल्यांकित करे।

उन्नीसवीं और वीसवीं शताब्दियों के वैज्ञानिक विकास के क्रम में जब मानवीय सम्बन्धों को देखते हैं तो साफ़ नज़र आता है कि मनुष्य वह नहीं है जिसे डार्विन ने निरूपित किया, मनुष्य वह नहीं है जिसका विश्लेषण फ्रायड ने किया। मनुष्य वह है जिसे कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी भूमिका में क्रान्तिकारी ढंग से विश्लेपित किया है। मनुष्य अपने भौतिक परिवेश को निरन्तर रचता है और उसे विकसित करता है। मनुष्य एक सृजनशील प्राणी है। उसकी सृजनात्मकता ही उसके अस्तित्व की परिचायक है। उसके सृजनात्मक-अस्तित्व

का सामूहिक-सामाजिक परिवेश होता है, उसका अपना यथार्थ इतिहास होता है। इसीलिये तो मनुष्य अन्य जीवों और प्राणियों से श्रेष्ठ है, प्रकृति की सर्वोत्तम रचना है। मनुष्य तात्विक अर्थ में युग-सापेक्ष संकृति का (मनुष्यता) निर्माता है। मार्क्स के मानवीय-अध्यात्म सम्बन्धी भौतिकवादी सिद्धान्तों को समझे बग़ैर मनुष्य के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। उनकी स्थिति को स्पष्ट और नियति को विश्लेषित और मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। 'नैतिकता' और 'स्वतंत्रता' तो मार्क्सवादी वैज्ञानिक चिन्तन के प्रेरक हैं। इन्हीं की रचनात्मक सम्भावनाओं को मार्क्सवाद स्पष्ट करता है।

इतिहास के अन्य युगों की तरह बीसवीं शताब्दी में भी मानवद्रोही छल का क्रूर आधिपत्य समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि वह बहुआयामी और बहुविचार-धारात्मक हो गया है। 'लैसेफ़यरे,' 'शक्तिवान के अस्तित्व' और 'न्यूरोसिस' तक की सिद्धान्त-यात्रा में मनुष्य ऋणात्मक और निषेधात्मक नैतिक नियमों के अधीन रहा है, गुलाम रहा है। तीनों में हीनता और उच्चता के प्रवर्गों का विकास हुआ है और समाज में हीनता का सम्बन्ध शोषित से तथा उच्चता का सम्बन्ध शोषक से रहा है। इन्हीं मूलों पर समाजशास्त्र के ढाँचे और अर्थशास्त्र की राजनीति को तय किया गया है। कार्ल मार्क्स ने इन प्रवर्गों को निरस्त किया। मनुष्य की लम्बी इतिहास-यात्रा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके यह स्थापित किया कि आधुनिक उद्योग, विज्ञान, तकनालॉजी के युग में मनुष्य को हीन और बीमार, उच्च और ऐश्वर्यशाली बनाने वाले समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और राजनीत्यार्थिकी के कानूनों से बाँधा नहीं जा सकता।

आज का मनुष्य अपनी परिस्थितियों के प्रति यथार्थवादी ढंग से तार्किक हो गया है। वह अपने उत्पादक-रूप और अपने उत्पादन की महत्ता की, सामाजिकता को समझता है। यह जानता है कि मात्र उपभोक्ता बनकर उसके श्रम का शोषण करने वाला अनैतिक व्यक्ति या वर्ग है, जो उसका दुश्मन है। अत: अब अस्तित्व का प्रश्न ही उस नैतिकता का प्रश्न है जिसमें श्रम की संस्कृति का समान भागी-दार होकर, सङ्-सम्बद्धता के आधार पर समूचे समाज और समग्र संस्कृति को आगे बढ़ाया जाए। आज मनुष्य विज्ञान की भौतिक गुणशीलता को, उसके सार्व-जनिक नियमों को समझने लगा है। अत: व्यक्ति के, वर्ग के प्रभुत्व को अस्वीकार करता है। इसी अस्वीकार में नस्ल-भेद, जाति-भेद, वर्णभेद का भी अस्वीकार है। अब यह वर्ग-विभक्त समाज और व्यवस्था के ऐतिहासिक अन्तर्विरोधों कोसमाप्त करना चाहता है। अपने जीवन के यथार्थ अन्तर्विरोधों को दूर करने का क्रान्ति-कारी अनुभव उसे इतिहास की भौतिकवादी समझ और विज्ञान के नियमों से मिला है। अत: नई नैतिकता, नया अध्यात्म और नई संस्कृति का सम्बन्ध सीधा इतिहास और विज्ञान से है।

सम्पूर्ण मानव समाज की इतिहास यात्रा में—उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का स्थान-निर्धारण यथार्थ और व्यावहारिक न होगा तब तक नई संस्कृति और नई नैतिकता का चिन्तन दोषपूर्ण और भ्रमोत्पादक रहेगा। क़ानून, न्याय, नीति आदि को वैज्ञानिक अर्थ में ही ग्रहण करना होगा। बीसवीं शताब्दी में पहली बार मनुष्य, इतिहास और संस्कृति के आन्तरिक लगावों का सिलसिला वैज्ञानिक नियमों के अनुरूप दिखाई देता है। जो देश और समाज अभी तक विज्ञान का सांस्कृतिक वरण नहीं कर सके हैं, वे पिछड़े हैं। उनकी सोच आत्मपरक है। बिलगाववादी है। कीड़ों की तरह बिलबिलाती ज़िन्दगी जी रहे हैं। उनमें गुलामी की हीनताएँ हैं, वे ग्लानि, संकोच और परहेजों से पीड़ित हैं, कुंठित हैं। उनमें सही स्वतन्त्रता-बोध विकसित नहीं हुआ है। लेकिन धीरे-धीरे विज्ञान, तकनालॉजी और उद्योगों का प्रभाव बढ़ रहा है, संस्कार बदल रहे हैं। भौतिक आवश्यकताओं की समझ के वस्तुवादी होने से ही स्वतन्त्रता का, नैतिक-चेतना का सम्बन्ध होता है। इस तरह विज्ञान की विचारधारा के तहत जातियों का, समाजों का आचरण बदल रहा है। अब हर समाज़ अपने जीवन को क्रान्तिकारी ढंग से बदलने में सक्रिय हो रहा है, शिक्षा-दीक्षा ले रहा है।

शोषण के समाज में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध समूचे समाज से और जनता से नहीं होता, वह वाक्छल होता है। अतः समझना है कि स्वतन्त्रता की आवश्यकता किसे है? शोषक को चूसने के लिए या शोषित को शोषण से मुक्त होने के लिए? दोनों क़िस्म की विरोधी स्वतन्त्रताओं की अपनी-अपनी मान्यतायें हैं। विज्ञान और विचारधारा के युग में शोषण से मुक्ति पाने का संघर्ष ही नैतिक है जिसे नकारा नहीं जा सकता। स्वतन्त्रता तो क्रान्तिकारी परिवर्तन के स्वीकार की अनिवार्य और प्राथमिक शर्त है। अतः शोषणविहीन समाज की संरचना के विचारधारात्मक पहलुओं से ही नई नैतिकता और नई संस्कृति की अभिव्यक्ति सम्भव है। (यदि हमारी अक्ल पर पर्दा नहीं पड़ा है तो दो महायुद्धों के बाद हर पिछड़े और गुलाम राष्ट्र का मुक्त होना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का ही द्योतक था। उपनिवेशवादी युग समाप्त हुआ। साम्राज्यवादी राजनीति से मुक्ति मिली। लेकिन आज स्वतन्त्रता और मानव-अधिकारों की, प्रजातंत्र की दुहाई देने वाले अपने-अपने आर्थिक साम्राज्यवाद के विस्तार में एशिया और अफ्रीका के देशों को पुनः अपना बाजार बना लेना चाहते हैं। बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों का जाल बिछाते हैं, गोला-बारूद से गोदाम भरते हैं, हिंसा और युद्ध को भड़काते हैं—किसकी स्वतन्त्रता के लिये? अब हमें राष्ट्रवादी और लोकवादी प्रजातन्त्र की भेद नीतियों को भी समझना होगा तभी नई संस्कृति, नई नैतिकता और स्वतन्त्रता के पहलू स्पष्ट हो सकेंगे।)

विज्ञान के वस्तुपरक सार्वजनिक नियमों की अपनी आचार-संहिता होती है,

जो पूर्वाग्रहों और भ्रमों से सर्वथा मुक्त होती है, उसे मानवीय चरित्र में रूपान्त-रित करना होगा। समाजवादी मानव-व्यवस्था में ही यह रूपान्तरण स्वस्थ रीति से हो सकता है। अतः नयी संस्कृति और नयी नैतिकता का सवाल जब भी उठता है तो विज्ञानयुग के मनुष्य की वस्तुपरक सार्वजनिक धारणा के निर्माण और विकास की यथार्थ परिस्थितियों पर केन्द्रित भी होना पड़ता है। संस्कृति भी नैतिकता-विषयक चर्चाओं में उन मुद्दों को प्रायः छोड़ दिया जाता है जिनसे सही निर्णय तक या उचित हल तक पहुँचा जा सकता है। अवसर चर्चा करने वाले अपनी अधूरी, एकांगी और अपरिपक्व समझ अथवा निहित स्वार्थों के और कारण तथ्य को उसके वृहत् आधार में नहीं पकड़ पाते। उदाहरण के लिए आज कुछ लोग सभ्यता और संस्कृति में भेद करते हैं। यह भेद उन्नीसवीं शती की मानसिकता की देन है जब साधन और साध्य की शब्दावली में वैज्ञानिक अनु-संधानों की मानवीय उपयोगिता पर विचार किया जाता था और धर्म की आड़ में (मिशनरियों, सेवा आश्रमों) साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण को बढ़ावा दिया जाता था।

यह वह समय था जब योरोपवासी एशिया और अफ्रीका के निवासियों को सभ्य बनाने, उन्हें नैतिक बनाने की जिम्मेदारी लिए हुए थे, लेकिन इतिहास ने स्पष्ट कर दिया कि उक्त सांस्कृतिक नारे के तहत उन्होंने गुलाम बनाया, जुल्म ढाये और शोषण किया। देखना है कि एशिया, अफ्रीका के शोषण का नैतिक प्रभाव योरोपियन समाजों पर कैसा पड़ा? इस गम्भीर मुद्दे को समझना भी जरूरी है। योरोप के प्रत्येक राष्ट्र ने अपने-अपने उपनिवेशों के उत्पादन-स्रोतों का दोहन करने के लिए विज्ञान, तकनालॉजी का प्रयोग किया। फलस्वरूप वहाँ तो विज्ञान तकनालॉजी का राष्ट्रबद्ध, वर्गबद्ध विकास हुआ और एशिया, अफ्रीका के देशों में मानव-विरोधी शोषण के कारण नये क़िस्म की आर्थिक-राजनीतिक चेतना पैदा हुई। योरोपियन-समाजों में वर्ग-वैषम्य बढ़ता गया। वहाँ मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था कुछ दिनों में एक विस्फोटक झटके की तरह साम्राज्यवादी-पूँजीवादी व्यवस्था में बदल गयी। चूँकि वहाँ के औद्योगिक समाज के निर्माण में उपनिवेशों की उत्पादन-क्षमता थी अतः राष्ट्रों की बढ़ती हुई औद्योगिक आकांक्षाओं और खुली प्रतियोगिताओं के कारण आपसी हितों में टकराव होने लगा। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति हुई, लेकिन नेपोलियन का उदय हुआ। अमरीका आजाद हुआ और प्रत्येक समाज में जनवादी आन्दोलन की प्रक्रिया तेजी पकड़ने लगी। राजनीतिक व्यवस्थाओं में, कानूनों में परिवर्तन हुए—जीवन की आचार-संहिता बदली।

बीसवीं शती के पूर्वार्ध तक उपनिवेशों के शोषण से प्राप्त सुखभोग और ऐश्वर्य वाली पश्चिमी दुनिया टूटने लगी। योरोप की अन्तरंग एकता समाप्त हो

गयी। श्वेत समाज की नैतिक-चेतना का पतन हो गया, परिणामस्वरूप दो विश्व-युद्ध हुए। इन दोनों युद्धों ने योरोप की चेतना को विकृत कर दिया। एशिया और अफ्रीका के उपनिवेश हाथ से निकलने लगे और गहरा सांस्कृतिक संकट पैदा हो गया, अभाव की मानसिकता बन गयी। उनका अर्थशास्त्र चरमरा गया। इस टूटने, विकृत होने और चरमराने की सूचना वहाँ के दार्शनिकों ने पहले दे दी थी। युद्धोत्तर अस्तित्ववाद ने भी उसी के आत्मघाती परिणाम को स्पष्ट किया। लेकिन योरोप ने अपने निराशावादी दार्शनिकों की सूचनाओं का विश्लेषण नहीं किया जिन्होंने पश्चिमी जीवनदर्शन पर गतिहीनता और धुरीहीनता का लांछन लगाया था। अपनी पराजित-मुद्रा में युद्धोत्तर योरोप आत्मवादी सा हो गया, अस्तित्ववादी कुंठा से अन्तर्मुखी हो गया। यह सब इसलिए हुआ कि साम्राज्य-वादी पूंजीवादी योरोप में 'मानव' और 'श्रम' को आदरणीय नहीं माना गया, रचानात्मकता और उत्पादनशीलता को इज़्ज़त नहीं दी गयी। आज अमरीका और योरोप के समाजों में जो विकृतियाँ हैं, विसंगतियाँ हैं, उन्हें दूर करने का कोई उपाय शेष नहीं रह गया है। चारों ओर अराजकता फैल गई है। बीटल, हिप्पी, रासरस-लीलावादी उन्मुक्त आचरण में योरोप और अमरीका का नैतिक ह्रास हो चुका है। वहाँ के आधुनिकतावादी साहित्य में सांस्कृतिक-संगति नहीं मिलती। एक तरह की यांत्रिकता पैदा हो गयी है जो मानवद्रोह और आत्म-विलगाव में फलित हो रही है। यथास्थिति और क्रमबद्ध विकास के नियमों पर चलने वाला पूंजीवादी समाज अपनी सार्थकता और उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगा चुका है। क्रान्तिकारी परिवर्तन के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नियमों को अपनाये बग़ैर योरोप जीवित नहीं रह सकता। युद्ध, विनाश और ध्वंस तो उसकी संस्कृति में गहरे उतर गये हैं। अब व्यक्तिवादी दुनिया को बचाना मुश्किल हो गया है क्योंकि उसके औचित्य और मर्यादा के मानवीय, नैतिक और प्रजातंत्री पहलू पूरी तरह समाप्त हो गये हैं। वह आक्रामक मुद्राओं में अपने रिक्त होते हुए, चुके हुए पुंसत्व को प्रदर्शित करने लगा है।

दूसरी तरफ समाजवादी व्यवस्था के पश्चिमी राष्ट्रों और समाजों ने युद्ध की पीड़ा को पराजित मनोभाव की कॉम्पलैक्स की तरह नहीं भोगा। इन समाजों में श्रम और मनुष्य का, उसकी रचनात्मकता और उत्पादकता का महत्व था। उन्होंने युद्ध से भारी नुकसान उठाकर भी नयी संस्कृति को रचा है और आचरण-गत अराजकता से मुक्त रहे। एक नैतिक अनुशासन से बँधे रहे (पूंजीवादी प्रजातंत्रों ने समाजवादी अनुशासन को स्वतन्त्रता का हनन माना) समाजवादी राष्ट्रों की नैतिकता का निर्माण शोषण-विहीन समाज की मार्क्सवादी विचारधारा से हुआ। इसीलिए इन राष्ट्रों में अनुशासित उल्लास और रचनात्मक उमंगें दिखायी देती हैं। यदि कोई अराजकतावादी इस अनुशासन को परतंत्रता कहता है तो

उसके अपने पागलखाने की व्यवस्था पर हँसी आने लगती है। आज यदि पूंजी-वादी दुनिया को पूर्वाग्रह-मुक्त होकर देखें तो लगेगा कि वहाँ की संस्कृति का सार-तत्व ही भ्रष्ट्र और खोखला हो गया है। बुनियादी ढाँचा लड़खड़ा गया है। वहाँ के इतिहास से प्रश्न करें तो वही सही उत्तर दे सकेगा कि योरोप के सृजनशील अंग क्यों बीमार हैं? पूरे शरीर में युद्ध की खुजली क्यों मची हैं?

पूंजीवादी दुनिया के एकाधिकारवादियों, धनवानों और पेशेवर राजनीतिज्ञों के विचारों में तरह-तरह की वर्जनायें हैं, टैबूज है। वे नहीं मानते कि विज्ञान अपनी प्रक्रिया से लेकर उद्देश्य तक यथार्थ और वस्तुपरक होता है, उसमें संस्कृति दर्शन, नैतिकता और साहित्य आदि ज्ञान के प्रतिष्ठानों और अनुशासनों को नया रूप देने की शक्ति है। विज्ञान ने मानव-मन की संरचना को ही बदल दिया है। पूंजीवादी हमेशा विज्ञान से डरता है, उसे अपने नियंत्रण में रखता है। उसकी गलत आकृति को जनता के सामने पेश करता है। उसे तोड़कर, टुकड़ों में बाँटकर उसका मशीनीकरण करता है। उसकी सृजनात्मकता को जनता तक नहीं पहुँचने देता। इस तरह पूंजीवादी संसार में एकाधिकारवादी अपने निहित स्वार्थों के लिए विज्ञान को और वैज्ञानिक को समुचित आदर नहीं देते। यह विडम्बना है।

जरूरी है कि विज्ञान का समाजीकरण और राजनीतिकरण हो। इन दोनों में समरसता जरूरी है। दोनों के सम्मिलित प्रयासों से ही नया-समाज बन सकता है। तभी वैज्ञानिक भी अपने चिंतन और कर्म के स्तर पर अर्थपूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव कर सकेगा। पूंजीवादी दुनिया में एक भाड़े के सिपाही और भाड़े के वैज्ञानिक में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, दोनों का चैतन्य पराधीन है। अतः विज्ञान के सांस्कृतिक, दार्शनिक वैशिष्ट्य का समूचे सामाजिक जीवन से तालमेल होना चाहिए। विज्ञान की जनवादी संभावनाओं को नकारने से, उसके मूल्यबोध के असमानवादी होने से समाज के जीवन में असंतोष, तनाव और निराशा पैदा होती है, फलस्वरूप "न्यूरोसिस" केन्द्रीभूत होने लगता है।

क्या यह बहुभंगी-न्यूरोसिस पूंजीवादी आधुनिकता-बोध का अभिशाप नहीं हैं? जब तक विज्ञान और पूंजीवादी आधुनिकता को समाजिक-संगति के नियमों में ढाला नहीं जाएगा तब तक पागलखाने में परिवर्तन असम्भव है। न्यूरोसिस वहाँ के ह्रासशील व्यक्तिवाद का परिणाम है। लेकिन अब पूंजीवादी राष्ट्र, विज्ञान, उद्योग और तकनालॉजी को वर्ग में बाँधकर रख नहीं पा रहे हैं। व्यक्ति की सामर्थ्य में विज्ञान समा नहीं पा रहा है, वह पूरे समाज में फैल जाने को तत्पर है, समूची जनता को अपने में समेट लेने के लिए आतुर है। इसीलिए व्यक्तिवाद और पूंजीवाद की चूलें हिलने लगी हैं। छल-प्रपंच की राजनीति से उसके सामाजिक रूपान्तरण पर रोक तो लगाई जा रही है, जो इतिहास की गति के विरुद्ध है।

पश्चिम के जिन समाजवादी राष्ट्रों ने उद्योग, विज्ञान, तकनालॉजी को मानवीय इतिहास की कसौटी पर कसकर जनता-जनार्दन के निमित्त स्वीकारा है वहाँ नई संस्कृति के आधार स्वस्थ और विकासशील हैं। वहाँ विज्ञान ही सामाजिक चेतना का शिक्षक है, संस्कार निर्माता है। वहाँ विज्ञान और मनुष्य का रिश्ता चेतन संस्कारों के रूप में हैं। मनुष्य और विज्ञान के इस चेतन-संस्कारी सम्बन्ध ने नई समाजवादी मानववादी आचार-संहिता जन्मी है। वहाँ प्रदर्शन, गुरूर और छल की उच्चताबोधक ग्रन्थि नहीं हैं। धैर्य, गम्भीरता और विश्वास की सार्वजनिक एकरूपता है। वहाँ के जनमत का वस्तुपरक निर्णय ही राष्ट्र के व्यक्तित्व में रूपायित होता है। वहाँ व्यक्ति और राष्ट्र में चेतन एकनिष्ठा है।

क्या कभी हमने पूंजीवादी योरोप की प्रकृतवादी (Naturalism), अनुभववादी (Empiricism), सोद्देश्यमूलक व्यवहारवादी (Pragmatism), प्रत्यक्ष-प्रभाववादी (Posetivism) विचार प्रणालियों की तुलना यथार्थवाद (Realism) से की है? यथार्थवाद एक समूचा जीवन दर्शन है, वह मात्र प्रणाली नहीं है। क्या कभी पूंजीवादी आधुनिकता की तुलना यथार्थवाद से की है? उक्त सभी प्रकार के 'वाद' जीवन को उसकी समग्रता में नहीं पकड़ सकते हैं। ये सभी वाद यथार्थवाद की द्वन्द्वात्मक व्यवस्था को विखंडित करते हैं। इन सभी की स्थापनाओं की प्रकृति आत्मपरक हैं। यथार्थवाद को टुकड़ों में अलग-अलग करके पेश करने वाले उक्त वादों ने जीने की इच्छा को ही अनास्थामूलक और निष्काम बनाया है। पश्चिम के आधुनिकतावादी पूरी तरह से या तो आत्मवाद में या रूपवाद में केन्द्रित हो गये हैं। ये यथार्थवाद का विरोध करते हैं। ऐसा करते समय इनकी प्रपंच बुद्धि का फरेब देखते बनता है।

अब एशिया और अफ्रीका के देशों में भी इतिहास की वैज्ञानिक समझ के आधार मजबूत हो रहे हैं। जिन देशों में उद्योग, विज्ञान, तकनालॉजी का प्रभाव जितना अधिक है उनका इतिहास चाहे जितना पुराना और ऊंचा क्यों न हो, करवटें लेने लगा है। आजादी के बाद भारत में विज्ञान की प्रगति हुई है, नजरिया बदला है, आत्मविश्वास हुआ है। समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। भारत तभी तक एक परम्परावादी और धार्मिक देश के रूप में जाना जाएगा जब तक उसके जेहन और नजरिये में विज्ञान की चेतना समाहित नहीं हो पाती। भारतीय जीवन का नये रूपों में, नई शैलियों में रूपान्तरण हो रहा है, उसका स्वभाव बदल रहा है।

चूंकि हमारे देश में विज्ञान, तकनालॉजी पर कुछ व्यक्तियों का और वर्गों का प्रभाव है, इसके अलावा दुनिया को अपना बाजार बनाने वाले योरोप, अमरीका के हित जुड़े हैं, इसलिए समाज में क्रान्तिकारी बदलाव की परिस्थितियाँ खुलकर मुखर रूप में उपस्थित नहीं हो पा रही हैं। व्यक्ति की, वर्ग की तथा विदेशी

पूँजी की प्रभुत्व-शक्ति के कारण शोषण के विरुद्ध लड़ाई धीमी है। किन्तु हलचल है। नई संस्कृति की समझ के लिए इस हलचल को पैदा करने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियों को पकड़ना होगा। अब क्रान्तिकारी संघर्ष से इतिहास को बचाया नहीं जा सकता। आधुनिक इतिहास भी विज्ञान, तकनालॉजी के सामाजिक प्रतिफलन से प्रतिवद्ध है, उसका आचरण भी बद्धमूल हो गया है। वह श्रम और विचारधारा से बँध गया है। जरूरी है कि विचारधारात्मक संस्कृति को समाजवादी परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया जाए। भारतीय समाज में समाजवाद एक काल्पनिक-आदर्श और चालाक नारे के बावजूद गम्भीर अर्थ ले चुका है। उसके वैज्ञानिक आधारों को जनता तक पहुँचाया जा चुका है। समाजवाद पर हँसने वाले आत्मपरक मूर्ख साबित हो चुके हैं। उसके विरोधी सांस्कृतिक स्तर पर पिछड़े हुए और दकियानूस साबित हो चुके हैं।

समाजवाद के ग्रहण के निमित्त सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण जरूरी है। जीवन के राजनीतिकरण के बगैर समाजवाद यूतोपिया बना रहेगा। अब हमारी शिक्षा का सही प्रतिफलन भी राजनीतिक-चेतना के ग्रहण और विस्तार में सम्भव है। राजनीति से ही व्यक्ति और समाज के व्यक्तित्व का वस्तुपरक आधार वन सकता है। वातावरण और परिवेश के प्रति सजगता और जागरूकता का मतलव ही है, उसमें निहित राजनीति को पहचानना। विरोधी परिस्थितियों की समझ तथा उन्हें दूर करने के लिए प्रतिबद्धता और सम्बद्धता से ही राजनीतिक आचरण परिपक्व होता है। अब तो शिक्षा अपनी समस्त योजनाओं, प्रवृत्तियों और विशेपताओं के साथ राजनीति की वैज्ञानिक समझ पर निर्भर है। अभी तक सामन्तवादी-पूँजीवादी शिक्षा ने संस्कृति, धर्म, न्याय, कानून और साहित्य आदि में भेदोपभेद किये हैं। उस वर्गीकरण और भेदभाव की रुग्णता अव सामने आ गयी है। जाति, वर्ण, सम्प्रदायों के झगड़ों को पुरातन आचार-संहिताओं से दूर नहीं किया जा सकता। आज माइथालॉजी जीवन में विसंगति पैदा करने लगी है।

क्या रिनासाँ या पुनरुत्थान के मार्ग से आगे बढ़ा जा सकता है? क्या आज के विज्ञान, तकनालॉजी के युग में धर्म की गुणात्मक चलनशीलता का ह्रास नहीं हो रहा है? धर्म को जीवन देने वाली परिस्थितियाँ अब वदल गयी हैं? अव इतिहास के गतिशील सत्य को नकारने से काम नहीं चलेगा आज सामंतवादी-पूँजीवादी परिवेश में केवल मृत-विशेपणों के सहारे ही धर्म और संस्कृति की महानता पर उसके शाश्वत होने पर बल दिया जाता है।

जिस तरह आज योरोप के गिरजाघर मध्ययुगीन नीति-धर्म के मृत प्रतीक बनकर रह गये हैं, जातीय स्मृति का स्मारक बनकर रह गये हैं उसी तरह क्या हमारे मन्दिर, मस्जिद अपनी गुणहीनता का विपय नहीं वन रहे हैं? आज

दूसरी ओर वे यथास्थिति के प्रति प्रतिबद्धता दर्शाते हैं। यह उनकी राजनीति है। इसमें उनके अपने तथा वर्गीय हित सुरक्षित से रहते हैं।

आज राजनीति के प्रति उदासीनता, तटस्थता और विरोध की मुद्रा या तो पुनरुत्थानवादी पुरातनपंथियों की है या पूंजीवादी आधुनिकता के खंड-खंड विभक्त जीवन को स्वीकार करने वालों की है। प्रथम अपने अज्ञान के कारण दूसरा अपने निहित स्वार्थों के कारण राजनीति-दृष्टि के सामाजिक विस्तार को नकारता है। क्या आश्चर्य नहीं होता कि विश्वविद्यालय में विज्ञान का प्राध्यापक 'टेक्नालॉजिकल फ़ालोआन' को या फार्मूलाबद्ध सूचनाओं को अपनी विद्वत्ता मानता है और समाज-विज्ञान के किसी भी अनुशासन का आचार्य अपने विषय के विकासमान और परिवर्तनशील आचरण के नियमों को समझता हुआ एक घिसे-पिटे रिकॉर्ड की तरह लगातार बजने में अपनी योग्यता मान बैठा है? क्या यह चमत्कार नहीं है कि देश की बड़ी-बड़ी विज्ञान अनुसंधानशालाओं में कार्यरत वैज्ञानिक अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से कटा रहता है? विश्वविद्यालय के आचार्य से लेकर विज्ञान के अनुसंधित्सु तक क्या कोई सामाजिक-संगति रहती है? यही तो जीवन का रूपवाद है, वर्गविशिष्टता का शैलीवाद है...उसकी अपनी व्यक्तिवादी राजनीति होती है। इस राजनीति को समझे बगैर वैज्ञानिक नजरिये से समाज को गति देने का कार्य आगे नहीं बढ़ सकता। आभिजात्य की सामन्ती राजनीति मृतप्राय है, लेकिन आभिजात्य की पूंजीवादी राजनीति अभी सक्रिय है। भारत जैसे पिछड़े और सम्प्रदायों में बँटे देश में अभी उसकी सम्भावनाएँ हैं। इस आभिजात्य में सामन्तवाद और पूंजीवाद की दिलचस्पी है। और गहरे उतर कर देखें तो लगेगा कि क्या यह विसंगति नहीं है कि मजदूर फ़ैक्ट्री में मशीन से जुड़ता है लेकिन घर आते ही जादू-टोने में, अन्धविश्वास में खो जाता है। उसके फ़ैक्ट्री और घर के सम्बन्ध कितने अन्तर्विरोधी हैं। उसके श्रम का नै[illegible] नहीं बन पाता है। मशीन की रोजी भगवत्कृपा की रोटी में [illegible] पाती है? और मन्दिर क्यों बनवाता है बिड़ला? यह राजनीति है।

आज के सांस्कृतिक परिवेश में उस त्रिकोण को देखना होगा जि[illegible] पन्य है, आधुनिकता है और समाजवादी-यथार्थवाद है। हमारे [illegible] त्थानवादी लगातार हार रहे हैं, उनकी जमीन छूट रही है फिर भी धर्मिता से बाज नहीं आ रहे हैं, निहित स्वार्थ की राजनीति से प्रे[illegible] उन्होंने रिनासाँ मार्ग से पूंजीवादी आधुनिकता को अपना लिया है। ये पुनरुत्थानवादी सामन्तवाद की गिरफ्त में थे, उसके आभिजात्य से [illegible] ये तब तक उन्होंने साहित्य और कलाओं में आन्दोलनों और वादों को [illegible] का उत्पाद कहकर नकारा। लेकिन जैसे ही उनमें पूंजीवादी-आधु[illegible] रूपवाद पनपा वे साहित्य और कलाओं में शैली-शिल्प के आधार पर वा[illegible]

मन्दिर और मस्जिद के जीवन में उत्साहपूर्ण प्रवाह नहीं है। इनको संरक्षण प्रदान करने वाले तमाम किस्मों के सेवा-आश्रमों और स्वयंसेवकों की भूमिकाएँ सांस्कृतिक ह्रास और पिछड़ेपन की द्योतक बन गयी हैं। सामाजिक जीवन से इनका निर्वाह नहीं हो पा रहा है। विज्ञान को मध्ययुगीन धार्मिक नैतिक संस्कारों से जोड़ने वाले भूल कर रहे हैं। वे देश के, समाज के विकास को ग़लत दिशा दे रहे हैं। विज्ञान का नया-रिश्ता आधुनिक युग की भौतिकवादी संस्कृति से है, मध्ययुग के धर्म से नहीं। नई संस्कृति और पुरातन धर्म में कोई तालमेल नहीं हो सकता।

विज्ञान ने प्रामाणिकता और बौद्धिक विश्वास की जो भौतिकवादी आधार-दृष्टि दी है उसे अमूर्त रहस्यवादी मान्यताओं में भ्रष्ट नहीं किया जा सकता।

आज हमारा समाज अपने इतिहास से सवाल-दर-सवाल पूछ रहा है, साधुओं, सन्तों और मठों की रीतिनीति और रिनासा-संस्कारी नेताओं की सुधारवादी कल्याणवादी मान्यताओं से अराजकता बढ़ रही है। अन्तर्विरोध काई की तरह उतराने लगे हैं। स्पष्ट रूप से सामन्तवाद, पूँजीवाद और समाजवाद की तीन सांस्कृतिक धारायें दिखाई दे रही हैं। एक ओर है पुनरुत्थानमूलक सुधारवाद, दूसरी ओर है पूँजीवादी आधुनिकता और तीसरी ओर समाजवादी यथार्थवाद।

समाजवादी यथार्थवाद के पक्षधर वे लोग हैं जो समाज के वैज्ञानिक विकास के नियमों से परिचित हैं, जो श्रम और मनुष्य को समाज की रचना में महत्त्व देते हैं। ध्यान देने की बात है कि विज्ञान और उसके परिप्रेक्ष्य का विरोधी, समाजवादी नहीं हो सकता। प्रश्न उठता है वैज्ञानिक आचरण को विकसित कैसे किया जाए? उसे लोकप्रिय कैसे बनाया जाए? हमारे व्यक्तित्व की रचना में विज्ञान की चेतना का कितना प्रभाव है? क्या उसने हमारे समूचेपन को छुआ है? बदला है? क्या रहन-सहन, खान-पान, पद-प्रतिष्ठा और भौतिक समृद्धि से बदलाव की पहचान हो सकती है? विज्ञान हमारी चेतना में कितना गहरा उतरा है, इसकी प्राथमिक जानकारी हमारी राजनीति-दृष्टि से हो सकेगी। क्योंकि राजनीति दृष्टि से ही वैज्ञानिक चेतना का सामाजिक अधिग्रहण सम्भव है। राजनीति-दृष्टि से ही उस आचरण का स्पष्टीकरण होगा जो हमारे सामाजिक सम्बन्धों को बनाता है। व्यक्ति से समाज के रिश्ते कैसे हैं, इसकी जानकारी उसकी राजनीति-दृष्टि से ही हो सकती है। राजनीति-परिप्रेक्ष्य ही हमारे व्यक्तित्व की पहचान हो गया है। जो विचारक राजनीति को अनिवार्यता नहीं मानते अथवा उसे प्राथमिकता नहीं देते वे दोहरी गलती करते हैं। एक ओर तो राजनीति के सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक अर्थ को ग्रहण नहीं करते उसे एक शैली या विधा मानते हैं,

दूसरी ओर वे यथास्थिति के प्रति प्रतिबद्धता दर्शाते हैं। यह उनकी राजनीति है। इसमें उनके अपने तथा वर्गीय हित सुरक्षित ते रहते हैं।

आज राजनीति के प्रति उदासीनता, तटस्थता और विरोध की मुद्रा या तो पुनरुत्थानवादी पुरातनपंथियों की है या पूँजीवादी आधुनिकता के खंड-खंड विभक्त जीवन को स्वीकार करने वालों की है। प्रथम अपने अज्ञान के कारण दूसरा अपने निहित स्वार्थों के कारण राजनीति-दृष्टि के सामाजिक विस्तार को नकारता है। क्या आश्चर्य नहीं होता कि विश्वविद्यालय में विज्ञान का प्राध्यापक 'टेक्नालॉजिकल फ़ालोआन' को या फार्मूलाबद्ध सूचनाओं को अपनी विद्वत्ता मानता है और समाज-विज्ञान के किसी भी अनुशासन का आचार्य अपने विषय के विकासमान और परिवर्तनशील आचरण के नियमों को समझता हुआ एक घिसे-पिटे रिकॉर्ड की तरह लगातार बजने में अपनी योग्यता मान बैठा है? क्या यह चमत्कार नहीं है कि देश की बड़ी-बड़ी विज्ञान अनुसंधानशालाओं में कार्यरत वैज्ञानिक अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से कटा रहता है? विश्वविद्यालय के आचार्य से लेकर विज्ञान के अनुसंधित्सु तक क्या कोई सामाजिक-संगति रहती है? यही तो जीवन का रूपवाद है, वर्गविशिष्टता का शैलीवाद है...उसकी अपनी व्यक्तिवादी राजनीति होती है। इस राजनीति को समझे बगैर वैज्ञानिक नजरिये से समाज को गति देने का कार्य आगे नहीं बढ़ सकता। आभिजात्य की सामन्ती राजनीति मृतप्राय है, लेकिन आभिजात्य की पूँजीवादी राजनीति अभी सक्रिय है। भारत जैसे पिछड़े और सम्प्रदायों में बँटे देश में अभी उसकी सम्भावनाएँ हैं। इस आभिजात्य में सामन्तवाद और पूँजीवाद की दिलचस्पी है। और गहरे उतर कर देखें तो लगेगा कि क्या यह विसंगति नहीं है कि मजदूर फ़ैक्ट्री में मशीन से जुड़ता है लेकिन घर आते ही जादू-टोने में, अन्धविश्वास में खो जाता है। उसके फ़ैक्ट्री और घर के सम्बन्ध कितने अन्तर्विरोधी हैं। उसके श्रम का नैतिक आधार नहीं बन पाता है। मशीन की रोजी भगवत्कृपा की रोटी में तब्दील कैसे हो पाती है? और मन्दिर क्यों बनवाता है बिड़ला? यह राजनीति है।

आज के साँस्कृतिक परिवेश में उस त्रिकोण को देखना होगा जिसमें पुरातन-पन्थ है, आधुनिकता है और समाजवादी-यथार्थवाद है। हमारे समाज के पुन-रुत्थानवादी लगातार हार रहे हैं, उनकी जमीन छूट रही है फिर भी अपनी हठ-धर्मिता से बाज़ नहीं आ रहे हैं, निहित स्वार्थ की राजनीति से प्रेरित होकर उन्होंने रिनासाँ मार्ग से पूँजीवादी आधुनिकता को अपना लिया है। जब तक ये पुनरुत्थानवादी सामन्तवाद की गिरफ़्त में थे, उसके आभिजात्य से प्रभावित थे तब तक उन्होंने साहित्य और कलाओं में आन्दोलनों और वादों को खंड-दृष्टि का उत्पात कहकर नकारा। लेकिन जैसे ही उनमें पूँजीवादी-आधुनिकता और रूपवाद पनपा वे साहित्य और कलाओं में शैली-शिल्प के आधार पर वादों को,

आन्दोलनों को मानने लगे। पहले तो उन्हें यह नहीं मालूम था कि 'वाद' की अपनी सुलझित विचारधारा और राजनीति होती है, हर विचारधारा के तहत जीवन की विशेष शैली के निर्माण का यह आग्रह होता है, भारत के पुनरुत्थानवादी और आधुनिकतावादी सामन्तवाद-पूँजीवाद की व्यवस्था में अनुभववाद, व्यवहारवाद, प्रत्यक्ष प्रमाणवाद को तो पकड़ते हैं लेकिन यथार्थवाद से घबराते हैं। उन्हें यथार्थ-वाद में विरोध की राजनीति दिखाई देती है। वे उनकी द्वन्द्वात्मकता को नकारते हैं।

लेकिन अब इन पुरातनपंथियों और आधुनिकतावादियों के सामने संकट पैदा हो गया है। उनकी रचना और समीक्षा में जीवन की पकड़ छूट चुकी है। शंकालु-प्रकृति और अनिश्चयात्मकता के कारण इनकी मौलिकता क्षीण हो चुकी है। ये रूपवादी चमत्कारों में किसी तरह स्वयं को जीवित रखे हुए हैं। इनमें रचनात्मक-स्फूर्ति नहीं है। ये आधुनिकतावादी पौराणिक मिथकों को पकड़ रहे हैं और उनके बौद्धिकीकरण-आधुनिकीकरण भ्रमजाल में फँस गये हैं। मिथकों की वापसी का यह समय नहीं है. क्योंकि रचनाकार और समीक्षक जागरूक होकर अपनी परिस्थिति और परिवेश को बदलने में रुचि रखने लगा है। कुछ आधुनिकतावादी अराजकतापूर्ण बीमार वैयक्तिकता के शिकार हैं, विसंगतियों के झाग उगल रहे हैं। कुछ तटस्थ दार्शनिक-मुद्रा की रसभीनी फुहारों का आनन्द लेने लगे हैं। इनमें व्यक्ति की बीमारी भी है और बीमार ऐश्वर्य का दर्प भी। ये सभी आधुनिक संस्कृति का नारा लेकर रचना में उतरे हैं। लेकिन इनके पास इतिहासबोध का अभाव है। ये आधुनिकतावादी यथार्थवाद से उसी तरह डरते हैं जैसे पूंजीवादी विज्ञान के समाजीकरण से डरता है। दोनों ही याथार्थवाद और विज्ञान की सामा-जिकता को नकारते हैं। लेकिन जब तक ये सभी इतिहास और यथार्थवाद को अपनी प्रतिभा में स्थान नहीं देंगे तब तक इनकी रचनाओं में मूल्यपरक-चेतना की अभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी। अकविता और अस्वीकृति का रचना-संसार पूंजीवादी आधुनिकता की देन है...यहाँ सामाजिक-मूल्यों की स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं उठता।

इतिहास की अदालत का न्याय इन आधुनिकतावादियों के पक्ष में नहीं है। इसलिए वे इतिहास को एक 'वाद' मानते हैं, इतिहासवाद कहते हैं। जंगल की प्राकृतिक अवस्था जैसी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तता के लिए दत्त-चित्त दिखाई देते हैं। ये आधुनिकतावादी मानवीय रिश्तों को तोड़ने में, उन्हें विकृत करने में तथा जीवन में संकट-बोध पैदा करने में सक्रिय दिखाई देते हैं। इन्होंने आदमी को 'नग्न' बनाया है, 'व्यापारी' बनाया है, उपभोक्ता मात्र में बदल दिया है। उन्होंने आदमी से उसकी संस्कृति छीन ली है। उसकी पहचान समाप्त कर दी है, उसे नंगा कर दिया है। ये व्यावसायिक पत्रिकाओं में सिनेमाई हो गए हैं।

चूँकि, इतिहास और यथार्थवाद में युगसापेक्ष-संस्कृति की वस्तुपरकता को पहचाना जा सकता है, इसे तुलनीय बनाया जा सकता है, चूँकि इतिहास ही कालसापेक्ष संस्कृति की आँख है, जीवन-चेतना का प्रत्यक्षदर्शी है और भविष्य की संभावनाओं का व्याख्याता-विश्लेषक और मीमांसक है। अतः इतिहास के विरोध की राजनीति में ही व्यक्तिवाद की मौज-मस्ती रहती है।

हिन्दी की प्रगतिवादी रचनाधारा को गाली देने की पुरानी राजनीति रही है। आजादी के पहले राष्ट्रीय आन्दोलन के समय प्रगतिवाद जनसंवेदना के स्तर पर कम तथा सिद्धान्त के स्तर पर ही अधिक स्वीकृत हुआ था। सामन्ती-परिवेश में जनवादी यथार्थवाद के विकास की संभावनाएँ बहुत कम थीं। अशिक्षा, पिछड़ापन और जातिगत भेदों के कारण जनवादी-यथार्थवाद का शिक्षण कठिन था। उस समय रूसी क्रान्ति, संवेदना में जगह पा रही थी। उस समय तक उद्योग की, विज्ञान की चेतना क्षीण थी इसलिए देशी जलवायु का जनवाद पनप नहीं पा रहा था। लेकिन आज़ादी के बाद विज्ञान, उद्योग का विकास हुआ। शिक्षा का विस्तार हुआ, उत्पादन स्रोतों का विज्ञानीकरण हुआ। फलस्वरूप, एक नये जनवादी यथार्थवाद के प्रति आस्था और विश्वास पैदा हुआ।

आज के प्रगतिशील विचारों में यथार्थवाद की भूमिका एकदम भिन्न प्रकार की है। अब यथार्थवाद भारत की संस्कृति का मुख्य विषय बन चुका है। वह हमारे संस्कारों में उतर चुका है। इसके निर्माण की परिस्थितियाँ देशी हैं, जातीय हैं। इसीलिए श्रम की जागरूक संस्कृति के विकास के लिए जो क्रान्तिकारी क़दम उठाए जा रहे हैं, वे इतिहाससम्मत हैं। इसके प्रभाव को नकारने वाले, इसे सामयिक उमंग कहने वाले भूल कर रहे हैं। आज ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में जनवाद की, लोकवाद की लहर है। अब मार्क्सवादी विचार हमारे जीवन की रचनात्मक संभावना बन गया है। आज का किसान और मजदूर तथा मध्य-वर्ग का बाबू अपनी नियति के निर्माता पहलुओं पर सोचने लगा है। अब अमूर्त रहस्यवादी व्यक्तियों का, भगवानों का प्रभाव कम हो रहा है। देश की बदलती हुई राजनीति में रुचियाँ बढ़ रही हैं। अब वह आभिजात्य को, व्यक्तिवाद को तोड़ने की सोच में लीन है। अतः समाजवादी जनवाद को आकस्मिक कहना कोई मतलब नहीं रहता।

हिन्दी में प्रेमचन्द के स्कूल का विकास हुआ है। वह समाजवादी यथार्थवाद का पक्षधर है। इतना अवश्य है कि इस स्कूल में बहुत सारे रचनाकार अपनी अवैज्ञानिक समझ के कारण काल्पनिक क़िस्मों के समाजवादी आदर्शों में बहक रहे हैं और यथार्थवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आधारों को पकड़ नहीं पा रहे हैं। अब नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, समीक्षा सभी में क्रान्तिकारी चेष्टाओं की बहुमुखी छवियाँ दिखाई देने लगी हैं। इन सभी रचनाकारों के पास अपना

इतिहास-बोध है। भले ही उनमें कुछ उसके व्याख्याता हों, कुछ विश्लेपक हों और कुछ जनवादी-जीवन के निर्माण के सूत्रधार हों, इतिहास की दृष्टि हमेशा राजनीति-दृष्टि में व्यक्त होती है। प्रगतिशील और जनवादी रचनाकार राजनीतिक प्रभाव के तहत जीवन को स्पष्ट करता है। इन रचनाकारों ने उद्योग, विज्ञान के प्रभाव को ग्रहण किया है और तदनुरूप यथार्थवादी राजनीति के आचरण को स्पष्ट किया है। प्रत्येक अंचल जी उठा है, पत्र-पत्रिकाओं में यथार्थवाद का इज़हार हो रहा है। समूचा राष्ट्र यथार्थवाद की पकड़ में आ गया है। अतः साहित्य और संस्कृति, साहित्य और नैतिकबोध से सम्बन्धित सवाल पुनः प्रमुख हो गए हैं। व्यक्तिवादी नैतिकता शिथिला गयी है। वह आधुनिकता-बोध की विसंगतियों में हीन हो चुकी है।

साहित्य को नैतिक प्रश्नों से अलग रखने वालों ने उसे अर्थहीन बना दिया है। सभी जानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकासमान गुणों में बिम्बवाद, प्रतीकवाद, पैदा हुए लेकिन पूंजीवाद की ह्रासशील संस्कृति में एब्सर्ड बोध की ईजाद हुई है।.आधुनिकताबोध की अभिव्यक्ति उत्तेजनाप्रद है, एब्सर्ड है। डार्विन और फ्रायड की प्रकृतिवादी और प्राणिमनोवैज्ञानिक दुनिया के सांस्कृतिक, नैतिक आधार नष्ट हो चुके हैं। वहाँ आदमियत का अकुंठ सामाजिक विकास संभव नहीं है। साहित्य की नैतिक सार्थकता तो उसके प्रगतिशील सामाजिक परिवेश में है, जो निरन्तर उच्चतर चेतना का वरण करती है। साहित्य बायोलॉजिकल उन्माद या विक्षेप नहीं है। वह यूतोपिया नहीं है। उसके नैतिक आचरण का अपना अनुशासन है। उन्मादी हमेशा नैतिकता-विरोधी होता है। हम स्वतन्त्रता-बोध को नैतिकता-बोध से पृथक् नहीं कर सकते। यदि ऐसा करते हैं तो स्वतन्त्रता फ़ासीवादी शैली में प्रकट होने लगेगी और साहित्य शाश्वत, स्वायत्त और आत्मपूर्ण होने लगेगा। नैतिकता और स्वतन्त्रता हमेशा फ़ासीवाद के प्रतिपक्ष में होती है। नये साहित्य और नई नैतिकता के प्रश्नों में हमें अपने सांस्कृतिक जीवन की समस्याओं को निर्णायक ढंग से हल कर लेना चाहिए। क्योंकि अब अनुशंसाओं और अभिमत प्रदर्शन का समय नहीं है। यह विश्लेषण और मूल्यांकन का युग है। नैतिकता पर टिप्पणी करने वाली अगणित आचार-संहिताएं पुरातन ममी बनकर रह गयी है। चूंकि चारों ओर अनैतिकता और अन्याय है इसलिए साहित्य में न्याय और नैतिकता की संवेदना जगाना अनिवार्य हो गया है। नैतिकता और न्याय के प्रति जिज्ञासा पैदा करना, सवाल उठाना और उत्तर देना साहित्य का सहज धर्म हो गया है। न्याय और नैतिकता की घोषणा करने वाला साहित्य ही लोकजीवी हो सकता है।

तीसरी दुनिया का यथार्थवाद

श्याम कश्यप

भारतीय साहित्य में, उससे भी कहीं गहरे अर्थ में हिन्दी साहित्य में, यथार्थवाद के आरम्भ और विकास का अन्तरंग सम्बन्ध उपन्यास विधा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। किसी भी अन्य भारतीय भाषा, विधा अथवा रचनाकार की तुलना में यथार्थवाद की सर्वाधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुई हैं। यथार्थवाद, उपन्यास विधा और प्रेमचन्द— तीनों के अन्तरंग सम्बन्धों को समझे बिना किसी एक का अध्ययन अपूर्ण, इसीलिए अप्रासंगिक बन जाता है। यह किसी एक ही लेखक की रचनाओं में यथार्थवाद के विकास की विभिन्न मंजिलों की अभिव्यक्ति और इस रूप में हमारे देश में यथार्थवाद के अब तक के विकास को देखने की बेहतरीन मिसाल है। यही नहीं, **अन्तर्वस्तु** और रूप के तथा **विश्वदृष्टिकोण** और **चित्रण-पद्धति** के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को समझने के लिए भी प्रेमचन्द की साहित्य-विकास-यात्रा हमारे लिए बेजोड़ उदाहरण हैं।

भारतीय सन्दर्भ में यथार्थवाद की चर्चा करते हुए एक हल्की-सी पृष्ठभूमि के बतौर यूरोप का सन्दर्भ आना भी स्वाभाविक है, जहाँ 19वीं शताब्दी में एक विशिष्ट दृष्टिकोण, चित्रण की एक खास कलात्मक पद्धति और साहित्य-कला-आन्दोलन के रूप में यथार्थवाद का आरम्भ हुआ था। यूरोप में इस यथार्थवादी आन्दोलन का सीधा सम्बन्ध वहाँ की सामन्तवाद-विरोधी जनवादी क्रान्ति से था। यह क्रान्ति तब अपनी प्रगतिशील भूमिका के बावजूद अपनी मूल अन्तर्वस्तु में पूर्णतः पूंजीवादी ही थी तथा 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक पूंजीवाद अपनी 'चरम अवस्था'[1] की ओर भी अग्रसर हो चुका था। इसीलिए यूरोप में सामन्त-विरोधी भूमिका के साथ ही पूंजीवाद की असंगतियों के उद्घाटन और पूंजीवादी जीवन-पद्धति व मूल्यों की कटु भर्त्सना के रूप में हमें यथार्थवाद की सर्वोच्च मंजिल आलोचनात्मक यथार्थवाद में ही दिखायी देती है। जाहिर है कि यहाँ यूरोप की बात करते हुए अक्टूबर क्रान्ति और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की परिस्थितियों

में उभरने वाली समाजवादी विश्व व्यवस्था का सन्दर्भ अलग रखा गया है, जहाँ यथार्थवाद ने एक नयी गुणात्मक मंजिल हासिल की।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक अपनी प्रगतिशील भूमिका खोकर विश्व के पैमाने पर पूँजीवाद विस्तारवादी-युद्धोन्मादी साम्राज्यवाद की शक्ल अख्तियार कर चुका था। भारत उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी के तौक से निकलकर सीधे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक शासन के अधीन था। साम्राज्यवादियों ने 'भारतीय समाज के पूरे ढाँचे को ही तोड़' डाला था तथा इससे भारत के 'पुराने संसार के इस तरह उससे छिन जाने और किसी नये संसार के प्राप्त न होने'[2] से हमारे औपनिवेशिक यथार्थ में एक विशेष प्रकार की उदासी जुड़ गयी थी। यह हमारे यथार्थवाद की पहली मौलिक विशेषता है तथा प्रेमचन्द की कृतियों में पहली बार इस विलक्षण 'उदासी' का अपना समूची मार्मिकता और अत्यन्त कलात्मकता के साथ चित्रण हुआ है। निस्सन्देह, **'पूस की रात'** और **'कफन'** जैसी कहानियाँ ता **'गोदान'** तो इसकी सबसे वेहतरीन मिसाल हैं ही।

लेकिन 'उदासी' और 'एक खास तरह के विषाद' के साथ ही हमारे यथार्थवाद का एक अन्य उल्लेखनीय पहलू भी है। वह है राष्ट्रीय मुक्तिसंग्राम के समानान्तर तेजी से विकसित होती हुई हमारी साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना और हमारे आन्दोलन का सदियों से सुसुप्त ग्रामीण किसान आवादी को आन्दोलित कर डालना। सामाजिक यथार्थ की यह वास्तविकता निस्सन्देह प्रेमचन्द की कृतियों से उभरने वाले यथार्थवाद के कलात्मक प्रतिबिम्ब में अपनी वर्तमान अवस्था से कई डग आगे की अवस्थाओं में भी चित्रित हुई है जो हमारे यथार्थवाद का एक क्रान्तिकारी पहलू भी है। शायद इसी को लक्ष्य करके मुक्तिबोध ने कहा था कि **''प्रेमचन्द समाज के चित्रणकर्ता ही नहीं, वरन् वे हमारी आत्मा के शिल्पी भी हैं।''**[3] यह अनायास ही नहीं है कि मुक्तिबोध प्रेमचन्द के चरित्रों को **'भारतीय विवेक-चेतना का प्रतीक'** कहते थे। अपने **'माँ की मार्फत प्रेमचन्द'** शीर्षक वेजोड़ निबन्ध में उन्होंने लिखा था कि **''प्रेमचन्दजी का कथा-साहित्य पढ़कर आज हम एक उदार और उदात्त नैतिकता की तलाश करने लगते हैं, चाहने लगते हैं, कि प्रेमचन्द के पात्रों के मानवीय गुण हममें समा जायें—हम उतने ही मानवीय हो जायें जितना कि प्रेमचन्दजी चाहते हैं।'**[4] निस्सन्देह, सतह के नीचे और बहुत भीतर कहीं अनेक पर्तों के अन्दर घटित होती रहने वाली इस प्रक्रिया से ही वह 'रिवोल्ट' पैदा होता है जो, बावजूद एक खास तरह के 'विषाद' और रंज के, 'उदासी' की सारी घनी पर्तें तोड़कर न केवल वर्तमान के संघर्षों के ही बल्कि भावी संघर्षों के संकेतों को भी बड़े सूक्ष्म तरीके से चित्रित कर पाने में हमारे यथार्थवाद को और उसकी सबसे सशक्त अभिव्यक्ति के लिए प्रेमचन्द को अपार सामर्थ्य प्रदान करता है। क्या इसे हम अपने यथार्थवाद की दूसरी विलक्षणता

नहीं कह सकते ? मेरा खयाल है कह सकते हैं।

यूरोप में सामन्तवाद के तावूत में अन्तिम कीलें ठोंकने वाले पूँजीवाद ने अपनी 'चरम अवस्था' में भारतीय सामन्तवाद के साथ नापाक गँठजोड़ कर लिया था तथा इस तरह इस ह्रासोन्मुख सामन्तवाद को नये सिरे से जिलाकर साम्राज्यवादियों ने भारत में अपने औपनिवेशिक शासन और सर्वतोमुखी शोषण के आधार मजबूत, व्यापक और स्थायी बनाने की कोशिश की। यही कारण है कि हमारे यथार्थवादी आन्दोलन में उसकी शुरुआत से ही, **सामन्त-विरोधी चेतना** के साथ-साथ **साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति** की आकांक्षाओं के भी प्रबल स्वर गूँजते सुनायी देते हैं। यह जुझारू चेतना हमारे यथार्थवाद की ऊब, उदासी और विषाद के गहरे रंगों को भी एक नये लड़ाकू तेवर प्रदान करती है। प्रेमचन्द की कृतियों में, जो आजादी के आन्दोलन और किसानों के जनसंघर्षों की बेजोड़ **'समरगाथा'** हैं, इसी यथार्थ का सृजनात्मक प्रतिबिम्ब मिलता है। इस सन्दर्भ में उनके **'प्रेमाश्रम'**, **'रंगभूमि'** और **'कर्मभूमि'** उपन्यासों का विशेष रूप उल्लेख किया जा सकता है। सारतः, सामन्त-विरोधी चेतना के साथ ही साम्राज्य-वाद-विरोध की विलक्षण चमक हमारे यथार्थवाद की तीसरी मौलिक विशेषता है। यही वह बिन्दु है जहाँ प्रेमचन्द यूरोप के 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के बने-बनाये ढाँचे को तोड़कर उसकी सीमाओं से आगे निकल जाते हैं और अपने साहित्य के मूल्यांकन, तथा इसी आधार पर भारत में यथार्थवाद के विशिष्ट विकास के विश्लेषण-विवेचन के लिए हमें चुनौती देते जान पड़ते हैं।

लेकिन यह सामन्त-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना जिस पृष्ठभूमि में विकसित हुई, बहुत संक्षेप में उसका भी जायजा लेना प्रासंगिक होगा। इससे हमारे यथार्थवाद के कई अन्य विशिष्ट पहलू भी उजागर होंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक चेतना की शुरुआत **भारतेन्दु-मंडल** के पदार्पण से ही होती है—जो सामन्ती मध्यकालीन मूल्यों तथा साम्राज्यवादी शोषण और दमन के विरुद्ध साहित्यिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति का पहला सबसे कारगर प्रहार बनता है। निराला ने इसी अर्थ में हिन्दी गद्य को **'जीवन-संग्राम की भाषा'** कहा था। प्रसंगवश साहित्य और राजनीति में विरोध मानने वाले देख सकते हैं कि हमारे गद्य की शुरुआत ही इनकी अभिन्नता में हुई है। इस तरह हम देखते हैं कि जीवन-संग्राम की गद्यात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही हमारे क्रान्तिकारी यथार्थवाद की शुरुआत होती है, जिसका सर्वाधिक कलात्मक एवं सर्वोच्च विकास प्रेमचन्द की रचनाओं में ठोस आकार ले सका है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके हमजोलियों ने जिस यथार्थवाद का सूत्रपात किया था, उसका गहरा सम्बन्ध **हिन्दी नवजागरण** से था। प्रेमचन्द का सम्बन्ध इस नवजागरण[5] की तीसरी मंजिल—अर्थात् **महावीर प्रसाद द्विवेदी** और उनके

सहयोगियों के 'ज्ञान कांड' से था; और इस नवजागरण की चौथी मंजिल वे स्वयं थे। प्रेमचन्द की कृतियों में भारतीय यथार्थवाद का जो अत्यन्त मौलिक और विशिष्ट चरित्र उभरा है, उसकी मजबूत जड़ें दूर तक हिन्दी नवजागरण की इस क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि में बड़ी गहरी धँसी हुई थीं। यह हमारे यथार्थवाद की **चौथी** मौलिक विशेषता है।

हिन्दी नवजागरण की चेतना **सन् सत्तावन** के गदर की विप्लवी कोख से ही पैदा हुई थी। अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने इस महाविप्लव का "सिपाही बगावत" (सिपॉय म्यूटिनी) कहकर भीषण दमन किया था, जबकि मार्क्स और एंगेल्स ने इसे **'भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम'**[6] कहकर इसका हार्दिक अभिनन्दन ही नहीं किया था, इसकी पराजय के कारणों का वस्तुपरक विश्लेषण भी किया था। स्वयं प्रेमचन्द और उनके कई पात्र इस महान ग़दर का इसी रूप में स्मरण कराते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह ग़दर अकेले सिपाहियों (जो स्वयं ज्यादातर किसानों के बीच से आये थे) का ही नहीं, बल्कि तबाही के शिकार किसानों का भी विद्रोह था। 1857 का यह गदर ही हमें मध्यकाल और उसकी सामन्ती रूढ़ियों के घने अन्धकार से बड़ी सीमा तक अलग करके, यथार्थ की भीषण ज्वालाओं से हमारा सीधा साक्षात्कार कराता है। कहना न होगा कि इन ज्वालाओं ने अगर हमारा बहुत कुछ जलाकर खाक किया तो हम इनकी रोशनी में बड़ी दूर तक देखने में सक्षम भी हुए—अपना चीत्कारपूर्ण वर्तमान ही नहीं, सुदूर अतीत और काफी दूर तक भावी यात्राओं का चटियल मैदान भी ! ! इस ग़दर और उसकी विरासत को अपने भीतर समेटनेवाली हमारे यथार्थवाद की यह **पाँचवीं** विलक्षणता है।

यूरोप में यथार्थवाद की विजय के पीछे नवोदित शहरी मध्यमवर्ग का नवोन्मेष काम कर रहा था। लेकिन भारत में, विशेष रूप से हिन्दी में, जिस वर्ग की क्रान्तिकारी उद्घोषणा के साथ हमारे यथार्थवाद का सूत्रपात होता है वह शहरी मध्यवर्ग नहीं, अपितु ग्रामीण भारत का विराट **किसान** समुदाय है—अपने पूरे अर्थों में किसान भी नहीं, एकदम **भूमिहीन खेतमजदूर** अथवा निरन्तर **सर्वहारा** बनता जा रहा सीमान्तक (मार्जिनल) छोटा किसान। निस्सन्देह, हमारे यथार्थवाद की यह छठी मौलिक विशेषता है।

रॉल्फ फॉक्स ने जिस अर्थ में उपन्यास को एक पूँजीवादी कलारूप (पूँजीवाद का महाकाव्य) कहा था, डा० नामवर सिंह भी लगभग उसी अर्थ में 'हिन्दी में इसका (उपन्यास का) उद्भव **किसानों के महाकाव्य के** रूप में' बताते हैं तथा उसे सीधे-सीधे प्रेमचन्द के उपन्यासों से जोड़ते हैं। नामवरजी के ही शब्दों में **'प्रेमचन्द के हाथों हिन्दी उपन्यास साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष का एक शक्तिशाली हथियार बन गया तथा इस प्रक्रिया में उसने यथार्थवाद का**

भी एक सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में विकास किया।"

इसके साथ ही हमें एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी अवश्य ही नजर डालनी चाहिये—और वह है 1917 में रूस में महान अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति की युगान्तरकारी विजय! भारत में यथार्थवादी आन्दोलन की शुरूआत यूरोप में उसकी 'महान विजय' के बाद में ही हुयी थी। उसकी पृष्ठभूमि में अगर ग़दर की विप्लवी लपटें, किसानों आदिवासियों के लगातार विद्रोह तथा अकाल, भुखमरी और कृषि व उद्योग-दस्तकारी की तबाही और भीषण दमन थे; तो उसकी विकास-यात्रा में उसके साथ-साथ भारत में तीसरी दुनिया का सबसे शक्तिशाली राष्ट्रीय मुक्तिसंग्राम भी लड़ा जा रहा था। इस मुक्तिसंग्राम और उसे अत्यन्त मार्मिक व कलात्मक अभिव्यक्ति देनेवाली प्रेमचन्द की रचनाओं से उभरनेवाले यथार्थवाद — इन दोनों को ही हमारे यथार्थवादी आन्दोलन के शैशव में ही घटित उस महान घटना, बोल्शेविक क्रान्ति, ने बड़े जबर्दस्त तरीके से प्रभावित किया था। हमारा यथार्थवाद **अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति** के बाद के ज़माने में आकार लेने और विकसित होने के कारण यूरोपीय पूँजीवादी यथार्थवाद से गुणात्मक रूप में आगे बढ़ चुका था। यह हमारे यथार्थवाद की **सातवीं** मौलिक विशेषता है।

अभी जहाँ-जहाँ भी मैंने यूरोपीय सन्दर्भों का उल्लेख किया है वहाँ पूँजीवादी यूरोप और वहाँ 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की विजय की ही बात की गयी है। लेकिन 20 वीं शताब्दी के पहले दशक से ही वहाँ भी परिवर्तन की नयी लहरें ज़ोर मारने लगती हैं। **गोर्की** की रचनाओं में, विशेष रूप से उनके उपन्यास **'माँ'** में, एक नये किस्म के यथार्थवाद के बीज भी दिखाई देने लगे थे। बाद में उन्हें ही 'समाजवादी यथार्थवाद' का अग्रदूत भी कहा गया। गोर्की के पीछे **गोगोल, तुर्गनेव, चेखव** और **लियो तोल्सतोय** की सशक्त यथार्थवादी परम्परा थी। भारत में प्रेमचन्द के पीछे कोई ऐसी सशक्त परम्परा नहीं थी। फिर भी चाहे बहुत दूर से और बेहद हल्के रूप में ही सही, प्रेमचन्द ने इन महान लेखकों की विरासत भी आत्मसात की थी। वे विश्व साहित्य की समूची यथार्थवादी परम्परा के मर्मज्ञ थे। इन तमाम तथ्यों के साथ, इस समूची पृष्ठभूमि में ही प्रेमचन्द ने भारत में, सर्वोपरि हिन्दी साहित्य में, एक नयी तरह के यथार्थवाद का सूत्रपात और विकास किया था।

कहना न होगा कि भारत में यथार्थवादी आन्दोलन पर उपर्युक्त सभी तथ्यों, पहलुओं और संघटनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसीलिये हमारे यथार्थवादी आन्दोलन में सामन्त-विरोधी चेतना और साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति के प्रबल स्वरों के साथ ही आगे चलकर समाजवाद के लक्ष्य के लिये संघर्ष का एक **परिप्रेक्ष्य** भी शामिल हो गया। देहाती सर्वहारा के तेजी से औद्योगिक

मज़दूरों में बदलने की प्रक्रिया तथा मज़दूर वर्ग के संगठित आन्दोलन के उदय के चलते ही यह हो सका। इस विकास-प्रक्रिया को प्रेमचन्द ने 'गोदान' में बड़े ही सूक्ष्म ढंग से चित्रित किया है। समाजवाद के लिए मज़दूर वर्ग के संघर्ष का एक हल्का-सा, अस्पष्ट-सा, धुँधला परिप्रेक्ष्य भी हमारे यथार्थवाद की एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्रसंगवश, यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मज़दूरवर्ग के आन्दोलन के विकास और आज़ादी के वाद की बदली हुयी परिस्थितियों में आज तक कोई भी अन्य रचनाकार नहीं दिखायी देता—किसी भी भारतीय भाषा और किसी भी साहित्यिक विधा के भीतर—जिसने इस सामाजिक यथार्थ के कलात्मक प्रतिविम्बन के स्तर पर प्रेमचन्द जैसी विराट, विलक्षण और मौलिक प्रतिभा तथा सामर्थ्य का परिचय दिया हो। इसीलिये **'यथार्थ'** तो काफी आगे बढ़ चुका है, लेकिन हमारा **'यथार्थवाद'** अभी भी वहीं, उसी स्तर तक पहुँच सका है जहाँ तक 1936 में प्रेमचन्द ने इसे पहुँचाया था—अपने आज़ादी के बाद के हिन्दुस्तानी शासकों के भावी चित्रों के साथ ही। इस तरह प्रेमचन्द हमारे गर्व भी हैं और मजबूरी भी।

अन्त में, यहाँ मैं एक अन्य तथ्य की ओर भी संकेत करना चाहूँगा। यूरोप में यथार्थवाद की पूर्ण विजय स्वच्छन्दतावादी (रोमेण्टिक) आन्दोलन के अवसान के बाद ही सम्भव हुई। लेकिन भारत में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ देर तक एक-दूसरे की पूरक के रूप में विकसित होती रही है यथार्थवाद और **स्वच्छन्दतावाद** के इस विलक्षण समन्वय को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर 'छायावाद' तक के हिन्दी साहित्य के विकास में देखा जा सकता है। **निराला** पहले ऐसे समर्थ कवि थे जिन्होंने **छायावाद** की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुये एक नये यथार्थवादी काव्य का सूत्रपात किया, जिसकी अगली सशक्त कड़ी हमें **प्रगतिवाद** में दिखायी देती है। लेकिन स्वयं **निराला** और उनसे कुछ कम **प्रसाद** भी अपने गद्य साहित्य (उपन्यासों) में यथार्थवाद की ओर अधिक रुझान प्रकट करते हैं। इसे भी गद्य की अपनी आन्तरिक शक्ति और प्रेमचन्द का ही व्यापक प्रभाव कहना चाहिये।

प्रेमचन्द गद्य लेखक थे, शुद्धतम अर्थों में गद्य लेखक, और गद्य को जीवन-संग्राम की भाषा कहा ही गया है। प्रेमचन्द का रचनाकाल भी 'छायावाद' के समानान्तर ही है। लेकिन दिलचस्प बात है कि हिन्दी कविता की मुख्यधारा जव स्वच्छन्दतावादी थी, तभी प्रेमचन्द अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से ऐसे यथार्थवाद का सृजन कर रहे थे जो आज भी हमारे लिये एक मानक वना हुआ है। प्रेमचन्द का यथार्थवाद अकेले हिन्दी अथवा भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही **यथार्थवाद** की स्थिति सूचित नहीं करता, वल्कि अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में वह आज भी तीसरी दुनिया में यथार्थवाद की सर्वोच्च मंज़िल पर

प्रतिष्ठित है। इसलिये नामवरजी के इस कथन में कोई अतियशोक्ति नहीं समझनी चाहिये कि '**1907 से लेकर 1936 तक के भारतीय जीवन का गहराई से किया गया चित्रण यदि किसी एक भारतीय लेखक में मिलता है तो वह प्रेमचन्द हैं, रवीन्द्र, शरत्, इकबाल, भारती या खांडेकर नहीं।**" निस्सन्देह प्रेमचन्द का महत्त्व **तोल्सतोय, गोर्की** और लू-शुन से किसी भी कदर कम नहीं है। हालाँकि यह लिखते हुए मुझे यह भी आभास है कि मैं उन आलोचक-बन्धुओं का कोप-भाजन बन सकता हूँ जिनके आगे भारतीय परिस्थितियों के मूल्यांकन के वक्त सदैव एक 'चीन की दीवार' आ खड़ी होती है।

प्रेमचन्द के यथार्थवाद में अपनी अकूत परम्परा के सभी मूल्यवान तत्त्व समाहित हैं। वे परम्परा के सभी जीवन्त एवं प्रगशील तत्त्वों को लेकर अपनी कृतियों के माध्यम से यथार्थवाद का आगे और भी गुणात्मक विकास करते हैं— और उसे ऐसी मंजिल पर पहुँचा देते हैं कि यह यथार्थवाद इस समूचे उपमहाद्वीप का सर्वाधिक क्रान्तिकारी यथार्थवाद बनकर अपने अध्ययन, विश्लेषण और मूल्यांकन के लिये एक जबर्दस्त चुनौती देता जान पड़ता है।

प्रेमचन्द और उनकी कृतियों से उभरनेवाले यथार्थवाद का अध्ययन और मूल्यांकन उनके लिये एकदम आसान है जो उन्हें सीधे 'आलोचनात्मक यथार्थ-वाद' का लेखक घोषित करके छुट्टी पा लेते हैं। यही नहीं, इनमें से कुछ स्वयं को प्रेमचन्द की परम्परा का विकास करनेवाले 'समाजवादी यथार्थवाद' के रचनाकार घोषित करके समाजवाद की कठोर, कठिन और लम्बी, वास्तविक लड़ाई चुटकी बजाते ही मात्र कागज के हाशियों पर लड़कर 'जीत' का सेहरा बाँध लेते हैं। प्रेमचन्द्र के यथार्थवाद का अध्ययन और मूल्यांकन उनके लिए भी बिलकुल सरल है जो 'वोल्शेविस्ट उसूलों का कायल' जैसे चन्द फ़िकरे और **प्रेमाश्रम**' में बलराज के रूसी-बलगारी क्रान्तियों से सम्बन्धित सम्वादों को लेकर ही अपने मासूम अति-उत्साह में प्रेमचन्द को 'समाजवादी यथार्थवाद' का लेखक सिद्ध करके क़िला फ़तह कर लेते हैं। मुझे लगता है कि ऐसी कोरी 'सैद्धान्तिक' बहसबाज़ी के सहारे बने-बनाये ढाँचों में प्रेमचन्द को ज़बर्दस्ती फ़िट नहीं किया जा सकता। कहीं फ्रेम छोटा पड़ेगा और कहीं स्वयं प्रेमचन्द।

प्रेमचन्द के यथार्थवाद को समझने के लिए, और मैं कह सकता हूँ कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में यथार्थवाद के वास्तवित स्वरूप को समझने के लिये भी, हमें बड़ी गम्भीरता और विनम्रता के साथ प्रेमचन्द की रचनाओं के ही पास जाना होगा। हमें उनके साहित्य के गहरे अध्ययन के वाद, उनकी रचनाओं में से ही मूल्याँकन के प्रतिमान आविष्कृत करने होंगे—जो हमारे यार्थथवाद की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा के भी आधार होंगे। इसके अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं है! और यह काम भी, निस्सन्देह, सामूहिक प्रयासों के जरिये ही मिलकर

किया जा सकता है । जहाँ तक मेरे अपने सीमित अध्ययन और मेरी अत्यल्प क्षमताओं की पहुँच है, मैं न तो प्रेमचन्द को आलोचनात्मक यथार्थवाद का लेखक मान पाता हूँ और न ही उन्हें समाजवादी यथार्थवाद का रचनाकार स्वीकार कर पाता हूँ। **मेरे विचार में प्रेमचन्द का यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद की ओर अभिमुख एक निरन्तर विकसित होता हुआ क्रान्तिकारी जनवादी यथार्थवाद कहा जा सकता है जिसके लिए किसी संज्ञा का उतावलापन अभी शायद ठीक भी नहीं। प्रेमचन्द ने बहुत पहले ही पूँजीवादी आलोचनात्मक यथार्थवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करके एक नयी दिशा के संकेत देने शुरू कर दिये थे।**

आज की विश्व-क्रान्तिकारी-प्रक्रिया के तीन प्रमुख घटक हैं : समाजवादी विश्व समुदाय और पूँजीवादी दुनिया के विकसित औद्योगिक देशों का मज़दूर आन्दोलन तथा तीसरी दुनिया के नव-स्वाधीन देशों और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियाँ। इन तीन शक्तिशाली धाराओं का युद्ध-विरोधी और शान्तिकामी, गठजोड़ ही आज मानव-कल्याण और सामाजिक प्रगति की दिशा में अग्रगति का प्रमुख कारक है। इसी तरह आज के यथार्थवादी साहित्य-कला-आन्दोलन में भी तीन घटक हैं—समाजवादी यथार्थवाद और आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा तीसरी दुनिया के देशों में उभरनेवाला एक नये किस्म का क्रान्तिकारी जनवादी यथार्थवाद; भले ही अभी इसे कोई उपयुक्त नाम नहीं दिया जा सका है।

इस क्रान्तिकारी यथार्थवाद की मात्र स्थिति ही समाजवादी यथार्थवाद की ओर अभिमुख नहीं है, वह सिर्फ समाजवादी यथार्थवाद के साथ अपनी एकजुटता ही व्यक्त नहीं करता, बल्कि उसका लक्ष्य भी अन्ततः समाजवादी यथार्थवाद ही है। समाजवादी यथार्थवाद के अलावा उसके आगे कोई अन्य प्ररिप्रेक्ष्य हो भी नहीं सकता ! !
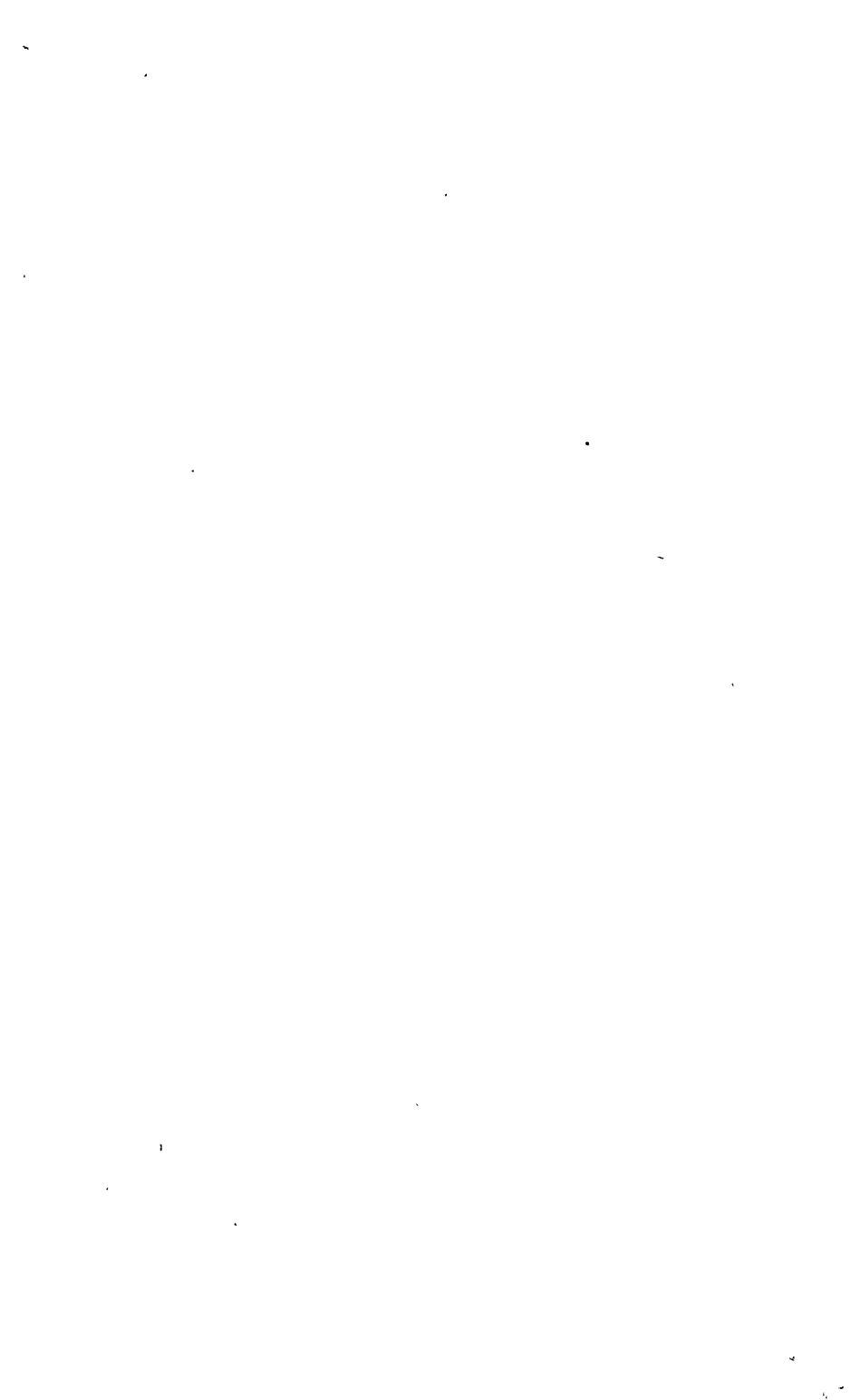
आन्दोलन का बहुत गहरा असर रहा है। इसने एक ओर प्रेमचद, यशपाल और रांगेय राघव जैसे महान कथाकार दिये तो दूसरी ओर निराला, मुक्तिबोध, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन जैसे महान कवि और हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, शिवदानसिंह चौहान आदि समर्थ आलोचक।

हिन्दी लेखन की इन तीनों विधाओं में प्रगतिशील परंपरा को रेखांकित करने का प्रस्तुत प्रयास प्रगतिशील लेखक संघ की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर छह खडों में किया जा रहा है। कहानी और कविता के प्रथम खंडों में स्वाधीनता-प्राप्ति तक के लेखकों और कवियों की रचनाएँ संकलित की गयी हैं और दूसरे खंडों में स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से आज तक के। प्रगतिशील आलोचना के पहले खंड में सैद्धान्तिक आलोचना और दूसरे खंड में व्यावहारिक आलोचना से संबंधित सामग्री संकलित है।

यद्यपि प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़े सभी कहानीकारों, कवियों और आलोचकों को इन संकलनों में समेटा नहीं जा सका है—फिर भी इन तीनों विधाओं की प्रगतिशील परम्परा को रेखांकित करने का एक सफल प्रयास किया गया है।

हिन्दी की प्रगतिशील रचनाधर्मिता को सामने रखने वाले ये छह खंड हिन्दी साहित्य के विकास में प्रगतिशील आन्दोलन के अवदान की एक मुकम्मिल तसवीर पेश करते हैं।